ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली

[कविता के माध्यम के लिए गत सौ वर्षों में ब्रजभाषा और खड़ीबोली सम्बन्धी विवाद की रूपरेखा]

[आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत]

डॉ० कपिलदेवसिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०

भूमिका लेखक

डॉ० रामविलास शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण : मई १९५[illegible]
मूल्य ८)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुजफ्फर खाँ, आगरा।

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक "ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली" डॉ० कपिलदेवसिंह के पी-एच० डी० के लिए किए गए साहित्यिक अनुसन्धान का साकार रूप है। लेखक ने हिन्दी के एक महत्वपूर्ण संघर्ष को प्रकाश में लाने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रकार के युगान्तर उपस्थित करने वाले संघर्ष का हमारी साहित्यिक विवेचना के लिए बहुत अधिक मूल्य है। लेखक ने दार्शनिक प्रणाली से समस्या के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षों को रख के बड़ी गम्भीरता से मनन किया है। दार्शनिक प्रणाली की गम्भीरता भी भाषा की प्राञ्जलता और शैली की सुगमता के साथ सरल और रोचक बन गई है। आधुनिक आलोचक हमारे वर्त्तमान साहित्य की पृष्ठभूमि का सर्वांग चित्र प्रस्तुत पुस्तक में प्राप्त कर अवश्य लाभान्वित होगा।

डॉ० कपिलदेव सिंह को इस सफल प्रयास के लिए हम हार्दिक बधाई देते हैं।

नरेन्द्रदेवसिंह,
शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल०

भूमिका

इस पुस्तक में डॉ० कपिलदेवसिंह ने पिछले सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिये ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इस संबन्ध की आवश्यक सामग्री जहाँ-तहाँ पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है। उसे एकत्र करने में डा० कपिलदेवसिंह ने यथेष्ट परिश्रम किया है। इस विवाद की सामग्री को सुव्यवस्थित करके उसे रोचक और सुपाठ्य बनाना सरल काम नहीं था। लेखक ने धैर्य के साथ विवाद में भाग लेने वालों के तर्क शृङ्खलाबद्ध किये हैं और सारा इतिहास इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि इस विषय से दिलचस्पी न रखने वाले पाठक भी पुस्तक को सरस पायेंगे और उसे मनोयोग से पढ़ सकेंगे।

ब्रजभाषा-खड़ीबोली विवाद से परिचित हुए बिना आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास की समुचित जानकारी नहीं हो सकती। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों ने इस ओर कम ध्यान दिया है। डा० कपिलदेव सिंह की यह पुस्तक हमारे साहित्यिक इतिहास की एक कड़ी पूरी करेगी और इतिहास लेखकों का कार्य सुगम बनायेगी। अपने अध्यवसाय से एक आवश्यक कार्य पूरा करने के लिये वह बधाई के पात्र हैं।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि ब्रजभाषा-खड़ीबोली विवाद शुरू ही क्यों हुआ? इस तरह का विवाद यूरोप या भारत की अन्य भाषाओं में क्यों नहीं दिखाई देता? खड़ीबोली-ब्रजभाषा विवाद का मूलसूत्र यह है कि हिन्दी-भाषी प्रदेश में खड़ीबोली जातीय भाषा के रूप में फैली और क्रमशः उसने गद्य की तरह पद्य से भी ब्रजभाषा को हटाकर साहित्य की एकमात्र जातीय भाषा का रूप लिया। कृष्णभक्ति का क्षेत्र होने के कारण ब्रज-प्रदेश की भाषा को अनेक कवियों ने अपनाया। दरबारों से उसे प्रोत्साहन मिला। संगीत का वह मुख्य माध्यम बनी। ब्रजभाषा के साथ अवधी, मैथिली आदि में भी यथेष्ट साहित्य रचा गया। ब्रजभाषा अपने विकास के मध्याह्न काल में भी ब्रज के बाहर बोलचाल की भाषा नहीं बनी, अवधी और मैथिली के साथ वह एक जनपदीय भाषा मात्र रही जिसमें ब्रज के बाहर के लोग कविता तो करते थे लेकिन उसे घर में या सामाजिक व्यवहार में काम

में न लाते थे। बोलचाल के लिए वह ब्रज में ही प्रयुक्त होती थी। इसके विपरीत खड़ीबोली अपने क्षेत्र से बाहर आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस आदि शहरों में फैली और सामाजिक व्यवहार की भाषा भी बनी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही खड़ीबोली के प्रसार का सम्बन्ध उत्तर की व्यापारी जातियों से जोड़ा है। १६ वीं सदी से उत्तर भारत में व्यापार और उद्योग धन्धों की जो उन्नति हुई, उससे खड़ीबोली का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसी कारण खड़ीबोली हमारी जातीय भाषा बनी। १६ वीं सदी में प्रायः किसी विवाद के बिना वह गद्य का माध्यम बनी। गद्य के लिए किसी ने आग्रह न किया कि ब्रजभाषा का प्रयोग करना चाहिये। यह तथ्य ब्रज और खड़ीबोली के प्रसार का अन्तर बतलाने के लिए यथेष्ट है।

भारत की अन्य जातीय भाषाओं—मराठी, बँगला, तेलगू आदि—की किसी बोली का साहित्य इतना समृद्ध नहीं है जितना हिन्दी की बोली ब्रज का। यही कारण है कि यहाँ इस विषय पर इतना विवाद चला लेकिन अन्य भाषाओं में नहीं चला। फ्रान्स में उत्तरी फ्रान्स की भाषा ने—जो अब फ्रान्स की जातीय भाषा है—दक्खिनी फ्रान्स भाषा की जगह ली। वहाँ भी ऐसा विवाद नहीं हुआ। कारण फ्रान्स का पूँजीवादी विकास गहराई से और तेजी से हुआ; उससे उत्तरी फ्रान्स की भाषा के प्रसार में बहुत सुविधा हुई। इसके विपरीत उत्तर भारत में पूँजीवाद का विकास रुक-रुक कर मुगल और अँग्रेजी शासन की परिस्थितियों में हुआ। इसलिये खड़ीबोली के प्रसार में भी अनेक बाधाएँ बनी रहीं। इस कारण जल्दी खत्म होने के बदले यह विवाद काफी दिन तक चलता रहा।

खड़ीबोली ने पद्य में ब्रजभाषा की जगह ली, इसके मुख्य कारण भाषा-गत या शुद्ध साहित्यिक न होकर समाजगत हैं। हिन्दी-भाषी जनता के जातीय विकास को समझे बिना यह समस्या पूरी तरह सुलझाई नहीं जा सकती। १६–१७ वीं सदी में उत्तरी भारत में व्यापार की मण्डियाँ कायम होना, इन मण्डियों में पछाँह के व्यापारियों की कार्यवाही जिनकी अपनी भाषा खड़ीबोली थी, क्रमशः विभिन्न जनपदों में ब्रज, अवधी आदि की तुलना में व्यापारी-सम्बन्धों के साथ खड़ीबोली का उभरना और जनपदों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम बनना—यह सब हमारे जातीय गठन की प्रक्रिया था। यहीं से हिन्दी को वह अजेय शक्ति मिली जिससे वह ब्रज-भाषा जैसी समृद्ध साहित्यिक भाषा को हटाकर अपने ऊबड़खाबड़पन के बावजूद कविता का माध्यम बनी।

जिस समय खड़ीबोली को कविता का माध्यम बनाने का प्रथम प्रयास किया गया, उस समय वह प्रयास बचकाना और अनिवार्य रूप से असफल होने वाला लगता था। हिन्दी के गएयमान्य नाम व्रजभाषा के समर्थकों में थे। उस समय पूर्ण विश्वास के साथ जिन विद्वानों ने खड़ीबोली का समर्थन किया, वे वन्दनीय हैं। अल्प संख्या में होते हुए भी उन्होंने हमारे जातीय विकास की एक समस्या को बहुत सही समझा था। कोई भी प्रगतिशील जाति गद्य और पद्य में दो भाषाओं या बोलियों का व्यवहार नहीं करती, यह तथ्य उन्होंने समझ लिया था। परम्परा और रूढ़ि के दास न होकर उन्होंने साहस के साथ युग की माँग को पहचाना और उसे पूरा करने का प्रयत्न किया। आरम्भ में बहुत से आन्दोलन बचकाने लगते हैं लेकिन यदि वे अभ्युदयशील शक्तियों के हित में होते हैं तो वे आगे चलकर विजयी होते हैं। सत्ताधारी वर्ग अपने रोबदाब से दिखलाता है कि भविष्य उसी का है लेकिन यदि वह पतनशील है तो रोबदाब कुछ काम नहीं देता, उसकी शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती जाती है और एक दिन उसका अस्तित्व भी नहीं रहता। व्रजभाषा-खड़ीबोली विवाद में पहले व्रजभाषा का पक्ष बड़ा सबल मालूम होता था। साहित्यकारों के "वोट" लिये जाते तो व्रज-पक्ष की विजय होती। लेकिन सामाजिक विकास का तकाजा कुछ और था। भारतेन्दु युग के बाद खड़ीबोली का पक्ष और प्रबल हुआ और कुछ दिनों तक दोनों दलों में शक्तिसन्तुलन सा रहा। लेकिन छायावादी कवियों ने अपने व्यवहार से खड़ीबोली को कविता के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया; नये साहित्य प्रेमियों की पीढ़ी ने उसे सहर्ष अपनाया और खड़ीबोली का पक्ष अधिक शक्तिशाली हो गया। पं० पद्मसिंह शर्मा के बाद व्रजपक्ष के लोग आत्मरक्षा की चिन्ता ज्यादा करने लगे; व्रजभाषा कविता का माध्यम होगी, यह आशा उन्होंने छोड़ दी।

मनुष्य अपना इतिहास स्वयं निर्मित करते हैं लेकिन यह कार्य वे किन्हीं वस्तुगत परिस्थितियों में ही करते हैं। पिछले सौ साल की सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों में खड़ीबोली को कविता का माध्यम बनाने के लिये संघर्ष चला। यह संघर्ष एक ओर व्रज-खड़ीबोली के तुलनात्मक गुणदोष विवेचन का रूप लेता था; दूसरी ओर वह काव्य रचना में दोनों पक्षों के कवियों की प्रतिद्वन्द्विता का रूप लेता था। रत्नाकर के बाद इस प्रतिद्वन्द्विता में विजय अधिकाधिक खड़ीबोली के पक्ष को मिली। यद्यपि खड़ीबोली की विजय में सहायक सामाजिक शक्तियाँ मौजूद थीं, फिर भी यह विजय मानव-प्रयास के

बिना नहीं मिली। उसके लिये आलोचनात्मक वाद-विवाद और काव्यरचना दोनों क्षेत्रों में साहित्यकारों को संघर्ष करना पड़ा। सांस्कृतिक विकास में मनुष्य की यह आत्मगत भूमिका हुई। विचारधारा के क्षेत्र में यह संघर्ष न तो अकारण था और न व्यर्थ ही हुआ। यह संघर्ष रूढ़िवादी और प्रगतिशील चिन्तन के बीच की टक्कर था। पुराने विचार आसानी से अपनी जगह छोड़ने के लिये तैयार न थे। साहित्यकारों ने परिश्रम से उन्हें निर्मूल किया और उनकी जगह नये विचार प्रतिष्ठित किये। इस दृष्टिकोण से हम साहित्यिक विवाद चलायें तो वे वितण्डावाद न होकर समाज के लिये हितकर सिद्ध होंगे। इस दृष्टि से हम पुराने साहित्यिक विवादों का अध्ययन करें तो वे बहुत कुछ सार्थक दिखाई देंगे और वर्तमानकाल के लिये शिक्षाप्रद भी होंगे।

खड़ीबोली-ब्रज विवाद का एक परिणाम अच्छा नहीं निकला। वह यह कि हिन्दी के नये कवि ब्रजभाषा की साहित्यिक निधि के प्रति उदासीन रहने लगे और अपनी शब्दावली को ब्रजभाषा से अधिक संस्कृत के ज्यादा अनुकूल बनाने लगे। इससे भाषा दुरूह हुई और उसकी जातीय सरसता कम हुई। यह दुर्गुण पद्य में ही नहीं, बहुत कुछ हिन्दी गद्य में भी है। भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त आदि का गद्य सरस इसलिये है कि वह ब्रज तथा अन्य जनपदीय बोलियों के बहुत निकट है। हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा का काव्य भी शामिल है। वह हमारी सामान्य साहित्य-परम्परा का अंग है। उसके अध्ययन से हिन्दी के सरस जातीय रूप की रक्षा करने में सहायता मिलेगी।

डा० कपिलदेवसिंह ने खड़ीबोली की लोक-कविता के अनेक उदाहरण दिये हैं। उन्होंने हिन्दी कविता की इस लोक परंपरा के महत्व पर उचित जोर दिया है। ध्यान देने की बात है कि यह कविता ब्रज की लोक कविता के बहुत निकट है। हिन्दी की जनपदीय बोलियों के इस सामान्य तत्व को पहचानना और विकसित करना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में ब्रज-खड़ीबोली विवाद के अलावा हिन्दी के विकास, आधुनिक ब्रज की लोक-कविता आदि विषयों पर ऐसी सामग्री है जो साहित्य-प्रेमियों के लिये रुचिकर होगी। मुझे विश्वास है कि हिन्दी पाठक पुस्तक को उपयोगी पायेंगे। आगरा विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस पर पी-एच० डी० की उपाधि देकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया है। आशा है, वे अपनी गुणग्राहकता का ऐसा ही सर्वमान्य परिचय देते रहेंगे।

गोकुलपुरा, आगरा,
१ मई १९५६

रामविलास शर्मा

प्राक्कथन

ब्रजभाषा शताब्दियों तक हिन्दी-काव्य की मान्य भाषा रही। उसको पदच्युत करके जब खड़ीबोली कविता के माध्यम की भाषा बनी, तब ब्रज-भाषा और खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वानों में एक बड़ा ही रोचक और महत्वपूर्ण विवाद हुआ। एक पक्ष ब्रजभाषा की मधुरता तथा उसकी परम्परा में हिन्दू-संस्कृति की रक्षा की दुहाई देकर उसको काव्य में बनाए रखना चाह रहा था ; दूसरा पक्ष तत्कालीन साहित्यिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थिति में काव्य-भाषा के परिवर्तन को अनिवार्य बता रहा था। इस प्रकार एक भाषा (ब्रजभाषा) के त्याग और दूसरी (खड़ीबोली) के ग्रहण से उत्पन्न यह विवाद भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होकर लगभग छायावादी युग के अन्त तक चलता रहा और इसमें हिन्दी के प्रायः सभी तत्कालीन विद्वानों ने भाग लिया। उन लोगों ने अपने-अपने विचारों की पुष्टि में जो-जो तर्क और प्रमाण दिए, उनमें से कतिपय अपवादों को छोड़कर शेष हिन्दी-काव्य साहित्य की सुन्दर समीक्षा बन गए हैं।

इस विवाद की चर्चा हिन्दी साहित्य में हुई तो अवश्य है, पर सम्पूर्णतः एक स्थल पर प्रकाशित करके इस पर विस्तार से विचार करने का प्रयास साहित्यिकों ने अब तक नहीं किया है। इस उपेक्षा के निम्नलिखित प्रधान कारण हो सकते हैं—

१. भाषा में परिवर्तन और विकास की गति अविदित रूप से स्वभावतः चलती रहती है; और भाषा का सम्बन्ध मानव समाज से होने के कारण उसके सामाजिक तथा ऐतिहासिक उलट-फेर का भी प्रभाव उस पर अनिवार्यतः पड़ता है। इसलिए हो सकता है कि विद्वानों ने इस विवाद को अस्वाभाविक समझकर उसको व्यर्थ का महत्व देना उचित न समझा हो।

२. भारतेन्दुकाल में खड़ीबोली काव्यभाषा के लिए अपनाई गई और कड़ा विरोध होते रहने पर भी वह द्विवेदीयुग का पूर्वार्द्ध समाप्त होते-होते काव्य में प्रतिष्ठित हो चली। इससे हो सकता है कि उस पर हुआ दीर्घकालीन विवाद विद्वानों को निरर्थक प्रतीत हुआ

हो। इसीसे भारतेन्दुकालीन विवाद की चर्चा तो हिन्दी साहित्य में देखी जाती है पर शेष विवाद प्रायः उपेक्षित-सा है।

२. इस विवाद में कुछ पक्षपातपूर्ण, संकीर्ण और असंगत विचार भी प्रकट किए गए हैं, जिनसे हिन्दी-काव्य साहित्य तथा उसके कवि लांछित होते हैं। सम्भवतः इन सबको प्रकाश में लाना विद्वानों को रुचिकर न लगा हो।

कारण इसका कुछ भी हो, अब जब कि हम उस 'विवादकाल' से दूर हटते जा रहे हैं, इसका संग्रह साहित्यिक महत्त्व अवश्य रखता है। इस विवाद की उपयोगिता पर एक सज्जन ने २३ अप्रैल, १६०१ ई० के 'बिहार-टाइम्स' में लिखा था कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों को तो इसका परिचय प्राप्त करना अनिवार्य होगा।[1]

किन्तु अब तक इस सम्बन्ध में केवल दो छोटी-सी पुस्तिकाएँ—एक 'खड़ीबोली आन्दोलन' और दूसरी 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली' के नाम से—देखने को मिलती हैं। इनमें 'खड़ीबोली आन्दोलन' में केवल ग्यारह पत्रों का, जो दैनिक 'हिन्दोस्थान' सन् १८८७–८८ ई० में प्रकाशित हुए थे, संग्रह है। इनके संग्रहकर्ता बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री तथा सम्पादक भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र हैं। 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली' (१६७४ वि०) में, 'जलै है वह आगी' ब्रजभाषा है या खड़ीबोली इसको लेकर 'पर्य्यायलोचक' (पर्यालोचक) और 'विचारक' नामधारी दो सज्जनों में जो विवाद हुआ था उसका संग्रह है। उक्त दोनों पुस्तकें काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इनके सिवा सम्पूर्ण सामग्री पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में बिखरी पड़ी है। यदि वह सब की सब एकत्र की जाएँ तो लगभग १००० पृष्ठों का ग्रन्थ तैयार हो जाएगा।

प्रस्तुत निबन्ध उक्त सम्पूर्ण विवाद की चर्चा एक स्थल पर करने का एक छोटा-सा प्रयास है। निबन्ध के नियमों से बँधे होने के कारण उसका

---

1. '........I am bound to say that the whole controversy when published........would indeed be an indispensible guide and material to the future historian of Hindi literature.'

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'विशेष संग्रह' काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त।

केवल संक्षिप्त विवरण ही यहाँ दिया जा सका है। कहीं-कहीं तो उद्धरणों के आधिक्य तथा एक ही भाव की अधिक पुनरुक्ति बचाने के लिए विद्वानों के शब्दों को ज्यों का त्यों न देकर केवल उनके कथन की ओर संकेत कर देना पड़ा है।

अन्य भाषाओं के, प्रधानतः अँग्रेजी के उद्धरण, कतिपय उद्धरणों को छोड़कर जिनका मूल निबन्ध में रखना आवश्यक प्रतीत हुआ, शेष पाद-टिप्पणी में दिए गए हैं।

सहायक-ग्रन्थों की सूची में उन्हीं पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के नाम दिए हुए हैं जिनसे सहायता ली गई है।

इस निबन्ध में कुल नौ अध्याय हैं। इनमें से तीसरे में भारतेन्दु युग, चौथे में द्विवेदी युग और पाँचवें में छायावादी युग में हुए विवाद का संक्षिप्त परिचय पूर्णतया अपने ढङ्ग पर कराया गया है। प्रत्येक युग में जिन मुख्य बातों को लेकर विवाद हुआ है, वे ही बातें उस युग के विवाद के वर्गीकरण का आधार मान ली गई हैं। उन्हीं बातों को विभिन्न शीर्षकों का रूप देकर उन शीर्षकों के नीचे उनसे सम्बन्धित विवाद को उद्धृत किया गया है और साथ-साथ विवाद के औचित्य-अनौचित्य पर अपना विचार भी प्रकट किया गया है। प्रथम अध्याय इस विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उपस्थित करता है। इसमें उन परिस्थितियों का विवेचन है जिनके हटने से ब्रजभाषा स्वयं पतनोन्मुख हो गई थी तथा जो खड़ीबोली को साहित्य के सम्पूर्ण अङ्ग की भाषा बनने के लिए प्रोत्साहन दे रही थीं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह विवाद बहुत कुछ परिस्थितिगत सामाजिक परिवर्तनों को ठीक से न समझने के कारण हुआ है। दूसरे अध्याय में पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य में खड़ीबोली के अस्तित्व की छानबीन करते हुए, भारतेन्दु युग में जो उसको काव्यभाषा बनाने का प्रथम प्रयास किया गया था, उसका दिग्दर्शन मात्र है। छठवें अध्याय में, ब्रजभाषा और खड़ीबोली का भाषा की दृष्टि से मूल्यांकन है। इसमें दोनों भाषाओं की भाषा सम्बन्धी काव्योपयुक्त विशेषताओं को दिखाते हुए यह भी बतलाया गया है कि व्याकरण की दृष्टि से खड़ीबोली का प्रयोग काव्य में क्यों आवश्यक हो गया था। आठवें अध्याय में, काव्य के क्षेत्र में उनकी सफलताओं को दृष्टिगत रखते हुए उनका मूल्यांकन किया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि वर्तमान काल में सामयिक भावों के वहन करने की क्षमता, ब्रजभाषा की समानता में, खड़ीबोली में विशेष है। खड़ीबोली की

इस उपयोगिता ने भी उसको काव्यभाषा बनने में सहायता दी है। सातवें में ब्रजभाषा की आधुनिक लोक-रचनाओं के वर्णन द्वारा यह दिखलाया गया है कि वह 'मृत भाषा' नहीं है बल्कि वह एक जनपदीय जीवित भाषा है और अब भी लाखों मनुष्यों द्वारा वह बोली जाती है। इसलिए उसमें यदि आज दिन भी सरस और स्वाभाविक रचनाएँ हो रही हैं, तो उनका बहिष्कार नहीं होना चाहिए। नवाँ अध्याय उपसंहार का है। इसमें यह दिखलाया गया है कि इस विवाद का प्रभाव हिन्दीभाषा और साहित्य की उन्नति पर क्या पड़ा? अन्त में तीन परिशिष्ट जुड़े हुए हैं। प्रथम परिशिष्ट में एक 'होली' अपने मूलरूप में तथा द्वितीय और तृतीय में दो 'प्रहसन' भाव रूप में जो निबन्ध में यथास्थान बड़े होने के कारण नहीं दिए जा सके हैं, पूरी जानकारी के लिए दे दिए गए हैं। इस प्रकार, इस निबन्ध में इस विवाद का एक संक्षिप्त किन्तु सर्वाङ्गपूर्ण चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया गया है।

इस निबन्ध को प्रस्तुत करने में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

बाह्य कठिनाइयों के अन्तर्गत उस प्रकार की कठिनाइयाँ हैं जो सामग्री को उपलब्ध करने में समक्ष आई हैं। देश में कोई उत्तम संग्रहालय न होने से इस विवाद की सामग्री जो प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुई थी, अंशतः अप्राप्य है। भारतेन्दुयुग की चर्चा में अधिकांशतः पुस्तकों पर निर्भर रहना पड़ा है। द्विवेदीयुग की पत्रिकाएँ खोज-ढूँढ़ के उपरान्त बहुत कुछ प्राप्त हो गई हैं। छायावादी युग की सामग्री अभी सब की सब लभ्य है।

आन्तरिक कठिनाई है, प्राप्य सामग्री को ठीक ढंग से विद्वानों के समक्ष उपस्थित करना; क्योंकि इस विवाद में न तो कोई क्रम था और न विषय और न समय की कोई यथोचित निर्धारित सीमा ही, जिसके आधार पर उसकी कोई रूपरेखा सरलता से बनाई जा सके। फिर सम्पूर्ण विवाद को एक गठित निबन्ध के भीतर इस तरह रखना कि उसकी वर्णन शैली में एक स्वाभाविक प्रवाह आ जाए और साथ ही विद्वानों के मनोभाव और कथन के क्रम में विशृङ्खलता उत्पन्न न हो, सरल प्रतीत नहीं हुआ।

इस निबन्ध की मौलिकता स्वयं सिद्ध है। इस विषय की बिखरी हुई सामग्री को इकट्ठा करके उसको व्यवस्थित और मौलिक निबन्ध के रूप में प्रस्तुत करने का अब तक न कोई शोध कार्य हुआ है और न कोई अन्य पुस्तक ही प्रकाशित हुई है। इस 'विवाद' को प्रस्तुत करने में मुझे अपना मार्ग स्वयं

निर्मित करना पड़ा है।

विषय के प्रतिपादन में ब्रजभाषा और खड़ीबोली की अलग-अलग पाली में खड़े हुए हिन्दी के विद्वानों के प्रति मेरी लेखनी से किसी प्रकार का असम्मान प्रकट न हो, इसका सदैव ध्यान रखा गया है। सम्पूर्ण निबन्ध में एकान्विति एवं सूत्रबद्धता लाने के लिए कहीं-कहीं विचारों की पुनरावृत्ति भी हो गई है।

अब जब कि हिन्दी उन्नति कर रही है और उसके भविष्य को हमें परमोज्ज्वल बनाना है तब इस प्रकार का शोध कार्य जिसमें उसके उत्थान-पतन और परिवर्तन-अपरिवर्तन की कहानी निहित हो उसके इतिहास को सम्पूर्ण बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मैंने इस निबन्ध में बहुत से विद्वानों की सामग्री का उपयोग किया है। उन सब का मैं आभारी हूँ।

गुरुवर डॉ० नरेन्द्रदेवसिंह के प्रति जिनकी देख-रेख तथा निरीक्षण में इस निबन्ध का कार्य सम्पादन किया है, अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

इस कार्य में मुझे जो कुछ भी सफलता मिली है उसका श्रेय आदरणीय डा० रामविलास शर्मा को है। उन्होंने ही मुझे इस शोध कार्य में निरत होने की प्रेरणा दी थी। उनका अमूल्य पथ-प्रदर्शन तथा प्रोत्साहन मुझे निरन्तर प्राप्त होता रहा है। मैं उनका बहुत आभारी हूं। साथ ही साथ मैं डॉ० टीकमसिंह तोमर, श्री श्रीमोहन द्विवेदी को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मेरी पाण्डुलिपि पढ़ने की कृपा की थी।

प्रयत्न करने पर भी छापे सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, इसके लिए मैं क्षमा का प्रार्थी हूँ।

ता० ६ मई १९५६ ई०

विनीत
कपिलदेवसिंह

विषय-सूची

पृ०

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

पहला अध्याय

खड़ीबोली और ब्रजभाषा सम्बन्धी विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रवेश

उन्नीसवीं शताब्दी तक कविता की भाषा व्यापक रूप से ब्रजभाषा थी, और भक्तिकाल से उसी की रसधारा अविच्छिन्न रूप से हमारे साहित्य में प्रवाहित होती रही। खड़ीबोली का साहित्यिक गौरव अठारहवीं शताब्दी तक नगण्य था। गद्य और पद्य में उसका अस्तित्व बना रहने पर भी ब्रजभाषा से उसकी किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता न थी। उन्नीसवीं शताब्दी में जब वह गद्य की सर्वमान्य भाषा बन गई, तब ब्रजभाषा के उस अबाध प्रवाह में रसविक्षेप उत्पन्न हुआ। एक ही साहित्य के भीतर दो भाषाएँ प्रधान हो गईं। गद्य एक भाषा (खड़ीबोली) में, और पद्य दूसरी भाषा (ब्रजभाषा) में लिखा जाने लगा। यह अन्तर लोगों को अस्वाभाविक प्रतीत हुआ, और कुछ साहित्यिकों को असह्य भी। इसीलिए, इस अस्वाभाविक साहित्यिक अन्तर को दूर करने के लिए भारतेन्दु युग के कतिपय कवि अग्रसर हुए और उन्होंने अपनी रचनाएँ खड़ीबोली में प्रस्तुत कीं। खड़ीबोली में रचना करने वाले कवि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद खड़ा करना नहीं चाहते थे, जैसा कि 'एकान्तवासी योगी' की, जो उस समय इस विवाद में खड़ीबोली-पक्ष के समर्थक विद्वानों के लिए 'पताका' का काम दे रही थी, पहली भूमिका में कवि (पं० श्रीधर पाठक) के इन शब्दों से स्पष्ट है :

> 'हिन्दी के प्रेमी पाठक,
> यह एक प्रेम कहानी आपको भेंट की जाती है—निस्सन्देह इसमें ऐसा तो कुछ नहीं जिसे यह आपको एक ही बार में अपना सके, अथवा आपके इस नित्य नवीन रसान्वेषी मनोमधुप को सहज ही लुभा सके। केवल दो प्रेमियों के प्रेम का निर्वाह मात्र है—पर हमको और क्या चाहिए ! हम-तुम भी तो एक हिन्दी के प्रेमी हैं, बस यही सम्बन्ध इस भेंट के लिये बहुत है।'

खड़ीबोली की इस रचना को कवि ब्रजभाषा के प्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करता हुआ जो यह कहता है कि 'हम-तुम भी तो एक हिन्दी के प्रेमी हैं' इससे जो ध्वनि निकलती है, उसमें एकता और मिलन की भावना है, द्वन्द्व और संघर्ष की नहीं। साथ ही कवि के इस कथन से कि 'हमको

और क्या चाहिए ?', ब्रजभाषा और खड़ीबोली के प्रेमी पाठकों से प्रेम-निर्वाह की भी उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। किन्तु ब्रजभाषा के प्रेमी कविगण खड़ीबोली की रचना का बराबर विरोध करते रहे। फलस्वरूप ब्रजभाषा और खड़ीबोली सम्बन्धी इस विवाद का जन्म हुआ।

खड़ीबोली के प्रेमी उसका प्रयोग काव्य में इसलिए नहीं चाह रहे थे कि उसमें ब्रजभाषा से आन्तरिक श्रेष्टता तथा सहज काव्य-गुण-सम्पन्नता अधिक थी। कतिपय ऐतिहासिक कारणों से ब्रजभाषा निर्बल पड़ती जा रही थी। उसका विकास गद्य में नहीं हो रहा था। ब्रजभाषा में गद्य लिखा अवश्य गया, पर उसकी बेलि बढ़ी नहीं और न इसकी अब कोई सम्भावना ही शेष रह गई थी। इसके विपरीत, खड़ीबोली का एक परिनिष्ठित रूप गद्य में बन चुका था। तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने भी उसको न केवल हिन्दी-प्रदेश की, अपितु समस्त भारत के परस्पर आदान-प्रदान की सामान्य भाषा बना दिया था। अब वह ऐसी भाषा नहीं थी जिसे नये सिरे से गढ़ना था। इसी से उसके लिए यह सम्भव हुआ कि वह ब्रजभाषा को आसानी से काव्य-क्षेत्र से पदच्युत कर सकी।

इसके अतिरिक्त, ब्रजभाषा के पतन का एक यह भी कारण था कि अब उसकी वे सहायक शक्तियाँ, जिनसे मध्यकाल में वह समुन्नत हुई, विनष्ट हो गई थीं। यदि ब्रजभाषा की सहायक वे शक्तियाँ अब भी वर्तमान होतीं तो ऐसी कोई भी शक्ति नहीं थी जो ब्रजभाषा को काव्य-क्षेत्र से हटा देती।

ब्रजभाषा की सहायक शक्तियाँ तथा उसके पतन का कारण

ब्रजभाषा की तीन प्रधान सहायक शक्तियाँ मानी जाती हैं—[१] कृष्ण-भक्ति [२] राजागण, तथा [३] संगीत। इन्हीं की सहायता से मध्यकाल में उसकी उन्नति हुई तथा वह बहुप्रान्तव्यापी बनी। इनके पतन के साथ उसका भी पतन हुआ, जिसका विवेचन नीचे किया जाएगा।

[१] कृष्ण-भक्ति [वैष्णव धर्म]

भागवत धर्म का प्रचार भारतवर्ष में प्राचीन काल से पाया जाता है। किन्तु बीच में बौद्ध तथा नाथ-सिद्धों के कारण इस धर्म में व्यवधान पड़ गया था। मुसलमानी राजत्वकाल में इसका पुनः जागरण हुआ। इस काल में भक्ति का आन्दोलन क्यों चला, इस पर भिन्न-भिन्न विचार हैं। किसी ने

इसको हिन्दुओं पर हो रहे मुसलमानी अत्याचार की प्रतिक्रिया बताया,[1] तो किसी ने सूफी-सन्तों के प्रेम-काव्य का प्रभाव।[2] विस्तृत रूप में इसके सत्या-सत्य विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं। वस्तुतः तत्कालीन हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। एक ओर पौराणिक धर्म उनमें धर्मगत और जातिगत कठोरता को बनाए रखना चाह रहा था। समाज में ऊँच-नीच का प्रश्न बराबर बना हुआ था। मुसलमानों के देश में आने से यह जातिगत भावना और कठोर होती जा रही थी। दूसरी ओर बौद्ध और नाथ-पंथी उस पौराणिक ढाँचे का अपनी अक्खड़ शैली द्वारा खण्डन कर रहे थे। इन दो विरोधी विचारों के बीच हिन्दू-समाज और धर्म संत्रस्त था। ऐसी स्थिति में समाज एवं धर्म के रक्षार्थ एक मध्यमार्ग की आत्यन्तिक आवश्यकता हो गई थी। इसी आवश्यकता ने उस समय भक्ति-वाद को नवीन शक्ति दी। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य' में इसका विवेचन करते हुए लिखा है—

> '......भक्तिवाद समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था और ऊँचनीच की मर्यादा को स्वीकार करके भी उसकी कठोरता को शिथिल करने में समर्थ हुआ। इनके पास अनन्तशक्ति, ऐश्वर्य और प्रेम के आकार लीलामय भगवान की भक्ति का संबल था। एक बार भगवान की शरण गहने पर नीच से नीच व्यक्ति अनायास भव-सागर पार कर सकता था। इस युग के हिन्दू गृहस्थ के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण निधि थी।'[3]

ईश्वर तक पहुँचने का वह मार्ग जिसे पौराणिक धर्म ने शूद्रों, स्त्रियों आदि के लिए बन्द कर रखा था, अब सबके लिए खोल दिया गया। ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने में जाति-पाँति, ऊँच-नीच का बंधन नहीं रह गया। तुलसीदास ने ललकार कर कहा—

'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारौं न सोऊ॥

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ७३

२. 'हरिऔध'—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० २०२, ३

३. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, १९५२ ई० पृ० १०१, २

'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहो कछु ओऊ ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो, लैबे के एक न दैबे को दोऊ ॥'[१]

इसी प्रकार 'सूर' ने भी धर्म के पुजारी ब्राह्मणों की, तथा उनके 'ब्रह्मवाद' की ऊँची कल्पना की खूब मीठी चुटकी ली—

'आए जोग सिखावन पांड़े
परमारथी पुरानन लादे ज्यों बनजारे टांड़े ।'[२]

कहने का तात्पर्य यह है कि इन भक्त कवियों के मानवतावादी दृष्टिकोण ने ईश्वरोपासना को उसके लीला-गान और ऐकान्तिक प्रेम साधना द्वारा सबके लिये सरल बना दिया । उसने ऊँच-नीच के बन्धन को ढीला करके हिन्दू-मात्र को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया । परिणामस्वरूप, यह भागवत धर्म देश में सर्वत्र फैला । हिन्दुओं को एक दूसरे के निकट लाने में जितना यह धर्म सफल हुआ, कदाचित उतना सफल अन्य कोई धर्म या प्रयास नहीं हुआ था । इसी से 'ग्रियर्सन' ने कहा था, 'हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है ।'[3] इस भक्तिधर्म के भीतर कृष्णभक्ति का वेग अपनी माधुर्य उपासना की अधिकता के कारण और भी प्रबल था । कृष्णभक्ति के प्रवाह से हिन्दुओं की तो क्या उस समय मुसलमान तक नहीं बच सके । 'ताज' ने पुकार कर कहा 'नन्द के कुमार कुरबान तांड़ी (त्वाड़ी) सूरत पै, तांड़ (त्वाड़) नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं ।'[४] मियाँ 'रसखान' ने तो यहाँ तक इच्छा प्रकट की 'मानुस हौं तो वही 'रसखान' बसौं मिल गोकुल गाँव के गुवारन ।'[५]

कृष्णभक्ति की इस मधुर उपासना की पद्धति को प्रतिष्ठित करने वाले ब्रजमण्डल के प्रधान आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य थे । उन्होंने कृष्णभक्ति का वह स्रोत प्रवाहित किया जिसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को आनन्दमग्न कर दिया । इस स्रोत का केन्द्र बना मथुरा-वृन्दावन । यहीं की स्निग्ध भाषा में

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—कवितावली, १९८८ वि०, पृ० २६३
२. रामचन्द्र शुक्ल—भ्रमरगीत, पंचम संस्करण, पृ० १३
३. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, १९५२, पृ०-८७-८८
४. हरिऔध—संदर्भ सर्वस्व, १९४३, पृ १२३ ।
५. राजेन्द्रप्रसाद—साहित्य, शिक्षा और संस्कृति, १९५२, पृ० १००

धर्माभिभूत साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ। सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने प्रमोन्मत हो राधा-कृष्ण की भक्ति का वह रस उड़ेला कि फिर जहाँ-जहाँ कृष्णभक्ति का प्रचार हुआ वहाँ-वहाँ उसके 'सहवास से सुवासित होकर ब्रजभाषा भी समादृत हुई।......न तो पंजाब इस प्रवाह में पड़ने से बचा, न बिहार, न मध्यप्रान्त।'[1] हिन्दी क्षेत्र की तो बात ही क्या थी, जब कृष्ण-भक्ति की इस विशाल सरिता की एक धारा राजस्थान के रेगिस्तान में पहुँची तो वहाँ के कृष्णोपासक भक्तकवि—भक्तिमती मीरा, कृष्णदास पैहारी, नागरीदास, हितवृन्दाबनदास, ब्रजनिधि आदि ने ब्रजभाषा में ही भजन गाए और चूँकि श्रीकृष्ण के मुख की भाषा यही थी, इसलिये भक्तकवियों ने इसको 'देववाणी' से भी श्रेष्ठ समझा—

'सुरभाषा तें अधिक है, ब्रजभाषा सों हेत।
ब्रजभूषण जाको सदा, मुखभूषण करि लेत ॥'[2]
—समरथ कृत रसिकप्रिया की टीका संवत् १७५५

इन भक्त कवियों के अतिरिक्त राजस्थान के निर्गुणोपासक—दादूपंथ, रामसनेही पंथ, चरणदासी पंथ, निरंजनी पंथ के संत कवियों ने भी अधिकांशतः ब्रजभाषा को ही गौरव प्रदान किया। यहाँ तक कि मरु-भारती पिंगल (ब्रजभाषा) प्रधान हो गई।

इसी प्रकार जब महाप्रभु चैतन्यदेव द्वारा कृष्णभक्ति की वेगवती लहर बंगाल में उठी तो ब्रजभाषा का प्रभाव हिन्दी से बिलकुल विलग बङ्गला-भाषा पर भी पड़ा। वहाँ के वैष्णव भक्तों ने गेय पदों की रचनाएँ 'ब्रजबुली' के नाम से कीं। अब तक विद्वानों की ऐसी धारणा थी कि यह 'ब्रजबुली' ब्रजप्रदेश के ब्रजभाषा का ही एक परिवर्तित रूप है जिसे बंगाली-वैष्णव वृन्दावन से लाए थे, किन्तु इस स्वीकृत-मत का खण्डन श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त, श्रीसुकुमारसेन आदि विद्वानों द्वारा किया गया है। उन्होंने 'ब्रजबुली' को मैथिली भाषा का रूपान्तर प्रमाणित किया है।[3] बहुत कुछ अंश में बात सत्य होते हुए भी जब स्वयं मैथिली-कविता ब्रजभाषा से प्रभावित है,[4] यह

१. हरिऔध—संदर्भ सर्वस्व, १९४३, पृ० ११४
२. पं० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, १९५२, पृ० १०
३. सुकुमारसेन गुप्त—ए हिस्ट्री आव ब्रजबुली लिटरेचर १९३५
४. जयकान्त मिश्र—हिस्ट्री आव मैथिल लिटरेचर

नहीं कहा जा सकता कि बंगभाषा का वैष्णव साहित्य ब्रजभाषा से बिलकुल अछूता रहा। वैष्णव भक्तों के इन पदों को देखते हुए भारतेन्दु बाबू ने कहा था, 'बङ्गाली विद्वानों में इस विषय में अनेक वादानुवाद हैं, किन्तु हमको ऐसा निश्चय होता है कि इन कवियों ने ब्रज-भाषा में ही कविता करने की चेष्टा की हो तो क्या आश्चर्य है!'[1] श्री सुकुमारसेन गुप्त ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आव ब्रजबुली', १९३५ ई० पृ० १०३ पर वैष्णव भक्त 'कृष्णदास' के पदों के सम्बन्ध में लिखा है कि उनके तीन पद मिश्रित ब्रजभाषा में हैं (There are three poems in mixed Brajbhakha) और इसी प्रकार पृ० १७९ पर 'श्यामदास' के पदों के सम्बन्ध में लिखा है कि उनके पदों पर बहुत कुछ ब्रजभाषा का प्रभाव है (These are more or less tinged with Brajbhakha forms and idioms)। अतः बंगाल, आसाम, उड़ीसा के वैष्णव कवियों की भाषा और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मैथिली भाषा और साहित्य से रहने पर भी ये क्षेत्र ब्रजभाषा की साहित्यिक और सांस्कृतिक सीमा से बाहर न थे।

गुजरात और पंजाब भी ब्रजभाषा के इस प्रभाव से नहीं बच पाए थे। गुजराती भक्त 'नरसी' तथा पंजाब के गुरु 'नानकदेव' के पद ब्रजभाषा से प्रभावित हैं। पंजाब केशरी गुरु 'गोविन्दसिंह' का दशम-ग्रन्थ तो ब्रजभाषा की रचनाओं से पूर्ण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृष्ण-उपासना से लगी हुई ब्रजभाषा देश-व्यापिनी हो गई थी। वैसे भी शौरसेनी, मध्यदेश की व्यापक भाषा रही और यह उत्तराधिकार ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ था। फिर भी ब्रजभाषा ने जितना कृष्ण के जीवन को अपनाया उतना किसी भाषा ने नहीं। बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने 'ब्रजसाहित्य' शीर्षक अपने एक लेख में बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है—

'······ब्रजभाषा का तो उनकी लीला से इतना तादात्म्य हो गया है कि उनके लीलागान से पृथक भी इसका अपना अस्तित्व है, इस बात का ज्ञान केवल इने-गिने कुछ लोगों को ही होगा। ब्रजभाषा की बात कीजिए और तुरन्त सबके मन में 'मैया मैं नहिं माखन खायो' प्रतिध्वनित होने लगेगा। मैं नहीं जानता कि किसी अन्य बोली का भी किसी महा-

१. भारतेन्दु—हिन्दी भाषा, १८९० ई०, पृ० ७

विभूति की जीवनलीला से इतना तादात्म्य है। मेरी जानकारी में तो यह गौरव ब्रजभाषा को ही प्राप्त है।'[1]

कृष्ण-भक्तों को चाहे वे किसी भी प्रान्त के हों, तब तक सन्तोष ही न होता था, जब तक कि वे उनका लीलागान ब्रजवाणी में न कर लें। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर लिखा है—

'......सहृदय भक्तमात्र बिना किसी प्रान्तभेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा में ही भगवान् के सम्मुख आत्मनिवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसीमेहता, चन्डीदास आदि सब मराठी, गुजराती, बंगाली वैष्णव सन्तों ने ब्रजभाषा में अपने हृदय के उद्गारों को प्रकट किया है।'[2]

अतः ब्रजभाषा के देशव्यापिनी होने का सबसे बड़ा हेतु कृष्ण-भक्ति थी—

'ब्रजभाषा भाषा ललित कलित कृष्ण की केलि।
या ब्रजमंडल में उगी ताकी घर - घर बेलि॥
ह्याँ से चहुँदिसि विस्तरी पूरब पच्छिम देश।
उत्तर दच्छिण लों गई ताकी छटा असेस॥'[3]

१७ वीं शताब्दी के उपरान्त जब धर्म की स्थिति दयनीय होती गई और विलासिता और रूढ़िवाद ने उसके शुद्ध प्रवाह को रुद्ध कर दिया, तब ब्रजभाषा में भी शिथिलता का प्रवेश हुआ। राधा-कृष्ण के जिस दिव्य प्रेम की गंगा को मध्व, विष्णु, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्यों ने जन समाज में बहाकर उनके हृदय को प्रफुल्लित एवं पवित्र किया था, वही धीरे-धीरे राज दरबारों में सिमट कर वासनाओं की तृप्ति की वस्तु बन गई। 'राधा गोविंद सुमिरन का बहाना' किया जाने लगा। श्री विट्ठल जी की मृत्यु के उपरान्त उनकी सन्तान ने, जो सात गद्दियाँ—गोकुल, कामबन, काँकरौली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, बम्बई, काशी स्थापित कीं, इन पर भी तत्कालीन विलासिता

१. राजेन्द्रप्रसाद—साहित्य, शिक्षा और संस्कृति, १९५२, पृ० ९८
२. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—मकरन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ११७
३. सम्मेलन पत्रिका, भाग १३ अङ्क ४ : ५ सम्वत् १९८२ पृ० १४३

और वैभव का अभिशाप पड़ा। डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाल की भूमिका' में लिखा है कि इन लोगों ने जनता में जाकर कृष्णभक्ति का प्रचार कार्य बन्द कर दिया। इनका सम्बन्ध राजा और श्रीमानों से बढ़ने लगा और उन्हीं को शिष्य बनाने के लिए लालायित रहने लगे। अब जनता की पूछ नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म में शिथिलता तो आई ही साथ-साथ ब्रजभाषा का स्वाभाविक और स्वच्छन्द विकास भी रुक गया।

इसी बीच में हमारा सम्बन्ध १८वीं शताब्दी से अंग्रेज़ों से भी हो गया था। इस सम्पर्क तथा देश की नवीन राजनीतिक परिस्थिति में खड़ीबोली के विकास का इतिहास छिपा हुआ था। बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना, १६वीं शताब्दी समाप्त होते-होते, खड़ीबोली की समुन्नति का कारण बन गई। अब भी यदि उक्त भक्तिवाद जारी रहता तो कदाचित ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली नहीं ले सकती थी।[1] भारतेन्दु युग के कविगण नवीन भावनाओं से उद्‌बुद्ध हो ब्रजभाषा में रचनाएँ करते रहे। किन्तु 'गोकुल के गोरस में पली-खिली' ब्रजभाषा आधुनिक युग के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि तापों को सहन करने में असमर्थ थी। इसी से विवश हो उसको अपना स्थान खड़ीबोली के लिए रिक्त करना पड़ा। ब्रजभाषा के साथ यह कोई नवीन घटना नहीं थी। यही अवस्था पाली की भी हुई थी उसका भी उत्थान-पतन बौद्ध-धर्म के साथ-साथ ही हुआ था। इसलिए, यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि ब्रजभाषा साहित्य-क्षेत्र से उसी समय से हटने लग गई थी, जिस समय से भागवत धर्म का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ था। धार्मिक जोश ठंढा पड़ने के साथ-साथ ब्रजभाषा भी ठंढी पड़ती गई और काव्य-क्षेत्र में उसे बनाए रखने की प्रत्येक प्रकार की चेष्टा व्यर्थ हुई।

[२] राजागण

ब्रजभाषा की दूसरी प्रधान सहायक शक्ति थी—राजदरबार, जहाँ उसको संरक्षण प्राप्त था। भक्तिकाल में वह सुअवसर अवश्य आया था जब हमारे साहित्य और साधारण जन-समुदाय में सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ था। किन्तु मुगलों के व्यवस्थित शासन में जब देश ने सुख और शाँति की साँस ली तो राजदरबार पुनः एक बार वैभव से जगमगा उठे। प्रत्येक प्रकार की कलाओं के वे आकर्षण केन्द्र बन गए। काव्य-कला भी जन-समाज से उठ-

---

१. रामनारायण चतुर्वेदी—ब्रजभाषा की आशा, १६३५ ई०

कर वहीं पहुँची। दरबारी कवि बनाना उस समय कवियों के लिए एक बड़े गौरव और सम्मान की वस्तु बन गई। इसके साथ ही किसी श्रेष्ठ कवि को आश्रय देने के लिए दरबार भी इच्छुक और लालायित रहने लगे, क्योंकि इससे उनके वैभव का विशेष प्रदर्शन होता था। सम्राट अकबर का दरबार कवि 'गंग', और 'रहीम' ऐसे हिन्दी के उच्चकोटि के कवियों से सुशोभित था। अकबरी दरबार की देखा-देखी अन्य रईस, नवाब और राजे भी हिंदी-कवियों को आश्रय देने लगे। इन राजदरबारों के पास साहित्यिक मनोविनोद के लिए समय भी था। दूसरे, इन्हीं को प्रसन्न करके कवियों को धन और यश कमाने की आशा भी थी। अतः राजदरबारी कवि बनने की एक प्रथा सी चल निकली। रीतिकाल के प्रायः सभी कवि किसी न किसी दरबार के आश्रित थे। इस काल के कुछ श्रेष्ठ कवि, जैसे 'बिहारीलाल' जयपुर दरबार के, 'मतिराम' बूँदी दरबार के, 'भूषण' पन्ना दरबार के, 'देव' अनेक रईसों के, 'भिखारीदास' प्रतापगढ़ दरबार के, 'रघुनाथ' काशी दरबार के, 'बेनी' कृष्णगढ़ दरबार के अधीन थे। इन दरबारों में ऐहिक सुखोपभोग का दौर-दौरा होने से हिन्दी साहित्य वहाँ पहुँचकर आपादमस्तक जिस रंग में रँगा वह सर्वविदित है। उस समय की दरबारी कविता का लक्षण बताते हुए 'गुलाल' कविने जो युक्ति दी है, वह इस प्रकार है :

> 'उकति अनूठी आवे ललित नवीन पद,
> आखर जमावे आछे अमल सुढ़ार में।
> अरथ अनूप रूप रस दरसावे पर,
> वादना बनावे विश्व विविध विचार में॥
> कहत 'गुलाल' छंद आभरण राखै और,
> अति रस भाखै पति बनिता विहार में।
> पूछे कहि आवै औ कहे पै गहि आवै वेगि,
> सो कवि कहावै छबि पावै दरबार में॥'[1]

उनकी कविताएँ केवल दरबार में छबि पाने के लिए हुआ करती थीं। इनको जन-समाज की भावनाओं से कोई मतलब नहीं रहता था। फिर भी उस साहित्यिक संकट-काल में जब कि फारसी राजभाषा थी, उन राजदरबारों

---

१. पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ, कार्य विवरण, दूसरा भाग, १९७१ वि०, पृ० २८

ने ब्रजभाषा की जो प्रतिष्ठा की और प्रोत्साहन दिया, वह सर्वथा प्रशसनीय है। उस समय उन लोगों ने हिन्दी-साहित्य के दीपक को बुझने से बचा लिया था। इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं ने एक स्थल पर लिखा है कि 'यदि वैष्णवता और राजाओं की सहायता न होती तो हमारा साहित्य आज बड़ी ही शोचनीय अवस्था में होता।'[1] यह अक्षरशः सत्य है।

किन्तु, अँग्रेजी साम्राज्य के विस्तार ने युगान्तर उपस्थित किया। सन् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के बाद बिहार, सन् १८०३ ई० में मरहटों के पतन के बाद गंगा-जमुना का क्षेत्र उनके हाथ आ गया। सन् १८२६ ई० में भरतपुर, सन् १८४९ ई० में द्वितीय सिक्ख युद्ध के फलस्वरूप पूरा पंजाब उनके अधीन हो गया। सन् १८१८ ई० तक राजपूताना के राजागण भी अँग्रेजी सत्ता स्वीकार कर चुके थे। रहा-सहा अवध सन् १८५६ ई० में अँग्रेजी राज्य में विलीन कर लिया गया। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल तक सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र अँग्रेजों के प्रभुत्व में आ गया। बड़े-बड़े राजदरबार उजड़ गए। कवियों को आश्रय देने वाले राजागण स्वयं आश्रित हो गए। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन से ब्रजभाषा को गहरा धक्का लगा। उसको गौरव प्रदान करने वाली शक्ति विलुप्त हो गई। इतना ही नहीं, इन दरबारों, प्रधानतः मुग़ल-दरबार (साम्राज्य) के नष्ट होने पर, 'फारसी' जो देश में छाई हुई थी, उसको भी धक्का लगा और उसका प्रभाव दिन-दिन कम होता गया। परिणामस्वरूप जन-साधारण की भाषा (खड़ीबोली) को आगे बढ़ने का सुअवसर मिला। अतएव इस राजनीतिक परिवर्तन ने अब जिस भाषा को उठाया तथा देश का सम्पूर्ण उथल-पुथल जिस भाषा के माध्यम से होने लगा, वह थी 'खड़ीबोली'। फलतः साहित्य क्षेत्र से ब्रजभाषा का हटना निश्चित सा हो गया।

[३] संगीत

ब्रजभाषा के प्रचार-प्रसार में संगीत का भी हाथ कम नहीं था। ब्रजभाषा की-सी सरलता, कोमलता, माधुरी तथा ललित पदावली अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इसी विशेषता से संगीत में उसका खूब मान हुआ। गान-विद्या-विशारदों ने उसी को प्रधानता दी। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है

१. श्यामविहारी व शुकदेवविहारी मिश्र—पुष्पांजलि, प्रथम खण्ड, १९१५ ई०, पृ० २३६

कि 'मधुरतम् संगीत-कला को भी अपने में और अधिक माधुर्य बढ़ाने के लिए जिस भाषा की शरण लेनी पड़ी, वह ब्रजभाषा है'।[1] यहाँ तक कि मध्यकाल में ब्रजभाषा और संगीत का सम्बन्ध अभिन्न हो गया था। उस समय का प्रायः सम्पूर्ण वैष्णव साहित्य राग-रागनियों में लिखा गया। ब्रजभाषा का स्वागत संगीत के सहयोग से राजदरबारों में भी हुआ। कितने मुसलमान बादशाहों तथा नवाबों के दरबार में ब्रजभाषा का प्रवेश केवल भारतीय संगीत का आनन्द लेने के लिए हुआ था। किन्तु, जब वैष्णवता का प्रचार रुका और ये दरबार उजड़ गए, तब संगीत की भी अवनति होने लगी। दूसरे, अँग्रेजों की भयावह व्यापार-नीति से देश बेरोज़गार होता जा रहा था। दारिद्र्य और रोग-शोक से जनता पीड़ित होने लग गई थी। इस सम्बन्ध में पं० बालकृष्ण भट्ट ने दिसम्बर, १९०० ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में १९ वीं शताब्दी का सिंहावलोकन करते हुए '१९ शताब्दी का आदि और अन्त' शीर्षक लेख में लिखा था कि 'अन्त इस शताब्दी का जैसा कर्रा बीता वैसा हम समझते हैं कभी न रहा होगा। किसी तरह की पीड़ा और कष्ट बच न रहा, जिसे यहाँ की प्रजा भोग न रही हो, ईश्वर करे ऐसे बुरे दिन किसी के न आवें।'[2] इस प्रकार देश की स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। भला ऐसी परिस्थिति में संगीत किसको सुहाता। अतएव, संगीत के ह्रास के साथ-साथ ब्रजभाषा भी लोगों के हृदय से दूर पड़ती गई।

खड़ीबोली की बलवर्द्धक शक्तियाँ

[क] १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में :

[१] अंग्रेज-कर्मचारियों की शिक्षा : एक ओर जिन ऐतिहासिक कारणों से ब्रजभाषा निर्जीव होती जा रही थी, दूसरी ओर उसी प्रकार के अन्य ऐतिहासिक कारण खड़ीबोली को बल दे रहे थे। जब मुसलमान-सुल्तानों का आधिपत्य दिल्ली पर हुआ, तब मेरठ-दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली खड़ीबोली को ही प्रधानता मिली। यद्यपि राजकीय व्यवहार की भाषा उनके राज-काल में अन्त तक फारसी ही बनी रही, फिर भी राज-काज और व्यापार आदि में हिन्दुओं और मुसलमानों ने परस्पर विचार-विनिमय

---

१. किशोरीदास वाजपेयी—ब्रजभाषा का व्याकरण, सम्वत् २००० वि० पृ० ९४

२. हिन्दी प्रदीप : नवम्बर, दिसम्बर, १९०० ई०, पृ०, ३१

के लिये वहाँ की स्थानीय भाषा (खड़ीबोली) को ही अपनाया। मुसलमानी राज के देश में फैलने के साथ-साथ खड़ीबोली का भी प्रचार बढ़ा और वह देश के प्रधान नगरों में शिष्ट समुदाय के बोलचाल की भाषा बनती गई। अंग्रेजों ने जब हिन्दी-प्रदेश पर अधिकार किया तो हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की आधारभूत इसी खड़ीबोली का सर्वत्र चलन था। इसकी व्यापकता और प्रधानता के सम्बन्ध में कुछ विदेशी विद्वानों के विचार द्रष्टव्य हैं। मि० जान शेक्सपीयर (John Shakespear) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मिलिट्री सेमिनरी में ओरियन्टल भाषा के प्रोफेसर थे। अंग्रेजों को भारत की भाषा सीखने के लिये उन्होंने 'ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज,' सन् १८२६ ई० में लिखी थी। इसमें उन्होंने तत्कालीन भाषा के सम्बन्ध में लिखा है कि 'जो भाषा व्यापक रूप से भारतवर्ष में व्यवहृत है वह भिन्न-भिन्न नामों—उर्दू, रेखता, हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी—से पुकारी जाती है।'* इसी प्रकार एक अन्य महोदय, मि० डंकन फोरब्स (Duncan forbes) किंग्स कालिज, लंदन में ओरियन्टल लंग्वेज़ एण्ड लिटरेचर के प्रोफेसर थे। आपने भी विलायती साहबों को भारतवर्ष की भाषा सीखने के लिये 'ए ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज़,' सन् १८५५ ई० में लिखी थी, जिसमें आपने लिखा है कि 'जिस हिन्दुस्तानी भाषा को सीखने के लिये इस ग्रामर की रचना की गई है वह देश की सबसे उपयोगी तथा प्रचलित भाषा है।'**

---

* "The dialect most generally used in India, especially among the Mohammadan inhabitants, the officers of the Government and military, is called Urdu (camp) or Urdu zaban (camp language), which seems to have been its first and most appellation: but, it is also termed rekhta (scattered) on account of the variety of languages interpersed in it……it is moreover called Hindi and Hindustani."

John Shekespear : Grammar of the Hindustani Language, 1826, page 1-2

** "The following work has been compiled with a view to enable every one proceeding to India to acquire a fair knowledge of the most useful and most extensively spoken language of that country."

Duncan Forbs : A Grammar of the Hindustani Language, 1855, page 1 (preface)

अतः अंग्रेजों ने देश में प्रचलित जिस 'हिन्दुस्तानी' को सीखना प्रारम्भ किया वह शिष्ट समुदाय में व्यवहृत वही खड़ीबोली थी। यह उक्त ग्रामर की दोनों पुस्तकों में जो कहानियाँ[१] विदेशियों को यहाँ की भाषा सीखने के सम्बन्ध में फारसी और नागरी लिपियों में दी हुई हैं, उनसे और भी स्पष्ट हो जाता है।

किन्तु इस 'हिन्दुस्तानी' पर कुछ विद्वानों को सन्देह है। डा० लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भाषा नीति की आलोचना करते हुए बताया है कि कम्पनी ने जिस 'हिन्दुस्तानी' को अपनाया था वह 'आमफ़हम' हिन्दु-स्तानी (हिन्दी) नहीं थी, वरन् वह अरबी-फारसी मिश्रित 'खासफ़हम

[क]...फिर कहने लगा कि जिन्होंने बालकपन में विद्या न पढ़ी और जवानी में काम से आतुर हो जौवन के गर्व में रहे सो वृद्धकाल में पछता कर हिर्स की आग में जलते हैं यिह बात सुन उन चारों ने आपस में विचार कर कहा कि विद्याहीन पुरुष के जीने से मर्ना भला है इससे उत्तम यिह है कि विदेश में जाकर विद्या पढ़िये।

(नागरी और फारसी दोनों लिपियों में)

जान शेक्सपीयर—ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज, १८२६ ई०,
पृष्ठ १४८ और १५०, १५१

[ख] मनोहर कहानियाँ सुगम बोली में

एक कायथ और उसका गुलाम दोनों एक घर में सोते थे। लाला ने कहा, रामचेरा! देख तो पानी बरसता है यां खुल गया। उसने कहा बरसता है। पूछा तू किस तरह जानता है? तैं तो पड़ा सोता है। कहा बिल्ली आई थी, उसको मैंने टटोला था, भीगी थी। कहा चिराग बुझा दे। कहा मुँह ढाप के सो रहो, अँधेरा हो जायगा। फिर कहा दरवाजा बन्द कर दे। कहा भय्याजी! दो काम हमने किये, एक काम तुम करो। गरज ऐसा सुस्त था, आखिर न उठा, पड़ा-पड़ा जवाब देता रहा।

(नागरी और फारसी दोनों लिपियों में)

डंकन फोरबूस—ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज, १८५५ ई० पृष्ठ १

हिन्दुस्तानी या उर्दू थी।[1] डा० वार्ष्णेय का यह मत मान्य होते हुए भी उनका उक्त निर्णय केवल फोर्ट विलियम कालिज की कार्रवाइयों पर ही निर्भर दिखलाई देता है। इस कालिज की तो नींव ही इसलिए रखी गई थी कि कम्पनी के कर्मचारियों को फारसी, जो कि उस समय यहाँ की अदालती भाषा थी, अच्छी प्रकार आ जाय।[2] 'हिन्दुस्तानी' को यदि किसी प्रकार का प्रोत्साहन उससे मिला है, तो वह 'हिन्दुस्तानी' उस खड़ीबोली से भिन्न भाषा नहीं थी जिसके सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ीबोली व्यवहार की शिष्टभाषा हो चुकी थी।'[3] उस समय की इस शिष्टभाषा में कम से कम २५–३० प्रतिशत अरबी-फारसी के शब्द अवश्य रहे होंगे। फिर फोर्ट विलियम की अरबी-फारसी से युक्त 'हिन्दुस्तानी' को देखकर चकित होने की कोई बात ही नहीं दिखलाई देती। उस समय अन्य भारतीय भाषाओं का भी यही हाल था। १६वीं शताब्दी की बंगला भाषा के सम्बन्ध में श्री राजेन्द्रलालमित्र ने लिखा है कि बंगला भाषा में अरबी-फारसी तथा अन्य विदेशी शब्द ३० प्रतिशत से कम मिले हुए नहीं थे, फिर भी यह बंगलाभाषा ही मानी गई है—

> "In Bengal the language of the courts contains no less than 30 per cent of Arb, Persion and other foreign words, and still is acknowledged to be Bengali."
> —Rajendra Lal Mitra : Indo-Aryans Vol. 2, 1881, Page 325

परन्तु किसी ने ठीक लिखा है कि 'हिन्दुओं की निकालने और किवाड़ बन्द करने की पद्धति प्राचीन है।' इसी से वे क्षीणकाय होकर अपने किए का फल भोग रहे हैं। उर्दू स्वयं खड़ीबोली की एक शैली है। खड़ीबोली से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। किसी भाषा की जाति निर्धारित करने में

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९५२ ई०, पृ० ३०५, ३१५-३१७

२. चन्द्रबली पान्डे—कचहरी की भाषा और लिपि, १९९६ वि०, पृ० ४३

३. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ४९०

उस भाषा के क्रियापद ही प्रधान माने जाते हैं न कि उसमें परिस्थिति विशेष से आए हुए विजातीय शब्द ![1]

यहीं पर एक बात और विचारणीय है। अब तक किसी भाषा के केवल दो रूप माने गये हैं। बोलचाल में व्यवहृत रूप तथा उसका साहित्यिक रूप। किसी भाषा का वर्गीकरण उस जनसमुदाय के मनुष्यों की ऊँच-नीच श्रेणी, तथा भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा के आधार पर नहीं होता। भाषा का इस प्रकार का वर्गीकरण दोषपूर्ण है। डा० रामविलास शर्मा ने अपने एक लेख में लिखा है कि 'भाषा का कोई वर्ग आधार नहीं है। पूँजीपतियों की एक भाषा हो, मजदूरों की दूसरी, ऐसा नहीं होता'।[2] इसलिए गाँवों में रहने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा को 'टेठ-हिन्दुस्तानी' पढ़े लिखे लोगों की भाषा को 'अरबी-फारसी-मिश्रित-हिन्दुस्तानी' तथा कचहरियों आदि में काम करने वालों की भाषा को 'मुंशी-हिन्दुस्तानी' मानना समीचीन नहीं दिखलाई देता। मि० गिलक्राइस्ट आदि ने इसी प्रकार की भाषा-नीति से काम लिया है।[3] इसका खण्डन किया जा सकता है; किन्तु हिन्दुस्तानी को चाहे वह 'आमफ़हम' हो या 'खासफ़हम'

---

१ "Pedantic Mauluvis may string together endless series of adjectives and substantives, and even adverbs, but they can never be put in concord without indenting on the services of Hindi verbs, Hindi inflections, Hindi case-marks, Hindi pronouns, and Hindi prepositions. Nothing could be more conclusive than this; the Grammar of the Urdu is unmistakably the same as that of Hindi, and it must follow, therefore, that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect. A variety no doubt it is, differing from the original in having a large admixture of foreign elements, but still a variety of the Hindi."

Rajendra Lal Mitra : Indo Aryan, Vol 2, 1881, page 326-327

२. लेख संग्रह, मार्च १९५३, पृ० २७ [पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई]

३. चन्द्रबली पांडे—कचहरी की भाषा और लिपि, १९९६ वि० पृ० ४४ [पाद टिप्पणी]

हिन्दी [खड़ीबोली] से भिन्न मानना उपयुक्त दिखाई नहीं देता। मूलरूप में हिन्दुस्तानी खड़ीबोली है। उसके दो ही रूप हो सकते हैं—एक साधारण बोलचाल की और दूसरी साहित्यिक शिष्ट समाज में बोली जाने वाली। इसी शिष्ट समाज में बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी में अरबी-फारसी के शब्द मिले-जुले हैं। साधारणतया मि० गिलक्राइस्ट की हिन्दुस्तानी और हिन्दी [खड़ीबोली] में कितना अन्तर था, वह भी देखा जा सकता है—

हिन्दुस्तानी—'एक बार, किसी शहर में, यूँ शुहरत हुई, कि उसके नज़दीक के पहाड़ को जनने का दर्द उटा।'[1]

हिन्दी—'एक समय, किसी नगर में, चर्चा फैली, कि उसके पड़ौस के पहाड़ को प्रसूत की पीर हुई।'[2]

हिन्दी के सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहना है। जिस हिन्दुस्तानी के गले में उर्दू का तावीज़ बाँधा जा रहा है, उसी पर विचार करना है। उपर्युक्त 'हिन्दुस्तानी' के वाक्य में कुल १८ शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिनमें से ५ शब्द—यूँ, शुहरत, नज़दीक, जनने, दर्द को निकाल देने पर भी शेष १३ शब्द अर्थात् ७० प्रतिशत शब्द बोलचाल की खड़ीबोली के प्रयुक्त हुए हैं। यदि फोर्ट विलियम कालिज के अधिकारी उसको उर्दू का वाचक समझते रहे हैं तो उनकी यह भूल हमें मान्य नहीं होनी चाहिए।

इस फोर्ट विलियम कालिज से बाहर निकल कर यदि कम्पनी सरकार की भाषा-नीति का विवेचन करें तो हम देख सकते हैं कि वह 'हिन्दुस्तानी' फारसी-अरबी शब्दों से सब जगह भाराक्रान्त भी नहीं है। उसमें खड़ीबोली के शुद्ध शब्दों का उचित अंश में व्यवहार भी किया गया है। इस पुस्तक के पृष्ठ १५ पर पाद-टिप्पणी में जो दो अवतरण, अंग्रेजों को यहाँ की भाषा सीखने के सम्बन्ध में मि० जान शेक्सपीयर तथा मि० डन्कन फोरबस् की पुस्तकों—'ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज़' से उद्धृत किये गए हैं, क्या उनके खड़ीबोली होने में किसी को सन्देह हो सकता है? जान शेक्सपीयर ने इसी 'ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज़,' १८२६ ई० में क्रियापद के लगभग सात सै शब्दों को दिया है, जिनमें ७० प्रतिशत शब्द बोलचाल की खड़ीबोली के हैं। जैसे—

१ व २. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—फोर्ट विलियम कालिज, २००४ वि०, पृष्ट ११९

उठ	Rise up
उज्ज्वल	Become clear
उद्धार	Liberate
अगोर	Watch
ओट	Defend
विचार	consider
बिसूर	Sob
बेसाह	Buy
तज	Abandon
बिलग	Be separated
बिलोक	Look at
भकोस	Eat
रीझ	Be pleased
खीझ	Angry
मुकर	Deny, आदि[1]

इसके साथ ही अन्य उदाहरण भी शुद्ध खड़ीबोली में दिए हुए हैं। जैसे—

'आपके चिरंजीव रहने में मुझे सुख है।'

"I have pleasure, Sir, in your living a long life"[2]

'जिसका मुख चन्द्रमा सा' "Whose face like the moon"[3]

'बाल घटा सी' 'Hair, like the clouds'[4]

'आखें मृग की सी' 'Eyes like the deers'[5]

इसी प्रकार डंकन फोरब्स की 'ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज (१८५५ ई०) में १५०० शब्दों की एक शब्दावली दी हुई है जिनमें ६० प्रतिशत शब्द बोलचाल की खड़ीबोली के हैं। जैसे,

१. जान शेक्सपीयर—ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज, १८२६ ई०, पृ० १५५-८४

२. वही पृ० ११९

३, ४, ५— वही पृ० ३५

आश	Hope
अहार	Food
विद्या	Knowledg
वृतान्त	Affair
प्रतीत	Trust
प्रशंसा	Praise
प्रसन्न	Pleased
पौर	Door
जन	Person
समाचार	News
चकित	Astonished
कंगाल	Poor
मुख	Mouth
परिश्रम	Labour
वर्ष	Year, आदि[1]

इसी लेखक ने एक 'हिन्दुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी' भी लिखी है जिसमें एक भाग हिन्दी शब्दों का नागरी लिपि में लिखा हुआ है। क्या यह सब इस बात का पूर्ण प्रमाण नहीं है कि कम्पनी सरकार 'हिन्दुस्तानी' के नाम से जिस भाषा का परिचय अपने अङ्गरेज-कर्मचारियों को करा रही थी वह खड़ीबोली के अतिरिक्त दूसरी भाषा नहीं थी? श्री चन्द्रबली पाण्डे ने अपनी पुस्तक 'कचहरी की भाषा और लिपि' में कम्पनी सरकार की भाषा-नीति का विशद विवेचन करते हुए लिखा है कि 'दुर्भाग्यवश हमारे देश में कुछ ऐसे जीव भी निकल पड़े हैं जो इस 'हिन्दुस्तानी' भाषा को उर्दू जबान का वाचक समझते हैं।'[2] कम्पनी सरकार की 'भाषा-नीति' और 'हिंदुस्तानी' अब भी खोज और स्वतंत्र अध्ययन की वस्तु बनी हुई है। यहाँ हमें केवल यह दिखलाना था कि हिन्दुस्तानी के नाम से अंग्रेजों द्वारा जिस भाषा को

१—डंकन फोर्ब्स—ए ग्रामर आव दी हिन्दुस्तानी लंग्वेज, १८५५ ई० पृष्ठ १–४१ (शब्दावली भाग)

२. चन्द्रबली पाण्डे—कचहरी की भाषा और लिपि, १९९६ वि०, पृ० २५

प्रोत्साहन मिल रहा था, वह खड़ीबोली से भिन्न अन्य भाषा नहीं थी। उस समय की हिन्दुस्तानी में जो अरबी-फारसी के शब्दों की कुछ बहुलता दिखलाई देती है उसका भी कारण था। फारसी प्रत्येक अंग्रेज़ कर्मचारी को पढ़नी पड़ती थी। इसलिए हिन्दुस्तानी लिखने बोलने में वे फारसी शब्दों का व्यवहार करते थे। दूसरे, उनको 'हिन्दुस्तानी' का ज्ञान भी थोड़े समय में प्राप्त करना पड़ता था, इसलिए उनकी सुविधा के लिए उस समय की हिन्दुस्तानी की जो पाठ्य पुस्तकें, व्याकरण आदि लिखे जाते थे उनमें फारसी शब्द का प्रयोग किया जाता था। किन्तु, इसीलिए कि उसमें अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है 'हिन्दुस्तानी' को हम उर्दू नहीं कह सकते। फिर उर्दू भी खड़ीबोली की एक शैली है। यदि कम्पनी ने उर्दू को भी प्रोत्साहन दिया हो, तो भी वह मूलतः खड़ीबोली को प्रोत्साहन है।

अतः कम्पनी सरकार द्वारा अंग्रेज़ कर्मचारियों के लिए शिक्षा का जो आयोजन भारत और विलायत में किया गया उससे खड़ीबोली का ही बल बढ़ रहा था।

[२] **देशी शिक्षा :** इसके अतिरिक्त देशी जनता की शिक्षा के लिए जो प्रयत्न सरकारी तथा गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा किए गए, उनसे भी खड़ीबोली को विशेष लाभ पहुँचा। अंग्रेजों को तो वस्तुतः देश में अंग्रेजी का प्रचार करना था, जिसके लिए वे प्रयत्नशील रहे और सन् १८३५ ई० में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी बना भी दी गई। परन्तु १८५४ ई० में 'वुड' का शिक्षा-घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ जिसके अनुसार ग्राम-पाठशालाओं में भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इसका फल यह हुआ कि खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा। व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा सन् १८१७ में 'हिंदू कालिज' (बंगाल), सन् १८१८ में 'जयनारायण स्कूल' (बनारस), सन् १८२४ में 'आगरा कालिज' (आगरा), सन् १८२६ में 'दिल्ली कालिज' (दिल्ली) की स्थापना हुई। इनमें भी हिन्दी-शिक्षा की योजना की गई। इसी बीच में गैरसरकारी संस्थाओं, जैसे 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी' (१८१७ ई०), 'आगरा स्कूल बुक सोसाइटी' (१८३३ ई०), 'नार्दर्न इंडिया क्रिश्चियन टेक्स्ट बुक सोसाइटी' आगरा व बनारस (१८४८ ई०) की स्थापना हुई।[१] इन संस्थाओं ने विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, चिकित्सा

---

१. (क) सैयद नुरुल्ला और नायक—ए स्टुडेंट्स हिस्ट्री आव दी एजुकेशन इन इंडिया, १९४५ ई०

गणित, भूगोल, इतिहास आदि विषयों पर शिक्षा-सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकें लिखवाईं। इस प्रकार शिक्षा सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों पर पाठ्य-पुस्तकों का जो निर्माण खड़ीबोली में प्रारम्भ हुआ वह उसके विकास के लिए एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कदम था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके गद्य की, एक निश्चित दिशा में, उन्नति होने लगी और उसका प्रभाव साहित्य पर बढ़ने लगा।

[३] **ईसाई :** अँग्रेजों का आधिपत्य ज्यों-ज्यों देश में बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनसे लगे ईसाई धर्म-प्रचारक भी देश में फैलते गए। खड़ीबोली के प्रचार में इनका कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण था। जहाँ कम्पनी सरकार उच्च शिक्षा और शिष्ट समाज में बोली जाने वाली भाषा को प्रोत्साहन दे रही थी, वहाँ इन ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा और साधारण बोलचाल की भाषा को प्रोत्साहन मिला। इनके अनेक सम्प्रदाय—'सिरियक', 'रोमन कैथौलिक', 'प्रोटेस्टैंट', 'वापटिस्ट', 'अमेरिकन प्रेसवाइटीरियन' आदि भिन्न-भिन्न काल में देश में आए। धर्म प्रचार के लिए इनकी अनेक मण्डलियाँ बनीं, जिनमें 'जनरल वापटिस्ट मिशन सोसाइटी', 'लन्दन मिशनरी सोसाइटी', 'चर्च मिशनरी सोसाइटी', 'अमेरिकन एपिसकोपल मेथोडिस्ट', 'यूनाइटेड प्रेसवाइटेरियन सोसाइटी' आदि मुख्य हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों को इन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। इन मिशनों ने देशी भाषा में बाइबिलों के बहुत से अनुवाद प्रकाशित कराए। पाठ्य-पुस्तकों, शब्दकोषों तथा व्याकरणों की हिन्दी में रचना कराके ऐसा सराहनीय कार्य किया कि हिन्दी-संसार आज भी उनका उपकृत है। यह सब साहित्य, विशेषकर धार्मिक पुस्तकें, देश में बहुत कम मूल्य पर अथवा निःशुल्क बाँटी जाती थीं। इसका परिणाम खड़ीबोली के प्रचार में बड़ा ही हितकर हुआ।[१]

[४] **प्रेस व समाचार पत्र :** खड़ीबोली-गद्य को प्रस्फुटित करने वाली सबसे प्रबल शक्ति प्रेस और समाचार पत्र थे। प्रेस की स्थापना १८ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बंगाल में हो गई थी, किन्तु इनके पास केवल

(ख) परांजपे—ए सोर्स बुक आव माडर्न इंडियन एजुकेशन, १९३८ ई०

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९५२ ई० पृ० ४४९--४८५

अँग्रेजी अक्षर के टाइप होने से अंग्रेजी के समाचार पत्र और प्रकाशन निकलते रहे। सन् १७६४ ई० में श्रीरामपुर के मिशनरियों ने एक प्रेस की स्थापना की और सर्व-प्रथम नागरी टाइप तैयार किया। 'केरे' की अध्यक्षता में बाइबिल के 'न्यू टेस्टामेंट' का हिन्दी अनुवाद सन् १८११ ई० में इसी प्रेस से प्रकाशित हुआ था। श्रीरामपुर मिशनरियों की देखा-देखी नागरी टाइप बना और अन्य हिन्दी-प्रेस कलकत्ता में स्थापित हुए। किन्तु हिन्दी-प्रदेश में सन् १८३५ ई० के पूर्व प्रेस की स्थापना न हो सकी।

प्रेस के माध्यम से लेखन कला को बड़ी सहायता मिली। प्रत्येक भाषा में पत्रकारिता का जन्म हुआ। हिन्दी का सबसे प्रथम समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' सन् १८२६ ई० की ३० मई को कलकत्ते में कोलूटोला नामक मुहल्ले से प्रकाशित हुआ।[1] यह पत्र साप्ताहिक था। पर्याप्त ग्राहकों के अभाव में लगभग डेढ़ वर्ष निकल कर बन्द हो गया। इसके पश्चात् सन् १८२६ से लेकर भारतेन्दु बाबू के 'कविवचन सुधा' सन् १८६७ में निकलने तक अनेक पत्रों ने जन्म लिया। जिनमें कुछ प्रमुख पत्र हैं—बंगदूत (१८२६), प्रजा-मित्र (१८३४), बनारस अखबार (१८४५), मार्तण्ड (१८४६), ज्ञान-दीप (१८४६) जगद्दीपक भास्कर (१८४६), सुधाकर (१८५०), साम्य-दण्ड मार्तण्ड (१८५०) बुद्धि प्रकाश (१८५२) ग्वालियर गज़ट (१८५३) समाचार सुधावर्षण (दैनिक, कलकत्ता, १८५४), प्रजाहितैषी, सर्वहितकारक (१८५५), सूरजप्रकाश (१८६१), जगलाभचिन्तक (१८६१), सर्वोपकारक (१८६१), प्रजाहित (१८६१), भारत खण्डामृत (१८६४), लोक-मित्र (१८६५), तत्त्वबोधिनी पत्रिका (१८६५), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (१८६६), सत्यदीप (१८६६), वृतांत विलास (१८६७), ज्ञानदीप (१८६७) आदि।[2] भाषा और साहित्य की दृष्टि से ये पत्रिकाएँ उच्चकोटि की नहीं थीं। इनमें से कितनी तो धार्मिक पत्रिकाएँ थीं, जिनका कार्य केवल अपने धर्म का प्रचार मात्र था। फिर भी किसी भाषा के उत्कर्ष और वृद्धि का, उसके पत्र-पत्रिकाओं से घनिष्ट सम्बन्ध होने से, इन पत्रिकाओं द्वारा खड़ीबोली का सर्वत्र प्रचार हुआ, और उसमें प्रत्येक प्रकार के भाव प्रदर्शन की नवीन शक्ति आती गई।

[४] उर्दू : खड़ीबोली को व्यवहार में लाकर भाषा का गौरव-पद

१. विशाल भारत, फरवरी १६३१, पृ० १६१

२. आलोचना—जनवरी, १६५३ ई०, पृ० ३२

प्रदान करने में मुसलमानों का हाथ प्रथम और मुख्य था। प्रारम्भ में उर्दू और खड़ीबोली (हिन्दी) में खास भेद न था। जिस भाषा को हम लोग खड़ीबोली (हिन्दी) कहते हैं उसका स्वरूप और उर्दू का स्वरूप एक ही है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने एक स्थल पर लिखा है 'उर्दू और हिन्दी के बीच कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।' पर दुर्भाग्यवश उर्दू-लिपि फारसी ही रहने से, १८ वीं शताब्दी के उपरान्त उर्दू और हिन्दी दो अलग-अलग भाषाएँ समझी जाने लगीं। साम्राज्यवादियों और सम्प्रदायवादियों ने इस अन्तर को और भी गहरा किया।

अतः उर्दू जो खड़ीबोली की एक शैली है, १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से अपना कुल और गोत्र खड़ीबोली से अलग कर एक स्वतत्र भाषा के रूप में चल पड़ी। इस शताब्दी के पूर्व हिन्दी (खड़ीबोली) और उर्दू का विभिन्न इतिहास नहीं हो सकता। बल्कि हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुई, दक्खिनी, रेख्ता अथवा जबाने-दिल्ली के नाम से खड़ीबोली उत्तर और दक्षिण भारत में हैदराबाद तक फलती-फूलती रही। 'दक्खिनी' में खड़ीबोली की जो रचनाएँ हुई हैं, अथवा 'वली' के 'कलामेंरेख्ता' का परिचय सन् १७२० ई० में उत्तरी भारत के कवियों को हो जाने पर उस काल से लेकर लगभग १९ वीं शताब्दी तक जो रचनाएँ उस परम्परा में इन कवियों द्वारा हुईं उनका संक्षिप्त परिचय दूसरे अध्याय में कराया गया है।

उर्दू का सर्व व्यापक और बहुमुखी विकास १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से प्रारम्भ हो गया था। मीर अम्मन, हैदरबख्श 'हैदरी', मीर शेरअली 'अफसोस', मिर्जाअली 'लुत्फ', मजहर अलीखाँ 'विला', मुहम्मद हुसैन 'कलीम', मिर्जा रजबअली वेग 'सुरूर', ख्वाजा अमान, सरसैय्यद, मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आजाद', ख्वाजा अलताफ हुसैन 'हाली' आदि प्रमुख लेखक उर्दू-गद्य में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। इसके अतिरिक्त 'जामें जहाँ-नुमा' (१८२२), 'देहली उर्दू अखबार' सैयदुल अखबार (१८३७ ई०), 'खैरख्वाहे हिन्द' (१८३७ ई०), 'करीमुल अखबार' (१८४५ ई०) 'उम्द-तुल अखबार' (१८४५ ई०), 'सादुल अखबार' (१८४७ ई०) आदि उर्दू की पत्र-पत्रिकाएँ भी उर्दू-गद्य को और आगे बढ़ा रही थीं। सन् १८५० ई० के उपरान्त तो उर्दू पत्रों की संख्या बड़े वेग से बढ़ने लगी।

उर्दू-गद्य की यह प्रगति बराबर खड़ीबोली (हिन्दी) गद्य के विकास में योग दे रही थी।

ब्रजभाषा-गद्य की क्षीण परम्परा जो प्रधानतः टीकाओं आदि के रूप में

चली आ रही थी, खड़ीबोली के इस प्रकार प्रचार और प्रसार से गतिहीन होती गई। वर्तमान स्थिति तथा आवश्यकताओं ने उसको उपयोगिता प्रदान नहीं की, जिससे शिक्षित समाज से वह बराबर उपेक्षित होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि १९ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समाप्त होते-होते ब्रजभाषा गद्य का अस्तित्व साहित्य-क्षेत्र से अस्त हो गया।

[ख] १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में

[अ] अप्रत्यक्ष शक्तियाँ :

[१] **आर्य समाज :** १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विताओं के बढ़जाने पर खड़ीबोली-गद्य का विकास और भी द्रुत-गति से होने लगा। देश में ईसाई मिशनरियों का व्यापक और संगठित प्रचार हो रहा था। इन लोगों ने अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए हिन्दी का प्रचलित रूप [खड़ीबोली] ही ग्रहण किया। इनके प्रभाव में आकर काफी हिन्दू ईसाई-धर्म अङ्गीकार करते जा रहे थे। इसकी प्रतिक्रिया हिन्दुओं में भी हुई। ईसाई-धर्म की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए बंगाल में राजा राममोहनराय द्वारा 'ब्राह्मसमाज' की स्थापना हुई। सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। उधर पंजाब में श्रद्धाराम फिल्लौरी (१८६४ ई०) ने स्थान-स्थान पर धर्म-सभाएँ कायम कीं। ये लोग अप्रतिम विद्वान थे। इन लोगों ने अपने मत के प्रचार के लिये परिष्कृत हिन्दी में अनेक पुस्तकों की रचनाएँ कीं और कई पत्रिकाएँ निकालीं। इनके व्याख्यान पांडित्यपूर्ण वाद-विवाद, तर्क-वितर्क तथा खण्डन-मण्डन से भरे हुए होते थे। संयोगवश यह सब कार्य खड़ीबोली द्वारा ही पूरा किया जा रहा था। इसके साथ ही भारतेन्दु युग के साहित्यिकों ने भी कलम पकड़ी और अपनी-अपनी पत्रिकाओं द्वारा प्रचलित बुराइयों की खूब आलोचना की। इनके लेख परिमार्जित खड़ीबोली में निकलते थे। इन सब का फल यह हुआ कि खड़ीबोली समृद्ध और सशक्त होती गई।

[२] **कांग्रेस :** इसी समय सन् १८८५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसने राष्ट्रीयता का नव संस्कार किया। देश में एक नवीन उत्साह भर गया। नित्य नई-नई योजनाएँ देशोन्नति के लिये बनने लगीं। देश की गिरी हुई अवस्था पर निर्भीकतापूर्वक लेख निकलने लगे। जैसे, पं०

बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' (१८६१ ई०) में लिखा कि 'बड़े-बड़े घराने जिनमें असंख्य धन, सम्पत्ति और ठसाठस माल भरा था, छूँछे और पीले पड़ गये—हींग निकल गई, केवल मँहक बच रही ···इस धर्म राज्य में सब जगह पोल ही पोल दिखाई देती है। इसी को चाहो धर्मराज्य कहिए चाहो मुल्क की तरक्की कहिए······निर्जीव हिन्दुस्तान सीठी मात्र रह कर पालिटिक्स के पेंच में पड़कर नित्य खूँदा जा रहा है।'[1] इसी पत्र में आप दूसरी जगह लिखते हैं 'धन्य सहनशीलता यहाँ के लोगों की इतने पर भी सब सहे जाते हैं जरा भी नहीं चेतते। कोई दूसरी कौम होती तो इन विपत्तियों से उद्धार पाने की अब तक न जानिए क्या कर गुजरती।'[2] इसी प्रकार, भारतेन्दु युग के सभी प्रमुख कवि जो प्रायः पत्रकार भी थे, देशवासियों के सामने देश की तत्कालीन अवस्था को बड़े सजीव ढङ्ग से बराबर रख रहे थे। इनकी लेखनी इतनी प्रौढ़ थी और ये लोग इतने निर्भीक थे कि देश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि सभी अवस्थाओं का यथातथ्य वर्णन करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करते थे। इनकी लेखनी से प्रसूत भिन्न-भिन्न समस्याओं पर विवेचनात्मक लेखों ने खड़ीबोली-गद्य को सुव्यवस्थित और समुन्नत तो बना ही दिया, इनसे सबसे बड़ी प्रभावोत्पादक बात जो हुई वह यह थी कि ये समस्याएँ जिन पर ये लोग अपनी लेखनी चला रहे थे समाज की जीवित समस्याएँ थीं और खड़ीबोली के माध्यम द्वारा प्रकट की जा रही थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली का साहित्य, समाज के जीवन के अधिकाधिक निकट आता गया और ब्रजभाषा-साहित्य उनके जीवन से दूर हटता गया।

[३] **स्वतन्त्र साहित्यिक प्रयास :** उपर्युक्त विवेचन से यह न समझना चाहिए कि खड़ीबोली साहित्य का एकमात्र उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि आन्दोलनों की केवल चर्चा करना था। भारतेन्दु तथा उस युग के प्रधान लेखक राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद, श्रीनिवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री राधाकृष्णदास, श्री कार्तिक प्रसाद खत्री, प० राधाचरण गोस्वामी, श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठा० जगमोहनसिंह, पं० श्रीधर पाठक, श्री बालमुकुन्द गुप्त, श्री किशोरीलाल गोस्वामी, श्री देवकीनन्दन खत्री, श्री अम्बिकादत्त व्यास आदि

---

१. गोपाल पुरोहित—निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट, २००६ वि० पृ० ४
२. हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर, १६०० ई०, पृ० ३१

ने साहित्य के भिन्न भिन्न अङ्गों—नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवन-चरित्र, निबन्ध, आलोचना आदि की भी उसमें पूर्ति की। इन लोगों ने उसको साहित्यिक गद्य का रूप तो दिया ही, उसे इस योग्य भी बना दिया कि वह पद्य की भाषा बन सके। इस भाँति, जब खड़ीबोली साहित्य में अपना स्थान बनाती जा रही थी, तब ब्रजभाषा बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'रतिश्रान्ता ब्रजबनिता की भाँति सोती रही'।

[४] पत्र-पत्रिकाएँ : खड़ीबोली को इतना व्यापक और व्यावहारिक बनाने वाली दूसरी वस्तु भारतेन्दु काल की पत्र-पत्रिकाएँ भी थीं। भारतेन्दु बाबू का 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३ ई०) निकलने से लेकर काशी-नागरी-प्रचारिणी द्वारा 'सरस्वती' (१९०० ई०) निकलने तक, इन २७ वर्षों में छोटे-बड़े ३००-३५० से ऊपर पत्रों का उल्लेख डा० रामरतन भटनागर ने किया है।[1] 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने बाबू कार्तिकप्रसाद, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा श्री राधाकृष्णदास की सहायता से सन् १८९४ ई० में 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' नामक एक पुस्तक प्रकाशित कराई है, जिसमें १३९ पत्रों का सविस्तर वर्णन है। इनमें से कितनों ने अल्पायु पाई। पर सबों ने खड़ीबोली के लिये जन-रुचि पैदा करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया है। जिस भाषा के माध्यम से इतनी पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हों, उसकी सर्वतोमुखी गतिशीलता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। इनमें कुछ पत्र, जैसे 'हिन्दी प्रदीप' (पं० बालकृष्ण भट्ट, १८७७), 'ब्राह्मण' (पं० प्रतापनारायण मिश्र, १८८३), 'आनन्दकादम्बिनी' (बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', १८८१), 'भारतेन्दु' (श्री राधाचरण गोस्वामी, १८८२), 'सारसुधानिधि' (पं० सदानन्द मिश्र, १८७८), 'हिन्दुस्तान' (बालमुकुन्द गुप्त, दैनिक १८८५) आदि, अपने सुयोग्य और प्रतिभाशाली सम्पादकों द्वारा खड़ीबोली में पुष्टता, सजीवता, स्पष्टता आदि गुण लाने में समर्थ हुए। इनके सम्पादकों के सम्बन्ध में डा० रामरतन भटनागर ने बड़े ही उपयुक्त शब्दों में लिखा है कि 'इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी दिखलाई नहीं देते।'[2] अस्तु, खड़ीबोली की प्रगति को रोकने वाली अब कोई शक्ति नहीं थी। उसके प्रलय-पयोधि में ब्रजभाषा का प्लावन निश्चित था। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि अधिकाँशतः ये ही

१. आलोचना, जनवरी, १९५३, पृ० ३३

२. आलोचना, जनवरी, १९५३ पृ० ३४

लेखक और सम्पादक जो अपनी सबल लेखनी द्वारा एक ओर खड़ीबोली को गतिवती बना रहे थे, दूसरी ओर ब्रजभाषा को काव्य में बनाए रखने के लिए लड़ भी रहे थे। वे अपनी पत्र-पत्रिकाओं में ब्रजभाषा-काव्य को स्थान देकर उसके काव्य-स्रोत को सूखने से बचाते रहे। यही कारण है कि द्विवेदीकाल में जब पत्र-पत्रिकाओं से ब्रजभाषा का प्रकाशन कम किया गया, तब उसको काव्य-क्षेत्र से हटते देर भी नहीं लगी। खड़ीबोली जब इस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं द्वारा बल प्राप्त कर रही थी, तब ब्रजभाषा के समर्थक खड़ीबोली का परिहास उसको 'अखबारी' तथा 'बाजारू' भाषा कहकर कर रहे थे। यदि सचमुच देखा जाए तो ये ही वस्तुएँ उसकी सहायिका थीं, जिन्होंने उसको इतने अल्पकाल में उन्नतिशील बनाया। उसका विस्तार इसीलिये इतना अधिक हुआ कि वह 'अखबारी' तथा 'व्यापारवृति' को प्रकाश देने वाली 'बाजारू-भाषा' थी। उसकी इसी व्यावहारिक उपादेयता ने क्रमशः उसको साहित्य में भी प्रधानता दी। ब्रजभाषा का संस्कार व्यावहारिक जीवन में न हो सकने के कारण ही उसका सापेक्षित महत्व साहित्य में भी दिन प्रति दिन घटता गया।

[५] **वैज्ञानिक दृष्टिकोण :** इसके अतिरिक्त पाश्चात्य-विज्ञान हिन्दी साहित्य में जिस नवीन दृष्टिकोण को जन्म दे रहा था, उससे भी गद्य की समुचित उन्नति हुई। विज्ञान को कठोर सत्य चाहिए। उसके निकट प्रिय-अप्रिय का प्रश्न ही नहीं उठता। विज्ञान की शोभा सरसता में नहीं, वरन् यथार्थता में है और यथार्थता की रक्षा जैसी गद्य में हो सकती है, वैसी पद्य में नहीं। किसी वस्तु का गवेषणात्मक विवेचन, आलोचनात्मक निरूपण तथा यथातथ्य वर्णन गद्य के द्वारा ही हो सकता है। यथार्थता के आधार पर टिका हुआ नाटक, निबन्ध, आलोचना तथा कथा-साहित्य का पूर्ण विकास गद्य के द्वारा ही सम्भव है। बिना गद्य के साहित्य के सर्वाङ्ग पर न तो रचना ही हो सकती है और न उस भाषा और साहित्य का स्वरूप ही व्यापक और विशाल बनाया जा सकता है। हाँ, जब प्राचीन साहित्य में गद्य का स्थान नगण्य था, तब ज्योतिष, गणित, दर्शन, वैद्यक आदि की रचनाएँ अवश्य पद्य में हुई थीं। किन्तु १६ वीं शताब्दी में खड़ीबोली-गद्य के विस्तार ने परिस्थिति को भिन्न प्रकार की बना दिया था। निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि का विशाल साहित्य उसमें खड़ा होने लगा था। इसी से शिक्षित जन-समुदाय की अभिरुचि उसमें बराबर बढ़ती जा रही थी और

ब्रजभाषा का, जो अब तक हिन्दी साहित्य के स्पृहणीय पद पर आसीन थी, मान घट रहा था।

[ब] प्रत्यक्ष शक्तियाँ

[१] **पाठशालाओं की शिक्षा :** पाठशालाओं में विद्यार्थियों को हिंदी भाषा सीखने के लिए दो-दो भाषाएँ पढ़नी पड़ती थीं। इसमें उनको दूना परिश्रम करना पड़ता था। इसलिए सुविधा की दृष्टि से वे उर्दू पढ़ना अधिक पसन्द करते थे, क्योंकि उसके गद्य और पद्य की भाषा एक थी।[1] इस अस्वाभाविकता की ओर बाबू श्यामसुन्दरदास ने एक बार पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य कविगण का ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा था कि 'क्या यह उद्योग अनुचित होगा कि प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकों में खड़ीबोली की कविता से पद्य भाग सुशोभित रहे? हमारी प्रार्थना है कि वे लोग इधर ध्यान दें।'[2]

[२] **हिन्दी बनाम उर्दू का झगड़ा :** इसी समय, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, कचहरियों की भाषा के लिए हिन्दी और उर्दू में गम्भीर प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। 'हिन्दी बनाम उर्दू' का एक अलग से विवाद ही खड़ा हो गया था। उर्दू वाले जहाँ हिन्दी के अन्य दोष दिखलाते थे, वहाँ यह भी कहते थे कि 'उर्दू के गद्य और पद्य की भाषा एक है, हिंदी को तो वह गौरव भी नहीं प्राप्त है।'[3] निदान, यह अन्तर हिन्दी-प्रेमियों को असह्य हो उठा था। परिणामस्वरूप खड़ीबोली और ब्रजभाषा का विवाद छिड़ा और ब्रजभाषा के समर्थकों के घोर विरोध करते रहने पर भी सफलता खड़ीबोली को मिली।

क्या ब्रजभाषा की आन्तरिक त्रुटियाँ परिहार्य थीं ?

यदि ये सब प्रबल ऐतिहासिक कारण न होते और ब्रजभाषा-गद्य का पूर्ण बल से विकास हो गया होता तो उसका अधिकार वर्तमान काल के इस

१. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० ५२७
२. सरस्वती, जून, १९०१, पृ० १८७
३. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० ५२६

नए दौर में न छिन जाता। भाषा और भाव की दृष्टि से उसमें जो आभ्यन्तरिक दोष आ गए थे,[१] वे सब परिहार्य थे। उनका बहुत कुछ परिष्कार हो सकता था, क्योंकि भाव और व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ किसी भाषा को साहित्य से वहिष्कृत करने में किसी काल में समर्थ नहीं हुई हैं। वास्तव में समय का प्रवाह गद्य को महत्व दे रहा था। समाज और साहित्य दोनों के लिए गद्य की अनिवार्य आवश्यकता हो गई थी। ब्रजभाषा उसी में पिछड़ रही थी। इसीसे उसका पतन हुआ। यदि साहित्य में पद्य का मान पूर्ववत् बना रहता, और वह उस युग में हमारी सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता तो सम्भवतः ब्रजभाषा साहित्य-क्षेत्र से कभी न हटती।

खड़ीबोली की विरोधी मनोवृत्ति में सहायक वस्तुएँ

[क] हिन्दी बनाम उर्दू का झगड़ा

इतने पर भी जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वान ब्रजभाषा के अस्तित्व और अधिकार को काव्य में बनाए

१. (क) '......रीतिकाल के पिछले कवियों की मनमानी नीति ने उसका स्वरूप इतना विकृत कर दिया था कि वह निर्जीव-सी अप्रतिभ-सी होती जा रही थी।'
राजेन्द्रसिंह गौड़, आधुनिक कवियों की काव्य साधना, १९४८ ई०, पृ० ११५

(ख) '........साहित्य के प्रधान रूप, काव्य में, पुराने और घिसे-घिसाए विषयों, रूपों और शैलियों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता।'
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका १९५२ ई० पृ० १५५

(ग) '........ब्रजभाषा कविता का प्रवाह तरंगिणी की भाँति न था, वरन् वह एक सीमित सरोवर के तुल्य था जिसका जल अब गँदला* हो चला था और उसमें सड़े सेवार की दुर्गन्ध आने लगी थी।'
डा० श्रीकृष्णलाल, आधुनिक साहित्य का विकास, १९४२ ई०, पृ० १६ आदि।

रखना चाह रहे थे। ऐसा नहीं था कि वे समय की उस परिवर्तित परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक कारणों को पहिचानते न रहे हों, क्योंकि भारतेन्दु युग के प्रायः सभी कवियों ने जिन्होंने ब्रजभाषा के पक्ष का समर्थन किया है, थोड़ी बहुत खड़ीबोली में भी रचनाएँ की हैं। इससे यह प्रकट होता है कि वे खड़ीबोली के महत्त्व को पद्य में भी समझ रहे थे। किन्तु उनके इस प्रकार ब्रजभाषा के पक्ष का समर्थन करते रहने के कारण भी अवश्य थे, जिससे खड़ीबोली और ब्रजभाषा का यह विवाद छिड़ा।

उस समय उर्दू का बोलबाला था। वह कचहरियों की भाषा मनोनीत कर दी गई थी। खड़ीबोली-गद्य पर भी उसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ रहा था। अरबी-फारसी तक के चलते शब्द उसमें धड़ल्ले के साथ प्रयुक्त हो रहे थे। सन् १८४५ ई० में राजा शिवप्रसाद की सहायता से 'बनारस अखबार' निकला था। लिखा तो यह नागरी लिपि में जाता था, पर उसकी इबारत में हिन्दी के शब्द कहीं-कहीं ही दिखलाई पड़ते थे। इन सब बातों ने ब्रजभाषा के समर्थक विद्वानों के हृदय को शंकित कर दिया था। उनको यह संदेह होने लग गया था कि यदि कहीं खड़ीबोली का आधिपत्य पद्य में भी हुआ तो वहाँ भी उर्दू प्रवेश कर जाएगी और इस प्रकार हिन्दी-भाषा और संस्कृति का विनाश सहज ही में हो जाएगा। उनको यह भी भय था कि '....उर्दू की नकल करते-करते कहीं हिन्दी-कवि उर्दू ही के न हो जायँ' (पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस')[१]। संयोगवश उस समय 'हिन्दी बनाम उर्दू' का झगड़ा भी चल रहा था, इसलिये ऐसे समय में ब्रजभाषा से नाता तोड़ना उनको उचित नहीं दिखलाई दे रहा था। यही कारण था कि गद्य में खड़ीबोली का व्यवहार करते हुये भी पद्य में उसको अपनाने के लिये वे लोग कटिबद्ध नहीं हो रहे थे। बल्कि उन लोगों के इस विचार ने कि खड़ीबोली के प्रशंसक हिन्दी को उर्दू के रास्ते पर घसीट ले जाकर उसके सर्वनाश पर तुले हुये हैं, इस विवाद को और भी तीव्र बना दिया।

[ख] समस्यापूर्ति

उस समय समस्यापूर्ति की प्रथा का प्राधान्य था। स्थान-स्थान पर कवि-समाज और कवि-मण्डल स्थापित थे।[२] कवि लोग समस्यापूर्तियाँ ब्रजभाषा

---

१. माधुरी, वर्ष ११, खंड २, संख्या ५, सम्वत् १६६०, पृ० ५५८

२. काशी-कवि-मंडल, काशी-कवि-समाज, रसिक-समाज-कानपुर, हिन्दी-कवि समाज, फतेहगढ़-कवि-समाज, कालाकाँकर-कवि-समाज आदि।

में करते थे। इसमें उनको सुविधा होती थी, क्योंकि ब्रजभाषा के शब्दों में एकरूपता न होने से वे मनमानी ढंग से शब्दों का तोड़-मरोड़ कर लिया करते थे। हाथ सधा होने से जितनी शीघ्र और उत्तम कविता वे लोग ब्रजभाषा में बना लेते थे, उतनी अच्छी कविता अभी खड़ीबोली की भाषा अव्यवस्थित होने से उसमें न बना पाते थे। इसीलिये ब्रजभाषा के मोह को ये कविगण नहीं छोड़ रहे थे। वे कवि-सम्मेलनों में समस्यापूर्ति में विजय पाने के लिये जितना व्यग्र रहते थे उतना खड़ीबोली को काव्यपूर्ण बनाने के लिये नहीं। उनको तो वह नीरस और काव्य-गुण से रहित दिखलाई दे रही थी। यदि कभी किसी ने उसमें पद्य-रचना की भी, तो वह अखबारों में प्रकाशित करा दी जाती थी। कवि-सम्मेलनों में स्थान पाने का गौरव उसको प्राप्त न होता था। इस प्रकार इन पूर्तिकारों की मनोवृत्ति खड़ीबोली के अनुकूल न होने से वे बराबर ब्रजभाषा के ही पक्ष का समर्थन करते रहे।

यह अवस्था द्विवेदीयुग के लगभग मध्यकाल तक बनी रही। द्विवेदीयुग की समाप्ति पर खड़ीबोली प्रौढ़ हो गई थी। उसका अधिकार पद्य-क्षेत्र में भी होने लगा था। विवाद की समाप्ति निकट दिखलाई दे रही थी कि छाया वादी युग का प्रवेश हुआ। यह युग अपने साथ महान् क्रान्तिकारी भावनाओं को लेकर आविर्भूत हुआ था। इसके कठोर धक्के ने परम्पराओं की रूढ़ि से बँधे हुए हिन्दी के पुराने जर्जर ढाँचे को हिला दिया। प्राचीन और नवीन-प्रवृत्तियों के इस संघर्ष में ब्रजभाषा और खड़ीबोली भी सम्मिलित कर ली गई। इस भाँति उक्त 'विवाद' में पुनः ताजगी आ गई और वह छायावादी युग के अन्त तक चलता रहा।

[ग] ब्रजभाषा के कवियों की अप्रगतिशील भावना

ब्रजभाषा के कुछ कवियों की रूढ़िवादिता तथा अप्रगतिशील भावना ने भी इस विवाद में योग दिया। ब्रजभाषा से उनका संस्कार इस भाँति जुड़ा हुआ था कि वे काव्य में उसके भाव और रूप को छोड़ना नहीं चाहते थे। जब कि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काव्य के भाव-क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया था, तब भी* उनकी रचनाएँ प्रधान रूप से रीतिकालीन परम्परा का ही अनुकरण कर रही थीं। काव्य के रूप में सवैया, कवित्त, रोला, दोहा आदि

* उद्धृत : फुटनोट—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९३१ ई०, रामशंकर शुक्ल, पृ० ६०८।

के अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग ही न करते थे और न उसके लिए तैयार ही थे। कविता के विषय और रूप के प्रति उन लोगों का इस प्रकार का सीमित दृष्टिकोण ब्रजभाषा के लिए घातक सिद्ध हो रहा था। खड़ीबोली काव्य के लिए उस समय अनगढ़ अवश्य थी, परन्तु उसका एक परिमार्जित रूप 'उर्दू' तथा 'दखिनी-हिन्दी' में उपस्थित था जिसमें सुन्दर कविताएँ हो रही थीं। उससे प्रेरणा वे नहीं लेना चाहते थे। वह उनके लिए 'यावनी-भाषा' थी। उसका आदर्श उनको ग्राह्य नहीं था। उनके विचार से खड़ीबोली में कविता करना समय और परिश्रम को नष्ट करना था। तात्पर्य यह कि उनके ब्रजभाषा के प्रबल मोह ने बदलती हुई साहित्यिक धारा को उन्हें ठीक से पहिचानने नहीं दिया। इसीसे यह 'विवाद' छिड़ा।

[घ] सामाजिक परिस्थिति तथा अशिक्षा का प्रभाव

कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ भी इस विवाद में ब्रजभाषा को बढ़ावा दे रही थीं। ब्रजभाषा में दो परम्पराएँ थीं—सन्त-साहित्य और नायिका-भेद। सन्त-परम्परा की जगह समाज-सुधार खड़ीबोली-गद्य में होने लगा था। नायिका-भेद को बनाए रखने वाला दल लड़ रहा था। वह यह सोच रहा था कि यदि ब्रजभाषा गई तो फिर यह नायिका-भेद भी गया। इसीसे ब्रज-भाषा के कवि जहाँ कोमलता और सरसता की दुहाई देकर ब्रजभाषा को काव्य में बनाए रखना चाहते थे, वहाँ प्रगतिशील सूर, तुलसी, आदि सन्तों की परम्परा को ग्रहण नहीं करते थे, बल्कि बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि का अनुसरण करते थे। असल में उनका यह बहाना था कि खड़ीबोली सरस और मीठी नहीं, मीठा तो इनको कुछ और ही लग रहा था। यहाँ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ब्रजभाषा का विरोध करते समय खड़ीबोली के कवियों ने कभी-कभी ब्रजभाषा के उन प्राचीन शृंगारी कवियों की अमर्यादित ढङ्ग से जो कुत्सा की, वह सर्वथा अनुचित थी। ब्रजभाषा को एक लम्बी लड़ाई लड़ने का इससे भी अवसर हाथ लगा था। दूसरे, साधारण जनता अधिकतर निरक्षर थी। शिक्षित-वर्ग ही खड़ीबोली को प्रोत्साहन दे रहा था। यदि साक्षरता का सीमित प्रचार न होता तो ब्रजभाषा और खड़ीबोली का यह द्वन्द्व अधिक काल तक नहीं टिक सकता था। किन्तु इस सामाजिक परिस्थिति का लाभ ब्रजभाषा के समर्थकों ने उठाया और अधिक समय तक विवाद को बनाए रखा।

[ङ] ब्रजभाषा प्रेम की गलत दुहाई

यहाँ पर एक बात और विचारणीय है। वह यह कि इस विवाद में कहीं-कहीं जो ब्रजभाषा के प्रेम की दुहाई देकर उसको काव्य में बनाए रखने की बात कही गई है, वह सही नहीं थी। वरना, ब्रजभाषा-क्षेत्र के लोगों की आवाज इस सम्बन्ध में सबसे ऊँची रहती। वे ब्रजभाषा को साहित्य में बनाए रखने के लिये लड़ मरते। किन्तु इस द्वन्द्व का अखाड़ा बना हुआ था प्रधानतः हिन्दी का पूर्वी क्षेत्र। अपवादस्वरूप ब्रजभाषा-क्षेत्र के दो एक कवि जैसे पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि को छोड़कर प्रायः सभी कवि पं० प्रतापनारायण मिश्र (कानपुर), राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (कानपुर), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (मिर्जापुर), जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (काशी), कृष्णविहारी मिश्र (लखनऊ), वियोगीहरि (छत्र-पुर राज्य) आदि जो ब्रजभाषा का पक्ष समर्थन कर रहे थे पूर्वी क्षेत्र के थे। इन पूर्वी कवियों को खड़ीबोली के मुकाबले में ब्रजभाषा में कविता करना सरल होता था। इसी से वे ब्रजभाषा के लिए लड़ रहे थे। पश्चिमी भाग, जहाँ खड़ीबोली का प्रचार पहले हुआ, वहाँ के कवियों को ब्रजभाषा में रचना करना यातयाम (out of date) दिखलाई दे रहा था। इसीसे प० श्रीधर पाठक (आगरा), पं० बदरीनाथ भट्ट (आगरा), पं० नाथूराम शंकर शर्मा (आगरा), श्री मैथिलीशरण गुप्त (झाँसी), बाबू बालमुकुन्द गुप्त (रोहतक) आदि ने ब्रजभाषा में काव्य-रचना का विरोध किया।

सारांश

अस्तु, ब्रजभाषा और खड़ीबोली का यह विवाद एकमात्र सुविधा और लाघव को दृष्टिगत रख गद्य और पद्य की भाषा को एक करने के लिए नहीं छिड़ा था। खड़ीबोली की सर्वतोमुखी उन्नति होते देखकर जब कुछ प्रगति-शील विद्वानों ने काव्य में भी उसको स्थान देना चाहा, तब प्राचीनता के पुजारियों ने भाषा और संस्कृति की दुहाई देकर उन लोगों की इस मनोवृत्ति का विरोध किया। दूसरे, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, ब्रजभाषा का क्षेत्र स्वयं संकुचित होता जा रहा था। वह युगोपयोगी भाषा नहीं रह गई थी। उसके गद्य के उत्कर्ष की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। ऐसा दिखाई दिया जैसे किसी को उसका गद्य रुचिकर ही न लग रहा हो। इसके

विपरीत, खड़ीबोली-गद्य की व्यापकता तथा सर्वप्रियता उसको काव्य-भाषा बनाने में सहायक सिद्ध हुई।

लेकिन, ब्रजभाषा चार सौ वर्षों से काव्य-भाषा के वाँछनीय पद पर बनी हुई थी, और लोगों के हृदय में अब भी उसके प्रति मोह बना हुआ था। ऐसी अवस्था में खड़ीबोली के लिए यह सरल भी नहीं था कि वह काव्य-क्षेत्र से शीघ्र उसको अलग कर देती। निदान, विवाद चलना था और चला।

दूसरा अध्याय

खड़ीबोली को कविता का माध्यम बनाने का प्रथम प्रयास

खड़ीबोली की प्राचीनता

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काव्य-भाषा के लिए, ब्रजभाषा और खड़ीबोली को लेकर, विद्वानों में जो विवाद प्रारम्भ हुआ, उसका परिचय प्राप्त करने के पूर्व बोलचाल में खड़ीबोली की प्रधानता तथा काव्य में उसकी परम्परा को संक्षेप में जान लेना अत्यावश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि उसके गद्य और पद्य रूपों की प्राचीनता के सम्बन्ध में गण्य विद्वानों को भी अनेक प्रकार का भ्रम रहा है। जब यह विवाद छिड़ा, तो खड़ीबोली के 'पताका-वाहक' बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री को काव्य में खड़ीबोली के प्रयोग करने का 'ईजादबन्दा'[1] कहा गया। ग्रियर्सन साहब ने 'लालचन्द्रिका' (१८९६ ई०) की भूमिका में लिखा कि 'इस प्रकार की भाषा का इससे पहले भारत में कहीं पता न था······इसलिए जब लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिखा, तब वे एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।'[2] इसी भ्रम की पुनरावृत्ति उन्होंने लिंग्विस्टिक सर्वे भाग ९ खंड १, सन् १९२७ ई० में भी की कि 'यह हिन्दी जिसे कभी-कभी लोग उच्च हिन्दी कहते हैं, उन हिन्दुओं की गद्य-साहित्य की भाषा है, जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरम्भ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरम्भ से अंग्रेजी प्रभाव के कारण होने लगा है।........लल्लूलाल ने डा० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध 'प्रेमसागर' लिखकर ये सब परिवर्तन किये थे।'[3] इसी प्रकार, आर० डबल्यू० फ्रेजर ने 'लिटररी हिस्ट्री आव इंडिया' (१९१५ ई०) में लिखा कि 'आधुनिक हिन्दी भाषा (खड़ीबोली या उच्च हिन्दी) को दो पंडितों (लल्लूलाल और सदल मिश्र) का आविष्कार समझना चाहिये।'[4]

---

१. तृतीय 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', कलकत्ता, कार्य विवरण, पहला भाग, संवत् १९७०, पृ० ४०

२. बाबू श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा, १९४९ ई०, पृ० ४६

३. वही

४. डा० वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९५३ ई०, पृ० २७३

सम्भवतः इन पाश्चात्य विद्वानों को इस प्रकार का भ्रम हिन्दी (खड़ीबोली) में संस्कृत के तत्सम् शब्दों के प्रयोग को देखकर हुआ है। किन्तु, रामप्रसाद निरंजनी का 'योगवासिष्ठ' (१७४१ ई०) परिष्कृत हिन्दी में जिसमें संस्कृत के तत्सम् शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, तथा दौलतराम का 'जैन पद्मपुराण' (१७६१ ई०) जो अरबी-फारसी के शब्दों से सर्वथा मुक्त है, पहले ही से मौजूद थे, जब कि अंग्रेजों का राज्य हिन्दी-प्रदेश पर स्थापित भी नहीं हुआ था। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जब ग्रियर्सन साहब के मतानुसार इस प्रकार की भाषा का भारत में पता ही न था तो एक विदेशी मि० गिलक्राइस्ट को उसका इलहाम (स्वप्न) कहाँ से हुआ, और फिर कैसे उनकी प्रेरणा से लल्लूलालजी आदि ने एक नवीन भाषा को गढ़ा ! थोड़ी देर के लिए यदि ग्रियर्सन साहब की उक्त धारणा को स्वीकार भी कर लिया जाए तो बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में कहना पड़ेगा कि 'यदि लल्लूलाल जी नई भाषा गढ़ रहे थे तो क्या आवश्यकता थी कि उनकी गढ़ी हुई भाषा उन साहबों को पढ़ाई जाती जो उस समय केवल इसी अभिप्राय से हिन्दी पढ़ते थे कि इस देश की बोली सीखकर यहाँ के लोगों पर शासन करें।'[1] ग्रियर्सन महोदय के उक्त सिद्धान्त का पूर्णतया खण्डन हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखने वाले प्रत्येक विद्वान ने किया है। इसके विशद विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है। किन्तु इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लल्लूलाल जी ने जिस भाषा (खड़ीबोली) का प्रयोग 'प्रेमसागर' में किया है वह नित्य-व्यवहार की भाषा थी, और उसका चलन और प्रचार व्यावसायिक केन्द्रों, प्रधान नगरों, राजकीय कार्यों, अन्तरप्रान्तीय बोलचाल और चिट्ठी पत्री में पहले से हो रहा था। अभी हाल ही में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक लेख 'विशाल भारत' अप्रैल, १६४० ई० में '२०० वर्ष पुरानी खड़ीबोली के पत्रों के नमूने' शीर्षक से प्रकाशित कराया है। इस लेख में उन्होंने महामहोपाध्याय वररुचि[2] की लिखी हुई 'पत्र कौमुदी' से जो 'विश्व-भारती' (शान्ति-निकेतन, बंगाल) के विद्याभवन में सुरक्षित है, पाँच पत्र प्रकाशित किए हैं। मूल ग्रन्थ में हिन्दी (जिसे ग्रंथकार ने 'हिन्दुस्तानी' कहा है) के पत्र बंगला अक्षरों में ही लिखे हुए हैं, किन्तु

---

१. बाबू श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा, १६४६ ई०, पृ० ४७

२. यह वह 'वररुचि' नहीं हैं जिन्होंने 'प्राकृत-प्रकाश' आदि ग्रंथ लिखा है।

भाषा स्पष्ट रूप से खड़ीबोली है। एक पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है—

'अथ हेंदुस्थानीय भाषाया (याँ) पत्र लिखन प्रकारः।
स्वस्ति श्री सकल उपमा योग्य हमारे आप्त अमुकको महाराज के संदेश आगे हमको तुम्हारे मुलुक की फलानी चीज़ चहती है। तिस वास्ते हमारा पास (से) फलाना शकस को भेजा है। पैशे (पैसे) ताँ तिस्के पास दिए हैं तुमके किताब लिखी है। तिस् माफिक सभ् बात का खसमाना (तखमीना) करि किताब के ब्वहुकुम (बहुकम) सभ् बीज (चीज) हमको सितारी भेज देना राह मो जोखिम की डर होअ ते अपने आदमी साथ करि देना।······'[1]

ग्रंथ में बंगला सम्वत् १२०४ के २८ भाद्र स्पष्ट लिखा हुआ है, इसलिए इनकी प्राचीनता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। ग्रंथकार ने इन पत्रों द्वारा पत्र लिखने का ढग बतलाया है, किन्तु इन पत्रों से जो महत्वपूर्ण बातें प्रकट होती हैं, उनके आधार पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

१. "हिन्दी उन दिनों राजकीय और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। उसमें पत्र लिखने का ढग सिखाया जाता था।
२. "हिन्दुस्तानी नाम अंग्रेजों का दिया हुआ नहीं है और न उससे उर्दू (अर्थात् अरबी-फारसी से प्रभावित) भाषा का ही बोध होता है।
३. "उन दिनों विशुद्ध संस्कृत शैली में लिखे हुए पत्रों में अरबी और फारसी के व्यवहारिक शब्द निःसंकोच ग्रहण किए जाते थे।
४. "यह कहना कि खड़ीबोली में गद्य लिखने का आरम्भ लल्लूलालजी आदि ने अंग्रेजों की प्रेरणा से किया था, एकदम निराधार और गलत है। बहुत पहले से खड़ीबोली में आज की हिन्दी के समान गद्य लिखा जाता था। वह व्यवहार की भाषा थी और विशुद्ध संस्कृत शैली में उसमें पत्र लिखे जाते थे।"[2]

दूसरे, ग्रियर्सन साहब के विचारानुसार जिस भाषा को लल्लूलालजी मि० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से अंग्रेजों को सीखने के लिए १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिख रहे थे, उसके बहुत पहले १७ वीं शताब्दी में जो विदेशी भारत आए इसी भाषा को उसकी व्यापकता के कारण पारस्परिक विचार-

१. विशाल भारत, भाग २५, अङ्क ४, अप्रैल, १९४०, पृ० ३७०
२. वही पृ० ३६८

विनिमय के लिए सीखते थे। मि० निकोलास मनुची (Nicholas Manucci) नाम के इटली देश के एक यात्री ने जो कि औरंगजेब के शासनकाल में आया था, इसी भाषा में शिवाजी से बहुत देर तक अनेक विषयों पर बिना किसी मध्यस्थ के बातचीत की थी। इसका उल्लेख गोविन्द सखाराम सर देसाई ने 'न्यू हिस्ट्री आव दी मराठाज़' (१९४६) भाग १ पृ० १६१ पर इस प्रकार किया है—

> "There after the two, Manucci and Shivaji had a long conversation together on various topics...... Manucci spoke Urdu[1] fluently and they had direct talks without an interpreter."

इसके अतिरिक्त, 'प्रेमसागर' की भाषा को देखकर कुछ लोगों को यह भी भ्रम हुआ था कि लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' की रचना अपनी मातृ-भाषा में की है। गोस्वामी गौरचरणजी ने अपने 'हिन्दी और ब्रजभाषा' शीर्षक लेख में जिसे उन्होंने द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग में पढ़ा था, लिखा है कि—

> 'लल्लूलाल नाम के एक ब्राह्मण आगरे में रहते थे।......लल्लूलाल जी को वहाँ से अपनी मातृभूमि छोड़कर कलकत्ता आना पड़ा। वहाँ उन्होंने आकर 'प्रेमसागर' नाम का ग्रन्थ अपनी जन्मभूमि की भाषा में बनाया।'[२]

इस प्रकार के भ्रम में भी एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक रहस्य छिपा हुआ है। वह यह कि आगरा को सिकन्दर लोदी के समय (१४८९–१५१७ ई०) से ही बादशाहों के रहने का सुअवसर प्राप्त हो गया था।[3] अकबर के

---

१. उर्दू से लेखक का तात्पर्य उस भाषा से है जो उस समय 'हिन्दुई' 'हिन्दवी', 'हिन्दी' आदि नामों से प्रचलित थी, जिसका रूप खड़ी-बोली का था। उर्दू नाम का व्यवहार तो १९ वीं शताब्दी में होता है।

२. द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, १९६८ वि०, पृ० २४५

३. इलियट एण्ड डाउसन—हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ४, सन् १८७२ ई०, पृ० ४५०

समय में तो वह एक बहुत बड़े सल्तनत की राजधानी थी। इसके सिवा, आगरा सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। विशेषकर कपड़े का व्यापार आगरा से होकर देश-विदेश के विभिन्न भागों में होता था।[1] इसलिए यह एक विचारणीय बात है कि अकबर के दरबार में देश के विभिन्न भागों से आने वाले लोगों की, तथा देश के इस सबसे बड़े व्यापारिक केन्द्र में एकत्र होने वाले देश-देशान्तर के व्यापारियों के परस्पर विचार-विनिमय की, वह कौन सी भाषा थी जो काम में लाई जा रही थी? पं० चन्द्रबली पांडे ने 'कचहरी की भाषा और लिपि' में लिखा है कि 'उसके (प्रजा के) काम-काज, लेन-देन, बनिज-व्यापार आदि की भाषा वही भाषा (खड़ीबोली) थी। फारसी की ज़रूरत तो तब नजर आती थी जब हुजूर के फरमान निकलते थे या हुजूर से किसी खास रहम की हाजत होती थी।'[2] हिन्दी (खड़ीबोली) के चलन को अकबर स्वयं अनुभव करता था। उसकी आज्ञा से अन्य भाषाओं के ग्रन्थ फारसी और हिन्दी में अनूदित किए जाते थे—

> "By the command of His Majesty the following translations have been made from the Sanskrit and other languages, into Persian and Hindovee...the new astronomical tables of Ulugh Beg, from Persian into Hindovee........"
>
> —Ayeen Akbary Val. 1, Page 113 (London, 1800)

एक बार अकबर ने जहाँगीर के पास उसके एक पत्र के उत्तर में यह रुबाई खड़ीबोली में लिखकर भेजी थी—

'पूछी जो घड़ी मुझसे बराह आदत।
तो वस्ल की सायत नहीं कुछ हाजत॥

---

१. डा० पंत—कामर्सियल पालिसी आफ दी मुगल, १९३० ई० पृ० १४८

२. चन्द्रबली पांडे—कचहरी की भाषा और लिपि, १९९६ वि०, पृ० १२, १३ अथवा
डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २५२

हो जाती है मिलने से मुबारक सायत।
सायत का बहाना नहीं खुश हरसायत॥"[1]

ये सब बातें इस तथ्य को प्रकट करती हैं कि उस समय चिट्ठी-पत्री तथा परस्पर व्यवहार की भाषा खड़ीबोली ही थी। अदालत की भाषा फारसी होने पर भी देश-भाषा के रूप में खड़ीबोली का व्यवहार हो रहा था। आगरा ब्रजप्रान्त में होने से वहाँ की साधारण बोलचाल की भाषा ब्रजभाषा है, किन्तु एक बहुत बड़े सल्तनत की राजधानी रहने तथा देश का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र होने के कारण खड़ीबोली की प्रधानता वहाँ बराबर बनी रही। इसीसे १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' की रचना इस व्यावहारिक भाषा में की तब कुछ लोगों को यह संदेह हुआ कि उन्होंने इसकी रचना अपनी जन्म-भूमि की भाषा में की है, जो इसका प्रमाण है कि खड़ीबोली का व्यवहार ब्रजक्षेत्र के भीतर मध्यकाल से ही होने लगा था।

अतः इसी प्रचलित भाषा को, जिसका व्यवहार देश-विदेश के विद्वान तथा व्यापारिक वर्ग कर रहा था,[2] अंग्रेजों के सीखने के लिये मि० गिलक्राइस्ट ने आवश्यक समझकर लल्लूलाल जी से 'प्रेमसागर' लिखने को कहा था। इसलिए यह मानना कि अंग्रेजों ने उसका चलन किया पूर्णतया निराधार है। हाँ, अंग्रेजों द्वारा उसके प्रचार में सहायता अवश्य मिली, जिससे १६ वीं शताब्दी में वह गद्य की प्रौढ़ भाषा बन गई।

खड़ीबोली की प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों से जो दूसरे प्रकार की भूल हुई है वह यह है कि उसको या तो ब्रजभाषा से उत्पन्न माना है, या उसकी उत्पत्ति ब्रजभाषा और पंजाबी के मेल से बताई है। मौलाना मुहम्मद

---

१. हिन्दी सिद्धान्त प्रकाश, दूसरा अंक, १६०६ ई०, प्रकाशक : आरा नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० १८

2. "In the 17th century, khari Boli had not only become the language for trade and commerce through out the big towns of Hindustan, it had also acquired the status of an international language, the medium of commercial and the cultural intercourse among the various peoples of India as well as foreigners,"
—Indian Literature No. 1, peoples Publishing house, Bombay 1953, page 14-15.

हुसैन आजाद ने अपने 'आबेहयात' में उर्दू (खड़ीबोली) को ब्रजभाषा की बेटी लिखा है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त अपनी पुस्तक 'हिन्दी-भाषा' में लिखते हैं 'वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं पर ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई, वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया।'[१] गोस्वामी गौरचरण ने अपने लेख 'हिन्दी और ब्रजभाषा'[२] में ब्रजभाषा और खड़ीबोली में माता-पुत्री का सम्बन्ध बताया है। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,' के २० वें कलकत्ता अधिवेशन में सभापति के आसन से दिये गए अपने भाषण में खड़ीबोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा तथा पंजाबी के मेल से मानी है। पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' ने 'सुधा', जुलाई, १९३४ ई० में लिखा है कि खड़ीबोली उर्दू और ब्रजभाषा के मिश्रण से बनी। क्रियाएँ और काराकादि उर्दू के और अन्य शब्द ब्रजभाषा के हैं।

खड़ीबोली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार के गलत सिद्धान्त बहुत लम्बी अवधि तक विद्वानों में बने रहे, जिसका प्रभाव, काव्यभाषा के लिए जो विवाद ब्रजभाषा और खड़ीबोली में हुआ, उस पर भी पड़ा। खड़ीबोली की उत्पत्ति का यथार्थ परिचय न होने से यह विवाद कुछ लोगों को माता-पुत्री में होता दिखलाई दिया। इसीसे उन लोगों की बहुत सी दलीलें, जो उन्होंने अपने-अपने मत की पुष्टि में दीं, वास्तविकता से दूर होने के कारण तथ्यहीन-सी दिखाई देती हैं।

यदि खड़ीबोली की उत्पत्ति सीधे ब्रजभाषा से हुई होती तो आज मथुरा-वृन्दावन में, जो ब्रजभाषा का केन्द्र है, हम खड़ीबोली का ही प्रचार पाते, परन्तु ब्रजभाषा का साम्राज्य अब भी अपने क्षेत्र में बना हुआ है और वह वहाँ की साधारण जनता की भाषा है। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने पंजाबी भाषा की आकारान्त प्रवृत्ति को, जो खड़ीबोली की भी विशेषता है, देखकर खड़ीबोली को पंजाबी और ब्रजभाषा के सम्मिश्रण का परिणाम सोचा था। अब इस प्रकार के भ्रमों का भाषा-विशारदों द्वारा सर्वथा निराकरण हो चुका है। फिर भी यहाँ समझने के लिये यह शेष रह जाता है कि भाषा विषयक इस प्रकार की भ्रान्ति विद्वानों को हुई क्यों ? यह अवश्य एक ध्यान देने योग्य बात है। यदि देखा जाए तो खड़ीबोली का प्रचार दिल्ली

१. बाबू बालमुकुन्द गुप्त : हिन्दी भाषा, १९६४ वि०, पृ० क (भूमिका)

२. द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९६८ वि०, कार्य विवरण, दूसरा भाग।

और आगरा की प्रधानता के कारण, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, पहले-पहल यहीं हुआ, जिसमें दिल्ली ब्रजभाषा-क्षेत्र से लगा हुआ तथा आगरा उसी क्षेत्र की भीतर स्थित है। अतः खड़ीबोली की व्यापकता पहले-पहल ब्रजभाषा-क्षेत्र के भीतर तथा उसके आसपास होती देखकर कुछ लोगों से इस प्रकार की भूल होनी कि खड़ीबोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा से हुई सहज थी। खड़ीबोली दूर-दूर तक प्रचार पाने के पूर्व ब्रज-सीमा के अन्दर विशेष महत्ता प्राप्त कर रही थी, और उसका प्रचार भी वहाँ खूब था। ब्रज-क्षेत्र के भीतर, खड़ीबोली के इस भाँति प्रचार से यह एक बहुत बड़ा निष्कर्ष निकलता है कि ब्रजभाषा का पतन पहले-पहल उसके घर में ही परिलक्षित हुआ। इसीसे कुछ विद्वानों से खड़ीबोली की उत्पत्ति समझने में इस प्रकार भयंकर भूल की सम्भावना हुई।

वस्तुतः खड़ीबोली उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई ब्रजभाषा आदि अन्य भाषाएँ। अपभ्रंश काल (१० वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक) की जैन-आचार्यों, बौद्ध-सिद्धों, नाथ-पंथियों, चारण-कवियों आदि की रचनाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें खड़ीबोली का अस्तित्व बीज रूप में उसी प्रकार पाया जाता है, जिस प्रकार ब्रज, अवधी, पंजाबी आदि अन्य भाषाओं का। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक अपने लेख में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस तथ्य का विस्तार से विवेचन किया है। उदाहरण स्वरूप कुछ पद इस प्रकार हैं—

(क) 'अम्भाणिओ संदेसडओ तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउ बलिवंधणह मुहिज्ज॥'[१]

(ख) 'जेह आसावरि देहा दिन्हउ।
सुस्थिर डाहररजा लिन्हउ॥'[२]

(ग) 'नव जल भरिया मग्गड़ा गयणि धड़क्कइ मेहु।'[३]

(घ) 'महिवीढह सचराचरह जिण सिर दीन्हा पाय।'[४]

१, २, ३ व ४ पं० रामचन्द्र शुक्ल—बुद्धचरित्, संवत्, १९७९, पृ० २, ४ व ५ (भूमिका)

इन पदों में अवधी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पंजाबी आदि के भूतकालिक क्रियापद-रूपों के बीज समान रूप से पाए जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ीबोली	पंजाबी
संदेसडओ	संदेसड़ो	...	...	
दिन्हउ	दीन्हो	...	...	
भरिया	...	भरा	भरा	भरया
दिन्हा	...	दिया	दिया	

भाषाओं का मिला-जुला रूप गोरख आदि योगियों की 'बानियों' में और भी स्पष्ट दिखाई देता है—

(क) 'अदेखि देखिबा, देखि विचारिबा, अदिसिहि राखिबा चीया।
पाताल की गंगा ब्रह्मांड चढ़ाइबा, तहाँ विमल विमल जल पीया॥'[1]

(ख) 'आओ भाई धरि धरि जाओ, गोरखबाला भरि भरि लाओ।
झरे न पारा बाजे नाद, ससिहर सूर न वाद विवाद॥'[2]

मिली-जुली भाषा की यही परम्परा सन्तों की 'बानियों' में १५ वीं शताब्दी तक पाई जाती है। कबीर कहते हैं—

'कबीर चाला जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीराँ मुझसूं यूं कह्या, किन फुरमाई गाइ॥'[3]

लेकिन १६ वीं शताब्दी में ये जनपदीय बोलियाँ जिनका मिला-जुला प्रयोग अब तक योगियों और सन्तों ने अपनी-अपनी बानियों और पदों में साधारण जनता को समझाने के लिए किया था, जब साहित्यिक रूप लेने लगीं, तब इनका पारस्परिक साथ स्पष्ट रूप से छूट गया। ये भाषाएँ अलग अलग अपने अस्तित्व को प्रकट करने लगीं। ब्रजभाषा को 'सूर' ने एक बहुत ही परिमार्जित रूप दिया। बाद के कवियों ने धो-माँजकर उसमें ऐसी मिठास भरी कि वह सर्वप्रिय और व्यापक साहित्यिक भाषा बन गई। अवधी को

---

१ व २, डा० बड़थ्वाल—मकरन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ४

३—हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० १४९

'जायसी' और 'गोस्वामी तुलसीदास' ने सौष्ठव और प्रांजलता प्रदान की। खड़ीबोली में 'जायसी', 'सूर', 'तुलसी' आदि के समकक्ष कोई कवि न होने तथा मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के अनुकूल होने के कारण उसकी उन्नति न हो सकी और वह प्रादेशिक बोली के समान एक कोने में पड़ी रही। मुसलमानों के देश में आने और दिल्ली को अपनी राजधानी बनाने तक इसका कोई साहित्यिक रूप न था। जब पठानों ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाई तब उनको वहाँ की बोली ग्रहण करनी पड़ी। इसके बाद तो भारत में वे जहाँ-जहाँ फैलते गए इस भाषा का प्रचार बढ़ता गया। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थान पर लिखा है कि 'मुसलमानों की विजय खड़ीबोली की विजय सिद्ध हुई। वे जहाँ-जहाँ गए उर्दू के रूप में उसे साथ लेते गए।'[1] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि खड़ीबोली का प्रचार मुसलमानों द्वारा भी हुआ, और अंग्रेजों के आने तक वह समस्त उत्तर भारत तथा दक्षिण में हैदराबाद तक शिष्ट समुदाय के व्यवहार की भाषा बन चुकी थी।

खुसरो

मुसलमान कवियों की रचनाओं में खड़ीबोली के विकास की एक झलक मिलती है। इस परम्परा के प्रधान कवि अमीर खुसरो (सन् १२५३-१३२५ ई०) हैं। आप पटियाली गाँव जिला एटा के रहने वाले थे, जो ब्रज-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इन्होंने दिल्ली के ग्यारह बादशाहों का शासन काल देखा, तथा सात बादशाहों की नौकरी की। फारसी के अद्वितीय विद्वान और सुकवि होते हुए भी, हिन्दी में आपने रचनाएँ की हैं। आपने जो पहेलियाँ बुझाई—

(क) 'एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥'[2]

(ख) 'एक कहानी मैं कहूँ तू सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥'[3]

१—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : मकरन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ५, ६,
२, व ३—हरिऔध : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि० पृ० १४२-१४३

तथः जो मुकरियाँ आदि रचीं, उनमें हिन्दी (खड़ीबोली) का विकसित रूप दिखाई देता है। इनकी खड़ीबोली की कविता की भाषा इतनी प्राञ्जल और शुद्ध है कि विद्वानों को १४ वीं शताब्दी में इस प्रकार की भाषा लिखे जाने में सन्देह होता है। बाद में १५वीं शताब्दी की सन्त-बानियों में भी इस प्रकार की सुथरी भाषा के दर्शन नहीं होते। यदि खुसरो की रचना के कुछ अंश को हम यहाँ प्रक्षिप्त मान लें तो भी इस प्रतिपाद्य सिद्धान्त में कि खड़ीबोली ब्रजभाषा के साथ-साथ १४ वीं शताब्दी में काव्य-भाषा के लिए प्रयुक्त होने लग गई थी, बाधा नहीं पड़ती। खुसरो की भाषा से सम्बन्धित इस भ्रान्ति को थोड़ा स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा।

जनपदीय बोलियों—ब्रज, खड़ी, अवधी, मैथिली—का चलन खुसरो के समय से न होकर बहुत पहले से है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने एक लेख 'बोली से साहित्यिक भाषा' में जनपदीय बोलियों की प्राचीनता के सम्बन्ध में लिखा है कि उनके रूप को ठीक-ठीक जानना तो कठिन है, किन्तु सम्भवतः वे सन् ७७८ ई० के पहले से बोली जाती रही हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है—

'......इस सन् ७७८ ई० में दाक्षिण्याचार्य चिह्नोद्योतन ने 'कुवलय-माला कथा' लिखी। उसमें एक हाट का उल्लेख है जिसमें आये हुए देश-देश के बनिये अपनी-अपनी बोली में अपना-अपना माल बेचने का यत्न करते हैं। लेखक सब बोलियों का जानने वाला तो था नहीं, जिस बोली की जैसी भनक उसके कान में पड़ी होगी उसने वैसे ही उसे उस देश के बनिये के मुँह में रख दिया। मध्यदेश (हिन्दीभाषी प्रदेश) से आए हुए बनिये के मुँह से उसने 'तेरे मेरे आउ' कहलाया है। 'तेरे मेरे आउ' गठा हुआ वाक्य नहीं है। हो सकता है कि ये शब्द भी लेखक के लिये ध्वनिमात्र हों। फिर भी इस ध्वनि में हिन्दी के दो सर्व-नाम 'तेरे', 'मेरे' और एक क्रियापद 'आउ' का साफ सुनाई देना इस बात का पता देता है कि उस समय मध्यदेश में हिन्दी बोली जाती थी।'[1]

इसके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ प्राचीन ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है,

---

१. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—मकरन्द, प्रथम संस्करण, पृ० १

जैसे 'पुष्य कवि' ने ७१५ ई० में अलंकार की भाषा दोहरों में, 'अब्दुल्ला एराकी' ने ८७० ई० के लगभग कुरान का तर्जुमा हिन्दी में, 'मसऊद साद सलमा' ने लगभग ६०० ई० के हिन्दी का एक दीवान, और कालिंजर के राजा 'नन्द' ने १०१३ ई० में सुल्तान महमूद की प्रशंसा में एक हिन्दी शेर लिखा था।[1] 'मुल्लादाउद' ने १४ वीं शती में 'नूरक' और 'चन्दा' की प्रेम-कथा नामक दो हिन्दी पद्य-ग्रन्थों की रचना की।[2] किन्तु ये सब रचनाएँ अप्राप्य हैं और इनका कोई उदाहरण भी उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह कहना कठिन है कि खुसरो के समय में उस व्यवहृत हिन्दी का रूप कैसा था और वह विकास की किस अवस्था को पहुँच चुकी थी; लेकिन इससे इतना स्पष्ट है कि पठानों के राजत्वकाल के पूर्व खड़ीबोली की परम्परा, साहित्य और लोक-काव्यों के रूप में, विद्यमान अवश्य थी। उसका प्रचार इसलिए अधिक न हो सका कि उस काल के विद्वान संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में कविता करने में विशेष रुचि रखते थे और इसमें वे अपना गौरव भी समझते थे, इसीसे अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रभाव ने उसको तथा अन्य जनपदीय बोलियों— ब्रज, अवधी आदि को उस समय भी दबाए रखा जब साहित्य में उनका पूर्ण प्रवेश हो जाना चाहिए था।

अब तक विदेशी विद्वानों का सम्पर्क हमारे देश, जाति और भाषा से हो चुका था। इन विदेशी विद्वानों के लिए जैसा कि डाक्टर बाबूराम सक्सेना लिखते हैं 'ये ज़बानें—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—मुश्किल ही नहीं बेकार भी थीं।'[3] उनको केवल शिक्षित और पंडित-वर्ग के लिए कविता करना न था। वे अपनी संस्कृति और साहित्य का प्रचार चाहते थे जो यहाँ की प्रचलित तथा बोलचाल की भाषा द्वारा ही सम्भव था। ऐसी भाषा उस समय खड़ीबोली थी। अतः उसी में उन्होंने अपनी रचनाएँ तथा प्रचार-कार्य किया। इसी से खड़ीबोली को उठाने में इन विदेशियों का हाथ प्रमुख माना जाता है। 'खुसरो' के समकालीन 'ख्वाजा सैयद अशरफ़ जहाँगीर सुमानी' ने १३०८ ई० में खड़ीबोली-गद्य में पुस्तक लिखी थी।[4] 'खुसरो' एक प्रतिभा सम्पन्न महान

---

१. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—मकरन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ३
२. हरिऔध-हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० १४७
३. डा० बाबूराम सक्सेना—दक्खिनी हिन्दी, १९५२ ई०, पृ० २७
४. सरदार जाफरी—ह्वाई टू लिटरेरी फारम्स (लेख) इंडियन लिटरेचर नं० १, १९५३, पृ० ३२, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

विद्वान थे, इसलिए ऐसे कलाकार के हाथों में पड़कर यदि खड़ीबोली का रूप इतना निखर पड़ा है तो इससे आश्चर्य भी नहीं होता। परवर्ती काल के सन्त कवियों में भाषा का वैसा परिष्कृत रूप जो नहीं दिखलाई देता उसका प्रधान कारण यह है कि ये लोग विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे जिससे काव्यभाषा को उतना सुन्दर और चलता रूप देने में समर्थ हो सकते। 'कबीर' के सम्बन्ध में ही यह कहा जाता है कि उन्होंने 'कागद-मसि' हाथ से छूआ तक नहीं था। अतः उन लोगों की भाषा परवर्ती काल में भी 'खुसरो के समान सुष्ठु न बन पाई।

रेख्ता की परम्परा

१४ वीं शताब्दी से मुसलमानों के आक्रमण दक्षिण भारत पर होने लग गए थे, जिसके परिणामस्वरूप सन् १३४७ ई० में 'बहमनी सल्तनत' की स्थापना हुई। १६ वीं शताब्दी में उसके टूट जाने पर गोलकुण्डा, बीदर, बरार, बीजापुर और अहमदनगर की सल्तनतें बनीं। इन राज्यों के मुसलमान जिस हिन्दी को बोलते थे वह 'दकनी' 'दक्नी' या 'दक्खिनी' कहलाई और पद्य में उसका नाम 'रेख्ता' पड़ा। यह भाषा फारसी लिपि में लिखी जाने तथा उसमें अरबी-फारसी के कुछ व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग होते रहने पर भी हिन्दी से जिसे आज हम खड़ीबोली कहते हैं, दूर नहीं है। 'दक्खिनी शायरी' खड़ीबोली के विकास में एक ऐसी कड़ी है, जिसकी चर्चा बिना इस भाषा का इतिहास अधूरा रह जाता है। इन दक्खिनी कवियों में, जिनको खड़ीबोली की रचना में कुछ सफलता मिली, 'सादी' (१५५५ ई०) 'मुहम्मद कुली कुतुबशाह' (१५८०-१६११ ई०) 'वजही' (१६००-१६३५ ई०) 'अफजल' (१६४० ई०) 'फकीरा' (१६४५ ई०) और 'वली' (१६६८-१७७४ ई०) मुख्य हैं।[१] इनकी रचनाओं में भाषा का रूप इस प्रकार है—

> 'हमना तुमन को दिल दिया तुमने लिया और दुःख दिया।
> तुम यह किया हम वह किया यह ही जगत की रीत है।'[२]
>
> 'सादी'

---

१. अयोध्याप्रसाद गोयलीय— शेर-ओ-सुखन भाग १, १६५१ ई०
ब्रजरत्नदास—खड़ीबोली साहित्य का इतिहास, १९९८ वि०

२. हिन्दी सिद्धान्तप्रकाश, दूसरा अङ्क, १९०६ ई०, पृ० १६,
(आरा नागरी प्रचारिणी सभा)

'तुम बिन रहा न जावे अन नीर कुछ न भावे,
विरहा किता सतावै मन सेति मन मिला दो।'[१]

'मुहम्मद कुली कुतुबशाह'

'न भुइँ पर बसे वह न आसमान में।
रहा शह उसी नार के ध्यान में॥
भुलाई चंचल धन व यों शाह कों।
कि लुभवाए ज्यों कहरुबा काह कों॥
लग्या शाह उसासाँ भग्न आह मार।
कि नजदीक ना है व गुनवन्त नार॥'[२]

'वजही'

'सुनो सखियों विकट मेरी कहानी।
भई हूँ इश्क के गम में दिवानी॥
न मुझको भूख है ना नींद राता।
विरह के दर्द से सीना पिराता॥
मेरे गले में पड़ी है प्रेम फाँसी।
भया मरना मेरा औ लोग हाँसी॥
जिन्होंने दिल मुसाफिर से लगाया।
उन्होंने सब जनम रोते गँवाया॥'[३]

'अफजल'

'अल्ला नाम जपो हर साँसा। जो चाहो बैकुंठ का बासा॥
इसकी कदर मैं वेहतर जानी। किस विरते पर तत्ता पानी॥
जब जगजी लेने को आवे। तेरे कोई काम न आवे॥
ओछे पीर सों जो मिले क्यों न होवे ख्वार।
पूँछ जो पकड़े भेड़ की वार रहे ना पार॥'[४]

'फकीरा'

१. पं० रामनरेश त्रिपाठी—खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त परिचय, १६३६ ई०, पृ० १०
२. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दुस्तानी का उद्गम, संवत् १६६६ वि० पृ० ५
३ व ४. ब्रजरत्नदास—खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६६८ वि० पृ० १००-१०१

'इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिससूँ ।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज सुनाती जा ।।
मुझ दिल के कबूतर को पकड़ा है तेरी लट ने ।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा ।।
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी ।
ऐ बुत की पुजनहारी इस बुत को पुजाती जा ।।
मुख बात बोलता हूँ शिकवः तेरे कपट का ।
तुझ नैन देखने को दिल ठाँठ कर चुका था ।।'[1]

'वली'

'दक्खिनी साहित्य' में हिन्दी (खड़ीबोली) की यह परम्परा, जिसमें स्थानीय बोलचाल की भाषा का भी प्रभाव 'हमना' 'तुमन' आदि स्पष्ट दिखलाई देता है, सन् १७०० ई० तक निर्बाध चलती रही। औरङ्गजेब ने जब १६६८ ई० में दक्षिण की सल्तनतों को नष्ट-भ्रष्ट किया और औरंगाबाद को अपना केन्द्र बनाया तब इस राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव व्यापक रूप से भाषा पर भी पड़ा। उत्तर और दक्षिण के कवि एक दूसरे के सम्पर्क में आए। दिल्ली-दरबार के कवियों को एक विशाल साहित्य हिन्दी की 'रेख्ता' परम्परा में हाथ लगा। इन कवियों ने इस शैली को अपनाया, किन्तु इन्होंने धीरे-धीरे उसको अरबी और फारसी के परिधान में लपेटकर एक नवीन शैली को जन्म दिया, जिसका आगे चलकर सन् १६०० ई० के लगभग उर्दू[2] नामकरण किया गया। दूसरी ओर, दक्खिनी कवियों पर यह प्रभाव पड़ा कि उनकी भाषा में अरबी-फारसी के अव्यवहृत और

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दुस्तानी का उद्गम १६६६ वि०, पृ० ६

२. 'उर्दू' नाम कब पड़ा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मुसलमान लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न अवश्य किया है कि उर्दू नाम का प्रयोग शाहजहाँ के समय में हुआ था, किन्तु इस धारणा का अब खण्डन हो रहा है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'खड़ीबोली की कविता का संक्षिप्त परिचय' में, श्री स्वामीनाथ शर्मा ने 'भारत की भाषा' में, श्री अयोध्यप्रसाद गोयलीय ने 'शेर-ओ-सुखन' भाग १ में, तथा श्री ब्रजरत्नदास ने 'उर्दू साहित्य का इतिहास' में किया है। इनसे यह प्रकट होता है कि उर्दू नाम का प्रयोग १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से हुआ है।

कठिन शब्दों का प्रयोग होने लगा। उसका स्वतन्त्र विकास रुक गया और उसकी अवनति होने लगी। 'हिन्दीपन' जो उस भाषा का वैशिष्ट्य था, तिरोहित होने लगा। सन् १७०० ई० में 'वली' दिल्ली आए हुए थे। वहाँ उनकी भेंट सूफी कवि 'शाह सादुल्ला गुलशन' से हुई जिसके अनुरोध करने पर कि 'ये इतने फारसी के मजूमन जो बेकार पड़े हैं, उन्हें काम में ला'[१] 'वली' ने अपना रुख ही पलट दिया और अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी में कविता करने लगे। 'वली' दुबारा सन् १७२२ ई० में फिर दिल्ली आए। तत्पश्चात् उर्दू के सुधारने के लिए 'वली', 'हातिम', 'सौदा' आदि का प्रयत्न बराबर जारी रहा। मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद जब उर्दू शायरी का केन्द्र लखनऊ हुआ तब 'नासिख' तथा उसके प्रभाव से अन्य कवियों ने हिन्दी काव्य-रचना की इस परम्परा में जो कुछ भी 'हिन्दीपन' शेष रह गया था, उसका भी अन्त कर दिया। पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

> 'उर्दू की शायरी में जो थोड़ा बहुत हिन्दीपन लुका-छिपा था, वह लखनऊ जाने पर नासिख के हाथ से दूर किया गया।'[२]

'मीर तकी मीर', 'सौदा', 'मुसहिफी', 'इंशा' आदि भी लखनवी रंग से अपने को पूर्णतया न बचा सके। यहाँ तक कि 'नसीर' और 'जौक' जो दिल्ली में रह रहे थे उनके भी क्लिष्ट कलाम सामने आने लगे। तात्पर्य यह कि 'खुसरो' के समय से जिस भाषा का 'हिन्दी', 'हिन्दवी' नाम से श्रीगणेश हुआ था और जो दक्षिण भारत में 'रेख्ता' के नाम से सन् १७०० ई० तक फलती-फूलती रही, वही इस काल के उपरान्त अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित न हो सकी। अयोध्याप्रसाद गोयलीय के शब्दों में 'तास्सुब का बाँध बाँधकर (१७०० ई० के पश्चात्) उसमें से एक अलग नहर निकाली गई।'[३] उर्दू और हिन्दी की इस खाई को अंग्रेजों की विभेद नीति ने और भी गहरा किया। मि० गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' के सम्बन्ध को, जिसका प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों 'खुसरो' के समय से ही अपनी-अपनी बोली के लिए करते आ रहे थे, सन् १७७८ ई० में हिन्दुओं से जोड़कर

१. पं० रामचन्द्रशुक्ल—हिन्दुस्तानी का उद्गम, १९९६ वि०, पृ० ७
२.　　वही　　पृ० ९
३. अयोध्याप्रसाद गोयलीय—शेर-ओ-सुखन, भाग १, १९५१ ई०, पृ० २७

मुसलमानों को उससे अलग किया। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा—'Hinduvee, I have treated as the exclusive property of the Hindoos alone.[1] इसी भाँति ग्रियर्सन ने भी उर्दू का सम्बन्ध इस्लाम धर्म से जोड़ा (Islam has carried Urdu far and wide)[2] और हिन्दी को हिन्दुओं की बोली बताया (Hindi having been introduced under English influence...is a lingua franca to the Hindus.)[2] मौलवी सुलेमान नदवी ने अपने निबन्ध 'हमारी ज़बान का नाम' में अँग्रेजों की भाषा सम्बन्धी इस विषैली नीति की ओर इस भाँति संकेत किया है—

> 'जब अंग्रेजों के इकबाल का सितारा चमका तो फोर्ट-विलयम में सियासत के खिलवाड़ियों ने इल्म वो दानिश के पासे फेंके। दूरबीनी से मुल्क की दो कौमों को जो एक हजार साल की मेहनत और जद्दोजहद के बाद एक बनी थी, जिसका तमाद्दुन, जिसकी जबान और जिसकी सियासत एक हो रही थी उसको फिर दो कौमों में बाँटकर अलहदा-अलहदा करने के लिए कोशिशें शुरू कीं।'[3]

अतः अंग्रेजों ने दो जातियों के लिये दो भाषाओं के गलत सिद्धान्त को ग्रहण करके एक ही वस्तु में भेद डालकर उसने बहुत बड़ा अन्तर पैदा कर दिया। इसका फल यह हुआ कि १९ वीं शताब्दी में दो भाषाएँ एक दूसरे के समानान्तर चलने लगीं जो मूलतः एक थीं। यदि खड़ीबोली 'हिन्दी' और 'उर्दू' की दो विरोधी शैलियों में इस भाँति विभक्त न कर दी गई होती तो आज खड़ीबोली का इतिहास कुछ और ही ढङ्ग का होता।

यह खेद का विषय है कि जब १८ वीं शताब्दी से इस प्रकार हिन्दी का गला घोंटा जा रहा था, तब हिन्दू उधर से बराबर उदासीन बने रहे। खड़ीबोली को वे विदेशी भाषा समझकर प्रधान रूप से साहित्य में व्यवहृत

1 John Gilchrist : The oriental Linguistic, An Essay and Familiar Introduction to popular language of Hindoostan, Calcutta (1798). Also appeared in the "Indian Literature" No. 1, 1953 People's Publishing House, Bombay, Page 20.

2 Indian Literature' No. 1, 1953, Page 21

३. अमरनाथ झा—विचारधारा, १९४८, पृ० ७६

करने के लिए तैयार न थे। उस समय 'न वदेत् यावनीम् भाषाम् न गच्छेत यवन मंदिरम्'* जैसी भावना प्रबलतर होकर चतुर्दिक फैल रही थी।[1] उस समय के हिन्दी कवियों की इसी प्रवृत्ति को डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रकार प्रकट किया है, 'जब तक मुस्लिम सल्तनत रही खड़ीबोली···साधारणतः विदेशी भाषा समझी जाती थी'।[2] यदि ऐसा न हुआ होता तो आज उसके पीछे एक प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा होती, और १६ वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में न तो उर्दू के मुकाबले उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ता दिखाई देता और न उसे काव्य-भाषा में गृहीत किए जाने का प्रश्न ही उठता जिसके लिये उसको अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना द्विवेदी युग तक करना पड़ा। इसके विपरीत वह शताब्दियों पहले काव्य-भाषा में प्रतिष्ठित हो गई होती।

कुछ मुसलमान कवि उर्दू को अपने धर्म और संस्कृति का प्रतीक मानकर उसका झंडा लेकर आगे बढ़े और उसको अरबी-फारसी की पोशाक पहनाकर हिन्दी से पृथक करने लगे। 'सौदा' को हिन्द की ज़मीन तक नापाक दिखाई देने लगी—

'गर हो कशिस शाहे खुरासान की 'सौदा'।
सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक जमीं पर॥'[3]

फिर भी १८ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में इस परम्परा के भीतर 'मीर' (१७०६—१८०६ ई०) 'सौदा' (१७१३-१७८१ ई०) 'दर्द' (१७१५—१७८३ ई०) 'नजीर' (१७४०—१८३० ई०) 'इंशा' (मृत्यु १८१७ ई०) 'रियाज' (जन्म १८५१ ई०) आदि की रचनाओं में हिन्दीपन विद्यमान है। 'मीर' तो रेख्ते में रचना के लिए प्रसिद्ध ही थे, 'रेख्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो 'गालिब', कहते हैं अगले जमाने में कोई 'मीर' भी था'। 'खुसरो' के समान 'नजीर' की रचनाएँ शुद्ध देशी बोली में हैं जिनमें धार्मिक विद्वेष नहीं पाया जाता। 'इंशा' ने तो प्रतिज्ञा करके 'रानी केतिकी की कहानी' लिखी जिसमें

---

१. रामशंकर शुक्ल रसाल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६३१ ई० पृ० ५४२।

* किन्तु प्राचीन कथानक इस प्रकार है—'न वदेत् यावनीम् भाषां प्राणैः कण्ठ गतैरपि। हस्तिना पीडयमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्'।

२. माधुरी, वर्ष १४ खंड २, अङ्क २, पृ० २४८

३. अयोध्याप्रसाद गोयलीय—शेरोशायरी, पृ० ४५८

'हिन्दी की छुट किसी बोली की पुट' ही न थी। इन लोगों की रचनाएँ बोलचाल के कितने निकट हैं यह नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा—

'कहता है कौन तुझसे यां यह न कर तू वोह कर।
पर, हो सके तो प्यारे, दिल में टुक जगह कर॥'[1]

'मैं रोऊँ तुम हँसो, क्या जानो 'मीर' साहब।
दिल आपका किसूसे शायद लगा नहीं॥'[2]

'मीर'

'कारी रैन डरावनी, घर तें होइ निरास।
जंगल में जा सो रहे, कोऊ आस न पास॥
बैरी पहुँचे आइके, तेरी देहली पास।
वेग खबर लो या नबी! अब पत की नहिं आस॥'[3]

'सौदा'

'जग में आकर इधर - उधर देखा।
तू ही आया नज़र जिधर देखा॥
किसी की किसू तरह इज्जत है जग में।
मुझे अपने रोने से ही आबरू है॥'[4]

'दर्द'

'वाँ कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालन से यह बात कही।
औ आपी ने झट गेंद उठा उस कालीदह में फैंक दई॥
× × ×
यह लीला है उस नन्दललन मनमोहन जसुमति छैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो जै बोलो कृष्ण कन्हैया की॥'[5]

'नजीर'

'अब दिल है, 'रियाज' और न वह दिल की तमन्ना,
मँझदार में हम कश्तिए उम्मीद डुबा आए।'[6]

'रियाज'

---

१ व २. अयोध्याप्रसाद गोयलीय—शेर ओ शायरी पृ० १६४व १६६।
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दुस्तानी का उद्गम, १६६६ वि०, पृ० ६
४. अयोध्याप्रसाद गोयलीय—शेर ओ शायरी, १६५० ई० पृ० १७३, १७४
५. रघुराज किशोर—महाकवि नजीर, १६२२ ई०, पृ० ६०
६. अमरनाथ झा—विचारधारा, १६४८ ई०, पृ० २१४

'चाह के हाथों किसी को सुख नहीं।
है भला वह कौन जिसको दुःख नहीं ॥'[1]
'इंशा'

इसी रेख्ता की भाषा में दिल्ली का अन्तिम बादशाह 'बहादुरशाह' तथा लखनऊ का अन्तिम नवाब 'वाजिदअलीशाह' कविता में क्रमशः 'जफर' और 'अख्तर' उपनाम से ठुमरियाँ गा रहे थे—

'प्यारी तेरो प्यारो आयो,
प्यारी-प्यारी बातें कर प्यारे को मनाइये।
+ + +
'शाहबहादुर' तेरे रस-बस भए,
अनरस कर-कर सौत न हँसाइये ॥'[2]
'बहादुरशाह'

'सैयाँ जाव-जाव मैं नहीं बोलती।
'अख्तर' पिया सों यों जाय कहियो ॥'[3]
'वाजिदअलीशाह'

१६ वीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल से तो उर्दू अरबी-फारसी साहित्य की छाया बनकर चलने लगी और उसको समझना भी कठिन हो गया। वह अब हिन्दुओं और मुसलमानों की मिली-जुली भाषा न रह गई थी। यहाँ तक कि गदर सन् १८५७ ई० के उपरान्त तो हिन्दी-उर्दू का एक दूसरा द्वन्द्व ही प्रारम्भ हो गया था।

खड़ीबोली की शुद्ध साहित्यिक परम्परा

इस रेख्ता की परम्परा के अतिरिक्त खड़ीबोली की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में भी बिखरी पड़ी हैं, किन्तु ब्रजभाषा के प्रचुर प्रचार ने तथा हिन्दी के कवियों की खड़ीबोली को विदेशी भाषा समझने की मनोवृत्ति ने उसको १६ वीं शती से पूर्व उठने नहीं दिया। अंग्रेजी राजत्वकाल में जब अनेक

---

१. बाबू श्यामसुन्दरदास—रानी केतिकी की कहानी, २००२ वि०, पृ० ६
२. ब्रजरत्नदास—खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६६८ वि०, पृ० १६३
३. पृ० १६४

कारणों से 'हिन्दी बनाम उर्दू' का झगड़ा छिड़ा, तब हिन्दी-कवियों ने अपनी सम्पत्ति को पहचाना और उसको उचित आदर दिया। इसके पूर्व बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'यह उसकी अपनी सजीवता थी कि वह समय-समय पर स्वयं अपना सिर उठा देती थी।'[१] फिर भी ब्रजभाषा-काल के चार सौ वर्षों में ब्रजभाषा-काव्य-सरिता के बीच खड़ीबोली की जो छोटी-छोटी लहरियाँ समय-समय पर यत्र-तत्र उठती रहीं वे अविकसित अवस्था में होने पर भी एक प्राचीन परम्परा का परिचय देती हैं।

१४ वीं शताब्दी के अनन्तर सन् १३८७ ई० से १५०३ ई० तक हिन्दी साहित्य में सन्त-काव्य रचना का समय आता है। इस काल को मिश्रबंधुओं ने 'पूर्व माध्यमिक' हिन्दी काल माना है। खड़ीबोली का व्यवहार सन्त कवियों की निर्गुन बानियों में हुआ है। पर, इन लोगों की 'सधुक्कड़ी' तथा 'फक्कड़ी' भाषा नाथपंथी सिद्धों और योगियों की उस 'पंचमेल-खिचड़ी' की परम्परा में आती है, जिसमें खड़ी, अवधी, ब्रज, पंजाबी आदि भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। इनकी रचनाओं का उद्देश्य साहित्यिक न होने से उनमें बोलियों का विशुद्ध रूप कम मिलता है, जैसा कि इस काल के प्रधान सन्त 'कबीर' और 'नानक' में भाषा का यह स्वरूप देखा जा सकता है—

(क) 'कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोई।
राम कहे भला होइगा, नहिंतर भला (न) होइ॥'[२]
'कबीर'

(ख) इस दम दा मैंनूं कीवे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन का सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया॥[३]
'नानक'

पर कहीं-कहीं कुछ पद शुद्ध खड़ीबोली में भी मिलते हैं—

(क) 'आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद में, रमि रमि रहूँगा॥'[४]
'कबीर'

१. बाबू श्यामसुन्दरदास—हिन्दी-भाषा, १९४९ ई०, पृ० ९४
२. बाबू श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली, १९२८ ई० पृ० ४
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० १०३
४. बाबू श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली, १९२८ ई० पृ० ६७ भूमिका

(ख) 'सोच विचार करे मत मन में, जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
'नानक' भक्तन दे पद परसे, निस दिन राम चरन चित लाया॥'[1]
'नानक'

इसके बाद 'रैदास', 'सदना', 'धन्ना', 'पीपा' आदि अनेक सन्तों ने अपने भजनों और उपदेशों में इस भाषा का प्रयोग किया है।

दूसरा काल सन् १५०३ से १६२३ ई० का 'प्रौढ़ माध्यमिक' काल है। यह काल ब्रजभाषा और अवधी के लिये स्वर्णयुग कहा जाता है। अँधे कवि 'सूर' तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने ब्रजभाषा को, तथा 'तुलसी' ने अवधी को काव्य में प्रतिष्ठित किया। खड़ीबोली 'मुगल-सम्राट् अकबर के दरबारी कवि—'रहीम', 'टोडरमल', 'तानसेन', आदि की रचनाओं में ही प्रधान रूप से पाई जाती है, जिनमें 'रहीम' की रचना उनके अपूर्व भाषाधिकर को जताती है। उनके 'मदनाष्टक' का एक छन्द इस प्रकार है—

'कलित ललित माला, वा जवाहिर जड़ा था।
चपल-चखन वाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला॥'[2]

सन् १६२३ ई० से १८३२ ई० तक 'अलंकृत हिन्दी' का तथा सन् १८३२ ई० से १८६८ ई० तक 'परिवर्तन' का काल माना जाता है। इनमें भी ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा। सन् १७०० ई० में 'रेख्ता' का परिचय उत्तरी भारत के मुसलमान कवियों को हो गया था। 'वली' के 'कलामेरेख्ता' के सन् १७२० ई० में दिल्ली पहुँच जाने पर तो दिल्ली और लखनऊ के मुसलमान कवियों में 'रेख्ता' में रचना की धूम मच गई थी। इसका प्रभाव इस युग के हिन्दी कवियों पर भी पड़ा। ब्रजभाषा में रचना करते हुए कभी-कभी दो चार रचनाएँ उन्होंने रेख्ता में भी की हैं, पर उनके छन्द और लिपि हिन्दी के ही हैं। इस प्रकार की रचना करनेवालों में 'कुलपति मिश्र,' 'आलम', 'रघुनाथ,' 'पद्माकर,' 'सूदन', 'ग्वाल', 'आनन्दघन', 'नागरीदास', 'सीतल', 'ललित-

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिंन्दी साहित्य का इतिहास, १६६७ वि०, पृ० १०३।

२. वही पृ० २६५

किशोरी', 'ब्रजनिधि' आदि कवि प्रमुख हैं। 'सीतल' ने तो उस ब्रजभाषा युग में भी खड़ीबोली को छोड़ ब्रजभाषा में रचना ही नहीं की। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उनको हिन्दी में खड़ीबोली की नींव डालने वाला प्रथम कवि माना है।[1] इनकी सरस और प्रवाह युक्त रचना को देखकर मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में इस प्रकार लिखा है—

'......जो लोग खड़ीबोली पर यह दोष आरोपित करते हैं कि उसमें उत्तम कविता नहीं हो सकती उनको सीतल की रचना देखकर अपना दुराग्रह अवश्यमेव छोड़ देना चाहिए।'[2]

इस काल के कुछ कवियों की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

'दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
याँ गली महबूब की अराम खुसखाना है।'
+ + + +
दिल से दिलासा दीजै, हाल के न ख्याल हूजै,
बेखुद फकीर वह आशिक दिवाना है॥'[3]

'आलम' (१७ वीं शती)

'मेरे उर बीच समाय रहे वे चिन्ह अहिल्या तारी के।
दुख हरन कलुष के नास करन बारिज पद लाल विहारी के॥
शिव विष्णु ईश बहु रूप तुई नभ तारा चारु सुधाकर है।
अम्बा धारानल शक्ति स्वधा स्वाहा जल पवन दिवाकर है॥'[4]

'सीतल' (१८ वीं शती)

'हिम्मत बहादुर भूप है।
सुभ संभु रूप अनूप है॥
दिल दान बीर दयाल है।
अरिवर निकर का काल है॥'[5]

'पद्माकर' (१८ वीं शती)

---

१. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० ४३७
२. मिश्रबंधु—मिश्रबंधु विनोद, भाग २, १९७० वि०, पृ० ६३४
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इति०, १९९७ वि०, पृ० ३९६
४. मिश्रबन्धु—विनोद, १९७० वि०, पृ० ६३२, ६३३
५. ब्रजरत्नदास—खड़ीबोली हिंदी साहित्य का इति०, १९९८ वि०, पृ० १४३

'दिया है खुदा ने खूब खुशी करो ग्वाल कवि,
खाओ पिओ देओ लेओ यहीं रह जाना है।
+ + + +
आए परवाना पर चले न बहाना यहाँ,
नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है ॥'[१]
'ग्वाल' (१६ वीं शती)

'जंगल में अब रमते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुष गंध ने भाती है, संग मरकट मोर सुहता है।
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
'ललितकिशोरी' इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है ॥'[२]
'ललितकिशोरी' (१६ वीं शती उत्तरार्द्ध)

लोक-रचनाओं में खड़ीबोली का प्रयोग

इन साहित्यिक परम्पराओं के अतिरिक्त खड़ीबोली का प्रचुर प्रचार लोक रुचि के काव्यों—भगत, स्वाँग, नौटंकी, रास, लावनी, ख्याल, भजन आदि में भी हो रहा था, परन्तु इस कारण से कि उनके रचियता अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति होते थे, साहित्य ने उन रचनाओं की सदैव उपेक्षा की है। इसीसे इस समय उनकी एक भी प्राचीन प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं है। जो रचनाएँ उपलब्ध भी हैं उनके अधिक काल तक मौखिक बने रहने पर उनकी भाषा के स्वरूप में सन्देह किया जा सकता है। फिर भी इतना असंदिग्ध और निर्विवाद है कि उनकी भाषा खड़ीबोली थी और उसमें उनका प्रचार बहुत दिनों से हो रहा था। इस सम्बन्ध में पं० श्रीधर पाठक ने नवम्बर, १६१० ई० की "मर्यादा" में लिखा है कि 'हरिद्वार' कनखल, ज्वालापुर, मेरठ, मुरादाबाद, बुलन्दशहर, हाथरस, आगरा आदि स्थानों में 'भगत' और 'स्वांग' नामक परमरोचक और अवलोकनीय अभिनय इस बोली के गद्य, पद्य में स्मरणातीत समय से होते चले आ रहे हैं।[3] इनकी

१. ब्रजरत्नदास—खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६६८ वि०, पृ० १४३

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६६७ वि० पृ० ७२०

३. मर्यादा, भाग १ संख्या १, नवम्बर १६१०, पृ० २१

परम्परा अब भी इन स्थानों में न्यूनाधिक विद्यमान है। इनकी रचनाएँ उन्हीं पुरानी कथाओं—'अमरसिंह राठौर', 'दयाराम गूजर', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भगत पूरनमल', 'श्रवण चरित्र' आदि पर खड़ीबोली में रची जाती हैं, जो उस भाषा और परम्परा का स्मरण दिलाती हैं, जिनका प्रचार पिछली शताब्दियों में रहा है।

पं० बदरीनाथ भट्ट का एक लेख 'खड़ीबोली की कविता' शीर्षक से 'द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की लेखमाला में सन् १६११ ई० में प्रकाशित हुआ था। वही बाद को 'सरस्वती' मार्च १६१३ ई० में प्रकाशित हुआ, इसमें उन्होंने 'लल्लूलालजी' के वंशज 'मन्नूलालजी' द्वारा 'भगत' के लिए रचे गए 'सीताराम चरित' नामक एक अप्रकाशित नाटक के कुछ अङ्कों का अपने पास होना बताया है। उनसे कुछ उदाहरण भी उन्होंने उद्धृत किए हैं, जिनका कुछ अंश इस प्रकार है—

१. जनक की सभा में रामचन्द्र, लक्ष्मण का आना

'उसी वक्त दरम्यान सभा के,
राजकुँवर दोनों आये।
जों तारों के बीच चन्द दो,
जोति, छटा, छबि से छाये॥'[1]

२. बाणासुर का वचन रावण के प्रति

'बाणासुर सुनकर कहै, सुन रावण दससीस।
यार सभा से उठ चलो, (नहिं) होय तुम्हारी खीस॥
होय तुम्हारी खीस सुनो,
दससीस बीस भुज भारी।
शिव पिनाक नहिं उठै, कटैगी
आखिर नाक तुम्हारी॥
चुपके ही उठ चलो सभा से,
मानो बात हमारी॥
लाज शरम रह जाय इसी में,
मत बजवावो तारी॥'[2]

१. सरस्वती, भाग १४, खंड १, संख्या ३, पृ० १७६
२. वही

३. जयमाल डालने का वर्णन

विजयमाल लेकर चली, सिया सखिन के संग।
रंगभूमि में उस समय, बरस रहा रस रंग ।।
बरस रहा रस रंग सिया ने
कर सरोज लेकर जयमाल।
राघोजी के उर पहिराई,
प्रेमफंद का पड़ गया जाल ।।
सखियाँ कहैं राम पद परसो
डरपैं सुधि कर गौतम बाल।
प्रीति अलौकिक देखि सिया की
मन में विहँसे राम दयाल ।।'[1]

इन पदों में एक अनूठा स्वाद भरा हुआ है। इस प्रकार का स्वाभाविक और सरस प्रवाह तो कितनी साहित्यिक रचनाओं में भी देखने को नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त हाथरस वाले चिरंजीलाल व पं० नथाराम शर्मा का 'श्रवणचरित' 'साँगीत चित्रकूट' लाला गोविन्दराम का 'साँगीत भैन-भैया' ओरई के पं० मातादीन चौबे का 'साँगीत पूरनमल' 'सुदामा चरित' 'साँगीत हरिश्चन्द्र' तथा लछमनदास कृत 'गोपीचन्द भरतरी' आदि रचनाएँ मिलती हैं। इनका रचना-काल २० वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्ष होने पर भी वे उसी प्रवृत्ति को पुष्ट करती हैं जिनका प्रचलन १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में था। इनकी भाषा ब्रजमिश्रित है, फिर भी ये रचनाएँ प्रधानतः खड़ीबोली में हैं—

'जो कुछ लिखो विधि, सो भई होतव्यता बलवान है।
खेंचौ हृदय से बाँण अब, निकसन चहत मम प्रान है ।।
करके कृपा तकलीफ इतनी, और आप उठाइये।
माता पिता प्यासे मेरे, जाकर उन्हें जल प्याइये ।।
दक्षिण दशा वट का विटप, यहाँ से प्रत्यक्ष दिखात है।
कावरि टँगी एक तहाँ पर, तामें मेरे पितु मात हैं ।।

१. सरस्वती, भाग १४, खंड १, संख्या ३, पृ० १७९

जब तक न जल पीवैं न तब तक आप मुख से बोलियो।
पहले उन्हें जल पिला, पीछे भेद अपनो खोलियो॥'[1]

'श्रवण चरित'—पं० नथाराम शर्मा

इसी प्रकार काशीगिरि उपनाम 'बनारसी' जो मिर्जापुर के तुकनगिरि के शिष्य परम्परा में आते हैं प्रसिद्ध लावनीबाज हुए और उन्होंने 'लावनी' (१८७७ ई०, द्वितीय संस्करण) 'लावनी ब्रह्मज्ञान' (१८७७ ई०) 'ख्याल' (१८८३ ई०) आदि रचनाएँ की हैं। उनकी एक लावनी इस प्रकार है—

'तुम जो चाहो सो करो आप यदुराई।
राई से गिरि कर देते गिरि से राई॥
है सत्य सत्य साँची तेरी प्रभुताई।
तर गये वही जिसने तुमसे लव लाई॥
कहैं 'देवीसिंह'* जिन तुम्हारी महिमा गाई।
वह भवसागर से पार उतर गया भाई॥
कहैं 'बनारसी' यह राखो लाज हमारी।
करुणानिधि करुणा करो मैं शरण तुम्हारी॥'[2]

गणेशप्रसाद फर्रुखाबादी भी एक प्रसिद्ध लावनी रचयिता थे। मिश्र-बंधुओं ने इनका रचना काल सन् १८४३ ई० से १८७३ ई० तक माना है। इनकी लावनी के सम्बन्ध में मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि 'ऐसी सजीव कविता बड़े-बड़े कवि रचने में समर्थ नहीं हुए हैं।'[3] इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

'वदन ससि मदनभरी प्यारी।
अदा की बाँकी ब्रजनारी॥
सीस पर गोरस की गगरी।
रूप रस जोबन की अगरी॥

१ पं० नथाराम शर्मा—श्रवण चरित, पृ० ३६
(श्याम प्रेस, हाथरस)

* देवीसिंह, काशीगिरि 'बनारसी' के गुरू थे।

२. काशीगिरि बनारसी—वृहद्‌लावनी ब्रह्मज्ञान, सन् १६५० पृ० १०२

३. मिश्रबन्धु—मिश्रबन्धु विनोद, भाग ३, १६७० वि० पृ० १०६१

बजा छमछम पायल पगरी ।
गई ग्वालिन गोकुल नगरी ।।'[1]

डा० केसरीनारायण शुक्ल ने भी अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्यधारा' में भारतेन्दु युग के लावनी-वाङ्मय से कुछ उदाहरण दिए हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में जमशेद जी होरमस जी पीरान के 'कलगी के दिलपसन्द ख्याल' (१८८२ ई०) नन्दलाल का 'तुर्रीराग' (१८८३ ई०) आदितराम जोइतराम तथा जोशी मनसुखराम के 'कलगिनी लावनियों' (१८८७ ई०) तथा शम्भुदयाल का 'अमसी व लावनी ख्यालात तुर्री' (१८८८ ई०) रचनाओं की चर्चा की है। १९ वीं शताब्दी में लावनी का बड़ा प्रचार था। लावनी और ख्यालबाजी की प्रतियोगिताएँ होती रहती थीं। बहुधा इनके अखाड़े जुटा करते थे। जनता इनमें विशेष रुचि लेती थी। जनता की रुचि के ही अनुसार इनकी भाषा प्रायः खड़ीबोली होती थी। बाद में उर्दू के छन्दों—छोटी, लंगड़ी, खड़ी, नई, जीकी, शिकिस्ता आदि के प्रयोग से इसकी भाषा अरबी-फारसी मिश्रित होने लगी।

इसके सिवा, लोक-गीतों में सामयिक बातों पर भी रचनाएँ खड़ीबोली में हो रही थीं जिनका एक उदाहरण डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१९०० ई०) में इस प्रकार दिया है—

'राजा फिरंगी रेल चलाई, छिन में आती जाती है।
धिग् ही दिल्ली, धिग् ही आगरा, धिग् ही भरतपुर जाती है ।।
अन्न न खाती पानी न पीती धुँआ के बल से जाती है।
कच्ची सड़क पर वह नहिं चलती, लोहे लट्ठों पर जाती है ।।'[2]

ईसाईयों तथा आर्य समाजियों ने भी अपने भजन और उपदेशों में खड़ीबोली का व्यवहार किया है। ईसाईयों के भजन भाषा की दृष्टि से शिथिल हैं—'क्यों मन भूला है यह संसारा, मन मत दे टुक कर ले गुजारा' (१८८९ ई०)।[3] किन्तु आर्यसमाजियों की प्राथमिक रचनाएँ शिथिल होने पर भी शुद्ध खड़ीबोली में हैं—

---

१. मिश्रबन्धु—मिश्रबन्धु विनोद, भाग ३, १९७० वि० पृ० १०९२
२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई०) १९४८ ई०, पृ० ९१
३. वही, पृ० १९८

'तू प्रभु हमरा पालन हारा।
विनय सुनो हरि हे कर्तारा॥
कोमल मन हो दया मैं राखूँ,
निसि दिन प्रेम भोज को चाखूँ॥
सदा रहूँ मैं आज्ञाकारी,
बुद्धि मेरी रहे सुचारी॥
मेरी वाणी मीठी होवे,
उत्तम गुण यह कभी न खोवे॥
मैं सतसंग से प्यार बढ़ाऊँ,
खोट मार्ग पर कभी न जाऊँ॥'

—लाला देवराज कृत 'सप्ताङ्गी प्रार्थना' सन् १८८७ ई०

शुद्ध साहित्यिक क्षेत्र से दूर इस प्रकार खड़ीबोली में लिखे जाने वाले इन धार्मिक भजन और उपदेशों ने तथा जन-साधारण के मनोरंजनार्थ रचे जाने वाले इन 'स्वांग' 'भगत' 'खंड' 'लावनी' 'ख्याल' 'कजली' आदि ने परोक्ष रूप से काव्य-भाषा के लिए खड़ीबोली के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। इनके रचयिता किसी मनोभावना से प्रेरित होकर खड़ीबोली का व्यवहार लोक-काव्य में नहीं कर रहे थे। उनके समक्ष 'खड़ीबोली बनाम 'ब्रजभाषा' तथा 'खड़ीबोली बनाम उर्दू' का प्रश्न ही न था। इन लोगों ने तो उस भाषा का प्रयोग किया जिसे साधारण जनता बड़ी सुविधा से बोलती और समझती थी। इनके लोक-गीतों का जनता में इतना स्वागत हुआ कि उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा, और भारतेन्दु युग के प्रायः सभी प्रमुख कवि इस ओर आकृष्ट हुए। उस युग के साहित्य में लोक-वाङ्मय का एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया। भारतेन्दु जी ने 'फूलों का गुच्छा' (१८८२ ई०) पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'मन की लहर' (१८८५ ई०), पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०), पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'कजली कादम्बिनी' (१८६०), बाबू बालमुकुन्दगुप्त ने 'जोगीड़ों का संग्रह' (१८८७ ६६ ई०) लिखा। 'पाठक' जी के 'एकान्तवासी योगी' के प्रकाशित होने पर तो काव्य-भाषा के लिए खड़ीबोली और ब्रजभाषा का संघर्ष ही छिड़ गया। परन्तु लोक-काव्य ने खड़ीबोली की नींव को इस भाँति दृढ़ कर रखा था कि उसको उखाड़ने के लिए उसके विरोधियों द्वारा किए गए सम्पूर्ण प्रयत्न व्यर्थ हुए। श्रीकृष्णदेवगौड़ इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि—

'रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा, लावनी आदि गानों से खड़ीबोली का गढ़ दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली। इन्होंने इतने मज़बूत मसाले से खड़ीबोली की ईंट जोड़ी कि सारा प्रहार निष्फल हो गया।'[1]

खड़ीबोली को काव्यभाषा बनाने का प्रथम प्रयास

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि खड़ीबोली का अस्तित्व काव्य-साहित्य में पाया तो १४ वीं शताब्दी से जाता है, किन्तु उसको सर्वमान्य काव्य-भाषा बनने का सौभाग्य भारतेन्दु युग तथा उसके आगे आने वाले युग में ही प्राप्त हो सका। इसके कतिपय ऐतिहासिक कारण थे। इस समय तक 'उर्दू' अपना अस्तित्व हिन्दी से अलग करके उसकी प्रतिद्वन्द्विता बड़े जोरों के साथ कर रही थी, जिसके कारण हिन्दी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ा हुआ था। उसका मुकाबला करने के लिये एक सर्वाङ्गपूर्ण भाषा की, जिसमें गद्य और पद्य दोनों भाग हों, आवश्यकता थी। ब्रजभाषा इसके लिए असमर्थ थी। गद्य में उसका विकास न हो सकता था। यह क्षमता खड़ी-बोली में थी। गद्य में वह स्थान बना चुकी थी और लोक-काव्य में उसका खूब व्यवहार हो रहा था। इसलिए साहित्य के पद्य-क्षेत्र में उसको बड़ी आसानी से अपनाया जा सकता था और वह उर्दू से भी टक्कर ले सकती थी। दूसरे, खड़ीबोली के अधिकाधिक प्रसार से जन-रुचि भी उसके निकट पहुँचती जा रही थी। ऐसी अवस्था में काव्य-भाषा में उसका गृहीत होना आवश्यक हो गया था।

परिस्थिति की इस गम्भीरता को सबसे पहले भारतेन्दु बाबू ने पहचाना। सन् १८८१ ई० में उन्होंने कुछ खड़ीबोली के पद बनाकर 'भारतमित्र' पत्र में प्रकाशित कराए और विद्वानों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया। उनके अतिरिक्त, खड़ीबोली में रचना करने की ओर अग्रसर होने वाले उनके समसामयिक अनेक कवि हैं, जिन्होंने खड़ीबोली में रचाएँ की हैं। पर वे हिन्दी साहित्य में विख्यात न हो सके। ऐसे कवियों में बाबू लक्ष्मीप्रसाद (मुजफ्फरपुर, बिहार) तथा बाबू महेशनारायण (पटना) के नाम उल्लेख-नीय हैं। बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने सन् १८७६ ई० में 'गोल्डस्मिथ' कृत 'हरमिट' का 'योगी' के नाम से अनुवाद किया, और 'भारत-दुर्दशा' पर कुछ कविताएँ

१. कृष्णदेव गौड़—आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति, १९२९ ई० पृ० ३

लिखीं, जो 'बिहार-बन्धु' ६ दिसम्बर, सन् १८७६ ई० में प्रकाशित हुई थीं, और बाद में बाबू अयोध्याप्रसादखत्री ने उनको अपनी पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य' भाग १ (सन् १८८७ ई०) में संकलित किया। बाबू महेशनारायण ने सन् १८८१ ई० में 'स्वप्न' पर एक लम्बी कविता लिखी थी। इसको भी बाबू अयोध्याप्रसादखत्री ने अपनी उक्त पुस्तक में संग्रहीत किया। यह कविता उर्दू के चलते शब्दों में की गई है। चूँकि बाबू साहेब उर्दू को खड़ीबोली की एक शैली (style) मानते थे, इसलिए उसको भी उन्होंने खड़ीबोली के पद्य में स्थान दिया। इस कविता का एक पद इस प्रकार है—

'स्वप्न'

'थी अँधेरी रात, और सुन्सान था,
और फैला दूर तक मैदान था,
जंगल भी वहाँ था,
जानवर का गुमा था,
बादल था गरजता,
बिजली थी चमकती,
वो बिजली की चमक से रोशनी होती भयंकर सी।
ईश्वर के जमाल का नमूना वाँ था,
ईश्वर के कमाल का खजाना वाँ था।'[1]

तत्कालीन खड़ीबोली की और भी अन्य रचनाएँ बाबू अयोध्याप्रसाद-खत्री की पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य', जो दो भागों में सन् १८८७-८६ में प्रकाशित हुआ, में संग्रहीत हैं। इस प्रकार भारतेन्दु बाबू के जीवन काल में खड़ीबोली का प्रथम प्रयोग काव्य-भाषा के लिये चलता रहा। उनकी मृत्यु (१८८५ ई०) के उपरान्त इसने आन्दोलन का रूप ले लिया, जिसका विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

इस प्रकार खड़ीबोली की बढ़ती हुई शक्ति का अपना एक इतिहास है और उसके पीछे उसकी एक कितनी भी क्षीण सही साहित्यिक परम्परा है। उसके ऐतिहासिक महत्व ने ही उसको भारतेन्दु युग में उठाया और परवर्ती काल में उसको काव्य में प्रतिष्ठित किया। न इसके 'ईजादबन्दा' बाबू अयो-

---

१. अयोध्याप्रसाद खत्री—खड़ीबोली का पद्य भाग १, १८८७ ई०, पृ० १७ (पद्यभाग)।

ध्याप्रसाद खत्री थे और न यह खड़ीबोली के पक्ष समर्थक उन विद्वानों की 'हिमायत' ही थी, जो उसको काव्य-भाषा के आसन पर बैठाना चाहते थे। यदि ब्रजभाषा के प्रशंसक विद्वान ब्रजभाषा का मोह छोड़कर उन ऐतिहासिक कारणों पर ध्यान देते जो खड़ीबोली की शक्ति को बढ़ा रहे थे तो इस विवाद की आवश्यकता ही न पड़ती। किन्तु, खेद है कि हिन्दी में यह गृह-कलह उस समय छिड़ा जब बाहर उसको उर्दू से भी कठिन द्वन्द्व का सामना करना पड़ रहा था।

तीसरा अध्याय

भारतेन्दु युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद का ऐतिहासिक दिग्दर्शन

प्रवेश

भारतेन्दु युग बड़े उथल-पुथल का था। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे। इस प्रक्रिया का प्रभाव हमारे हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा।

इस युग के आरम्भ होने तक हमारा साहित्य प्रायः पंगु था। गद्य का उसमें पूर्ण विकास न हो पाया था। उर्दू में गद्य की पूर्ति हो रही थी। अंग्रेजी साहित्य में भी जिसके सम्पर्क में अब तक हम लोग आ चुके थे, गद्य का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर हो रहा था। इसलिए इस युग के प्रारम्भ होने पर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अपनी इस कमी की ओर आकर्षित हुआ। भारतेन्दु तथा इस काल के अन्य कवि कार्य-क्षेत्र में उतरे और इनके संगठित प्रयास द्वारा खड़ीबोली-गद्य का विकास द्रुतगति से होने लगा। थोड़े ही काल में उन लोगों ने उसको परिष्कृत और परिमार्जित करके एक सुव्यवस्थित और चलता रूप दे दिया।

भारतेन्दु युग में कविता की भाषा परम्परा से चली आती हुई ब्रजभाषा थी। जब खड़ीबोली-गद्य का एक परिनिष्ठित रूप साहित्य में स्थिर हो गया तब हिन्दी साहित्य के भीतर भाषा की दो धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। बाद में विद्वानों को यह बात भी खटकी और इस साहित्यिक विच्छेद को दूर करने के लिये वे पुनः अग्रसर हुए, परन्तु इस बार उन लोगों का प्रयत्न संगठित न था। वे दो दलों में विभक्त हो गए। खड़ीबोली और ब्रजभाषा सम्बन्धी यह विवाद इसी के परिणामस्वरूप छिड़ा।

इस युग के नायक थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र। उनसे कितनी ही बातों और विचारों को बल मिला था और कितनी ही विचारधाराएँ उनसे पुष्ट हुई थीं। खड़ीबोली की इस समस्या को भी लेकर वे आगे बढ़े और अपने ही हाथों उन्होंने खड़ीबोली में काव्य-रचना का सूत्रपात्र किया। किन्तु उनकी अप्रत्याशित मृत्यु (१८८५ ई०) के उपरान्त उनकी इस विचारधारा ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया।

इस युग के खड़ीबोली-आन्दोलन के अगुआ थे बिहार निवासी बाबू

अयोध्याप्रसाद खत्री। खड़ीबोली के पद्य के प्रचार हो जाने ही को वे अपने जीवन का प्रधान उद्देश्य समझते थे। इसी के लिए वे सदा व्यस्त रहे। वे सदैव अपने पास एक बही रखते थे और विद्वानों से मिलने पर खड़ीबोली में कविता करने के अनुमोदन स्वरूप उसमें उनके हस्ताक्षर ले लिया करते थे। उन्होंने 'खड़ीबोली का पद्य' नामक संग्रह दो भागों में, प्रथम भाग सन् १८८७ ई० में तथा दूसरा भाग सन् १८८६ ई० में, प्रकाशित कराया। इस पुस्तक को उन्होंने विद्वानों में निःशुल्क वितरित किया और उनका ध्यान इधर आकर्षित करते हुए खड़ीबोली को काव्यभाषा का माध्यम स्वीकृत करने का नारा लगाया। बस फिर क्या था, इस बात को लेकर हिन्दी-साहित्य-रसिकों के बीच वाद-प्रतिवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगी। प्रधान रूप से एक तरफ पं० श्रीधर पाठक, बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री स्वयं और 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादक खड़ीबोली का पक्ष लेकर तथा दूसरी ओर पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि ब्रजभाषा का पक्ष लेकर भिड़ गए। इन लोगों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में जिन-जिन विचारों को लेकर अपनी प्रौढ़ लेखनी चलाई उसी का दिग्दर्शन कराना इस अध्याय का उद्देश्य है।

भारतेन्दु जी के विचार तथा उनकी प्रतिक्रिया

भारतेन्दु बाबू ने निम्नलिखित कुछ पद खड़ीबोली में बनाकर, १ सितम्बर १८८१ ई० में 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ भेजे थे।

दोहा—

'बरसा सिर पर आ गई, हरी हुई सब भूमि।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमर गण झूमि॥
खोल खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥'[1]

गीत—

'गरमी के आगम दिखलाए रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥

१. डा० रामविलास शर्मा—भारतेंदु युग, पृ० १६६

ठंढा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरिस फूलों की कोसों तक छाई ।।
उपवन में कचनार, बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले ।।'[१]

उर्दू छंद—

'कहाँ हो ए हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़कर मुझको सिधारे ?
बुढ़ापे में य' दुख भी देखना था !
इसी को देखने को मैं बचा था ।।'[२]

इन पदों के साथ एक पत्र भी उन्होंने सम्पादक को लिखा था, जिसमें अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया था—

'......प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है, देखिएगा इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ीबोली) का काव्य अच्छा होगा कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।... ...लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।'[3]

खेद है कि उनको 'स्पष्ट अनुमति' कहीं से भी न मिल पाई। फिर भी काव्य में खड़ीबोली की गुरुता को समझते हुए उनका यह प्रयोग बन्द न हुआ था। एक नवीन प्रयोगशील कवि की भाँति वे खड़ीबोली में कविता करते रहे—

क. 'साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं, कुछ तेरा है।'[४]

१. डा० रामविलास शर्मा—भारतेंदु युग, पृ० १६६
२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ३३५
३. डा० केशरीनारायण शुक्ल—आधुनिक काव्यधारा, पृ० १३५
४ डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग, पृ० १७१

ख. 'तुझ पर काल अचानक टूटेगा।'[1]

ग. 'जग की लात करोरन खाया।'[2]

....

घ. 'डंका कूच का बज रहा मुसाफिर।[3]

आदि।

भारतेन्दु बाबू ब्रजभाषा के सिद्ध-हस्त कवि थे और उसमें उनकी सरस-रचनाएँ भी हो रही थीं। खड़ीबोली में उनका हाथ सधा हुआ न होने से निःसन्देह उसमें उनको विशेष परिश्रम करना पड़ता था। दूसरे, खड़ीबोली की दीर्घ-क्रियाएँ उसके काव्य को ब्रजभाषा के समान सरस न बनने देती थीं। इसीसे उनका चित्त खड़ीबोली की रचनाओं से सन्तुष्ट न हुआ था; और वे उन्हें अटपटी लगी थीं। इन्हीं व्यावहारिक कठिनाइयों को उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में दिखलाते हुए इस प्रकार लिखा था कि 'जो हो मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है।'[4] इस कथन से भारतेन्दु बाबू का यह अभिप्राय कदापि न था कि खड़ीबोली में कविता नहीं होनी चाहिए, अथवा नहीं हो सकती, और न वे खड़ीबोली में पद्य-रचना से कभी हताश ही हुए थे। बल्कि, भारतेन्दु बाबू से खड़ीबोली में रचना करने की कितनों ने प्रेरणा ली। पं० शुकदेवविहारी मिश्र लिखते हैं—

'खड़ीबोली का काव्य-क्षेत्र में वस्तुतः सच्चा संचार भारतेन्दु बाबू ने ही किया और उसकी ओर सुकवियों का ध्यान स्वमेव पथ-प्रदर्शन करते हुए उन्हीं ने आकर्षित किया है। उनसे ही प्रभावित होकर उनकी मित्र-मण्डली के कतिपय कवियों ने खड़ीबोली में भी रचनाएँ कीं और

१ से ३. डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग, पृ० १७१
४. भारतेन्दु—हिन्दी भाषा, पृ० २

इस प्रकार खड़ीबोली को काव्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया।'[1]

यदि उनका मनोभाव लेशमात्र भी यह होता कि खड़ीबोली में रचना नहीं हो सकती तो वे इस कार्य में बराबर प्रयत्नशील कभी न रहते। थोड़ी-सी ढील जो हम उनमें पाते हैं, उसका एकमात्र कारण यह था कि उनको इस सम्बन्ध में कहीं से प्रोत्साहन न मिल पाया। फिर भी वे परिश्रम करने को तैयार थे और यदि कुछ काल तक और जीवित रहते तो अपनी प्रतिभा द्वारा उन कठिनाइयों पर भी शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते जो खड़ीबोली में सरस रचना को असफल बना रही थीं। 'दशरथ विलाप' उनकी प्राथमिक रचना होते हुए भी उनको उसमें काफी सफलता मिली थी। राजा शिवप्रसाद को यह रचना इतनी पसन्द आई थी कि उसे उन्होंने अपने 'गुटका' में स्थान दिया था। लोगों को भी उनकी यह रचना बहुत ही प्रिय लगी थी और दीर्घकाल तक वर्नाक्यूलर की पाठ्य-पुस्तकों में वह स्थान पाती रही।

उनके जीवन-काल में उनके उक्त विचार पर जिसे उन्होंने 'हिन्दीभाषा' में प्रकट किया था, किसी ने यह छेड़खानी नहीं की कि क्या सचमुच वे खड़ीबोली में काव्य-रचना को असम्भव समझते थे ! लेकिन उनकी मृत्यु के उपरान्त ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के लिए अडिग देखने वाले विद्वान उनके उस कथन को अपने मत के समर्थन के लिए 'सूत्र' बनाए हुए थे। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य' की आलोचना में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपने पत्र 'ब्राह्मण' में लेखक के प्रयत्न को व्यर्थ बताते हुए लिखा था कि 'आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेंदु जी ही से जब यह कार्य न हो सका तो यत्न निष्फल है।'[2] इसी प्रकार ग्रियर्सन महोदय ने भी भारतेन्दु बाबू की असफलता की ओर संकेत करते हुए बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के परिश्रम को निष्फल बताया। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपनी पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य' ग्रियर्सन साहब के पास विचारार्थ भेजी थी। ग्रियर्सन साहब ने 'गया' से जो पत्र बाबू साहेब को तारीख ६ सितम्बर १८८८ ई० में लिखा था उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

१. पं० शुकदेवबिहारी मिश्र—आधुनिक ब्रजभाषा काव्य, पृ० ३, (प्राक-प्रवचन)

२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० २४

"I am strongly of opinion that all attempts at writing poetry in Khari Boli must be unsuccessful. The matter was fully discussed some year ago by Babu Harishchandra of Banaras and I consider his arguments convincing."[1]

लोगों के 'भारतेन्दु' के नाम की इस प्रकार दुहाई देने से चिढ़कर बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने एक लेख 'एक अगरवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना' शीर्षक से प्रकाशित कराया था, जिसमें बाबू साहब ने बड़े जोश से लिखा था कि 'बाबू हरिश्चन्द्र ईश्वर नहीं थे।'[2] इसका तात्पर्य यह था कि यदि बाबू हरिश्चन्द्र को खड़ीबोली में काव्य रचना की व्यक्तिगत असफलता मिली तो इससे दूसरों को आगे बढ़ने का सदा के लिए द्वार बन्द नहीं हो गया। इसी दृष्टिकोण को पं० श्रीधर पाठक ने भी 'हिन्दोस्थान' ता० ८ मार्च, सन् १८८८ ई० में इस प्रकार प्रकट किया था कि 'यदि एक सत् कवि (भारतेंदु) का यह कथन अकाट्य प्रमाण भी माना जाय तब भी इस प्रकार की कविता विषयक असम्भवता सिद्ध नहीं होती।'[3] 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादक ने ता० ३ अप्रैल, सन् १८८८ ई० की सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था कि 'श्री हरिश्चन्द्र के छोड़ने से क्या खड़ी हिन्दी की कविता सदा सर्वदा के लिए सबके छोड़ने योग्य हो गई ?'[4] खड़ीबोली के समर्थकों की यह एक बड़ी प्रगतिशील भावना थी। ऐसे ही लोग मार्ग में अड़ी 'असम्भव' की कठोर शिला को हटाकर नवयुग का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु बाबू इस युग के महापुरुष थे। उनकी प्रतिभा में इस काल के कवियों को पूर्ण विश्वास था, पर उन लोगों की यह भावना कि जो कार्य भारतेंदु बाबू से न हो सका, उसको दूसरा भी नहीं कर सकेगा एक प्रकार की अन्धश्रद्धा ही कही जाएगी और इस प्रकार की अन्धश्रद्धा प्रगति के मार्ग की सदैव प्रतिबंधक रही है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में 'यदि भारतेंदु बाबू का वही मत होता, तब भी उसका खण्डन आवश्यक

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ४५
२. वही, पृ० ४६
३. वही, पृ० २४
४. वही, पृ० ५०

था ।'[1] खड़ीबोली को काव्य-भाषा में प्रतिष्ठित करने वाले विद्वान यही कर रहे थे । इसी से खड़ीबोली की उन्नति हुई और वह अपना स्थान घोर विरोध के होते हुए भी काव्य में बना सकी ।

ब्रजभाषा के समर्थक विद्वान चुप बैठने वाले नहीं थे । 'हिन्दोस्थान' २१ मार्च, सन् १८८८ ई० में एक लेख पं० प्रतापनारायण मिश्र का प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने पं० श्रीधर पाठक को ललकार कर कहा कि यदि आप खड़ीबोली में काव्य-रचना को असम्भव नहीं मानते तो 'प्रत्यक्ष को क्या प्रमान ! कोई पिंगल लेके बैठिये (कहिए तो छन्दार्णव मैं भेज दूँ) और इसी 'हिन्दोस्थान' में प्रत्येक छन्द के उदाहरण आप खड़ीबोली में दे चलिए और मैं ब्रजभाषा में, फिर देखिए क्या होता है !'[2]

इस प्रकार भारतेन्दु बाबू के विचार को लेकर आलोचना-प्रत्यालोचना चलती रही । ब्रजभाषा-पक्ष के समर्थक विद्वानों ने यह समझने का प्रयत्न नहीं किया कि गद्य की भाषा मे कविता करने का कोई मौलिक प्रस्ताव न तो स्वयं भारतेन्दुजी ने रखा था और न खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वानों ने, बल्कि सामयिक विचारधारा से कि गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए, वे लोग प्रभावित होकर इधर अग्रसर हुए थे । भारतेन्दुजी ने उसका प्रथम प्रयोग किया । गद्य की भाषा में पद्य रचना करने की प्राथमिक कठिनाई उनको अवश्य थी । उसी को उन्होंने थोड़ा विज्ञापित किया था, जिसे समझने में ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों से भूल हुई और वे यह मान बैठे कि जब भारतेन्दु बाबू से ही 'यह कार्य न हो सका तो यत्न निष्फल है ।'[3] लेकिन भारतेन्दु बाबू उसमें रचना करते रहने के साथ-साथ यह चाह रहे थे कि अन्य लोग भी उसमें प्रयोग करें । वे अन्त तक उसमें यदा-कदा कविता करते देखे जाते हैं । कुछ खड़ीबोली की रचनाएँ जैसे 'डंका कूच का बज रहा मुसाफिर' आदि तो उनके जीवन के शेष दिनों में ही होती रहीं । उनका यह कार्य इस बात का प्रबल प्रमाण है कि वे खड़ीबोली में काव्य-रचना के न तो विरोधी थे, और न उसमें काव्य-रचना को असम्भव ही मानते थे ।

१. डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग, पृ० १७२

२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३१

३ वही, पृ० २४

खड़ीबोली में काव्योचित गुण का अभाव ?

फेड्रिक पिंकाट ने बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री की संग्रहीत 'खड़ीबोली का पद्य' पुस्तक की भूमिका लिखी है। इसमें उन्होंने यह दिखलाया है कि उस समय कुछ लोगों की ऐसी धारणा थी कि खड़ीबोली 'गँवारू बोली' है (They esteem it the uncourtly idiom of the vulgar)[१] और वह काव्य-भाषा के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। यही कारण है कि जब पहले-पहल आर्य समाजियों और ईसाई मिसनरियों ने अपने धर्म-प्रचार के लिये सर्व साधारण में प्रचलित इस भाषा में रचना करना आरम्भ किया तब अलंकार आदि से रहित उनकी रचनाओं को देखकर कुछ विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के बहुत बड़े अहित की कल्पना की। इस सम्बन्ध में पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'हिन्दोस्थान' ता० ११ नवम्बर, १८८७ ई० में जो अपना विचार प्रकट किया था वह इस प्रकार है—

> '......इस समय में हमारे परम आतुर आर्य समाजी और मिशनरी आदिकों ने भाषा साहित्य की रीति और अलंकार आदि बिना जाने कविता लिखने का प्रारम्भ करके अपने हास्य के सिवा काव्य की उलटे छुरे से खूब हजामत की है ! और इस पिशाची कविता से अपना, समाज का भी खूब मुख नीचा किया। बस यह खड़ीबोली की कविता भी पिशाची नहीं, तो डाकिनी अवश्य कवि समाज में मानी जायगी।'[२]

'गोस्वामी' जी ने अपने इसी विचार को 'हिन्दोस्थान' ता० १५ जनवरी १८८८ ई० में पुनः दोहराया। इस बार उन्होंने एक नवीन बात यह कही कि 'खड़ीबोली में कविता करने की लालसा उन्हीं लोगों को विशेष होती है जो ब्रजभाषा में न कविता कर सक्ते न काव्य के तत्व को जानते हैं।'[३] पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'गोस्वामी' जी के इस विचार का इन शब्दों में अनुमोदन किया कि 'जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी

१ खड़ीबोली का पद्य—पृ० ५ (भूमिका), लण्डन संस्करण

२ खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ४

३ वही, पृ० १३

रक्खें चाहे कुदावें ।'[1] 'मिश्र जी' ने एक दूसरे लेख में जो 'हिन्दोस्थान' २१ मार्च, १८८८ ई० में प्रकाशित हुआ था पुनः इस प्रकार लिखा कि 'जो भाषा मुद्दत से कविता में व्यवहृत है उसे छोड़ कवि दूसरी भाषा नहीं स्वीकार कर सकते। जो कवि नहीं हैं वे चाहा करें।'[2]

विद्वानों के विचार में विभिन्नता हो सकती है, किन्तु गोस्वामीजी ने खड़ीबोली की कविता के लिए 'पिशाची', 'डाकिनी' जैसे जिन असाहित्यिक शब्दों का प्रयोग किया है, वह उचित नहीं था। इससे तो उनके पक्ष की निर्बलता ही प्रमाणित होती है। ऐसा मालूम होता है कि उनके पास ब्रजभाषा का पक्ष समर्थन करने के लिए कोई सबल तर्क न था जिससे कि वे इस प्रकार के असंगत शब्दों को प्रयोग में ला रहे थे। एक दूसरे आश्चर्य का विषय यह है कि पं० प्रतापनारायण मिश्र एक ओर 'लावनी' आदि की रचनाएँ खड़ीबोली में करके जनता का मनोविनोद तो कर रहे थे, किन्तु दूसरी ओर जब उसको काव्य में ग्रहण करने का प्रश्न उठता था तब उसका वे विरोध करते थे। इसके सिवा, इन कवियों पर रीतिकालीन काव्य-परम्परा का इतना प्रबल प्रभाव था कि रीति, अलंकार आदि से रहित काव्य की वे कल्पना ही न कर सकते थे। उनका केवल इस बात के लिए खड़ीबोली की कविता का विरोध करते रहना कि वह अलंकारादि गुणों से युक्त नहीं, युक्तिपूर्ण नहीं था। 'मिश्रजी' तथा ब्रजभाषा-पक्ष के अन्य कवि प्रतिभा-सम्पन्न थे। वे यदि काव्य में खड़ीबोली का गृहीत होना समयोचित समझते, तो उसको काव्योचित गुण से युक्त भी बना सकते थे। फिर उसका विरोध इसीलिए करते रहना कि वह 'काव्योपयुक्त नहीं है' तथा उसने 'हिन्दी काव्य की उलटे छुरे से खूब हजामत की है', सार रहित था। कोई भी भाषा अपने विकास की प्रथमावस्था में प्रत्येक प्रकार के काव्योचित गुण से युक्त नहीं होती।

उनकी इस खड़ीबोली-विरोधी मनोवृत्ति का मुख्य कारण कुछ दूसरा ही था, और वह था उनका ब्रजभाषा-मोह। यह बात पं० प्रतापनारायण मिश्र के उस लेख से, जिसे उन्होंने 'हिन्दोस्थान', २१ मार्च, १८८८ ई० में प्रकाशित कराया था, जिसका एक छोटा सा अवतरण पीछे उद्धृत भी किया गया

१. पं० रमाकान्त त्रिपाठी—प्रताप पीयूष, १९३३ ई०, पृ० ९८
२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३१

है, स्पष्ट है। ब्रजभाषा का यही मोह इन लोगों को संकीर्ण बनाए हुए था जिससे वे इस प्रकार का उल्टा-सीधा विरोध कर रहे थे।

ब्रजभाषा-पक्ष के कवि स्वयं खड़ीबोली में कविता करते या न करते, वे उसको काव्योपयुक्त मानते या न मानते, पर यदि वे उसमें कविता करने वालों को उत्साहहीन न बनाते तो भी उनसे खड़ीबोली का हित हुआ होता। खड़ीबोली में रचना करने वालों को सुकवि मानना तो दूर रहा, उनके विचारानुसार वे बुद्धिहीन, मूर्ख, हठी थे। उनकी सद्बुद्धि के लिए बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे विद्वान को भी सरस्वती से इस प्रकार प्रार्थना करनी पड़ी थी—

'जात खड़ीबोली पै कोउ भयो दिवानो।
कोउ तुकान्तबिन पद्य लिखन में है अरुझानो ।।
×   ×   ×
हम इन लोगन हित सारद सों चहत विनय करि।
काहू विधि इनके हिय की दुर्मति दीजै दरि ।।
जासों ये साँचे आनन्दप्रद सों सुख पावैं।
और हटकरि नित औरन हूँ कों नहिं बहकावें ।।'[1]

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' एक मेधावी विद्वान तथा सुकवि थे। उनकी इस प्रकार की युक्ति बड़ी खेदजनक थी। ये ही सब कारण थे कि खड़ीबोली को उस काल में घर-बाहर कहीं भी सम्मान प्राप्त नहीं हो रहा था। सर्वत्र वह उपेक्षिता थी।

एक ओर, एक विदेशी मि० फेड्रिक पिंकाट ने खड़ीबोली में पद्य-रचना को समय की माँग समझा और उसको काव्योपयुक्त बताया। उन्होंने 'खड़ीबोली का पद्य' (१८८८ ई०) की भूमिका में बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के उद्योग की प्रशंसा करते हुए इस प्रकार लिखा—

'...Babu Ayodhya Prasad is endeavouring to confer a substential boon on his countrymen by inducing them to cloth all their ideas in one common form of speech written in one common character.'[2]

१. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—समालोचनादर्श, १८९६ ई०, पृ० ३०, ३१
२. बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री— खड़ीबोली का पद्य, १८८८ ई०, पृ० ६ (भूमिका)

किन्तु, दूसरी ओर एक दूसरे विदेशी ग्रियर्सन साहब ने खड़ीबोली को कविता के लिए सर्वथा अयोग्य उद्घोषित किया। उनका यह अभिप्राय उनके इस निम्न पत्र से जिसे उन्होंने बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री को ६ फरवरी, १८६० ई० में उनकी पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य' की रचना पर प्रकट किए गए अपने विचार के सम्बन्ध में लिखा था, स्पष्ट है—

"....I regret that I cannot agree with your conclusion, I think it is a great pity that so much labour and money have been spent upon an impossible task.'[१]

खड़ीबोली पर किए जा रहे इन आक्षेपों को अवास्तविक प्रमाणित करने में खड़ीबोली-पक्ष के समर्थक विद्वान भी लगे हुए थे। उनके सरल किन्तु तथ्य-पूर्ण उत्तर से ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों की जबान बन्द हो जाती थी। खड़ी-बोली को काव्योपयुक्त भाषा न मानने के विरोध में 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादक ने २० दिसम्बर, १८८७ ई० की सम्पादकीय टिप्पणी में एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को व्यक्त किया कि 'जितनी भाषा आज तक संसार में बोली गई हैं प्रायः उन सब में कविता की गई है और हम कोई कारण नहीं देखते जिससे कि आजकल की हिन्दी वा खड़ी-बोली इस सांसारिक नियम से बाहर हो।'[२] खड़ीबोली के प्रबल समर्थक पं० श्रीधर पाठक ने भी 'हिन्दोस्थान' ८ मार्च, १८८८ ई० में इसी बात को इस प्रकार लिखा कि 'किसी शिष्ट भाषा के विषय में यह कहना कि वह कविता के योग्य नहीं है, भाषा के सामान्य स्वरूप और कविता के उद्देश्य से अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शन करना है'[३] इनका उत्तर ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों के पास नहीं था।

ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वान खड़ीबोली में कविता करने का प्रयत्न तो कर नहीं रहे थे, केवल उनका यह कोरा विरोध कि 'खड़ीबोली काव्योपयुक्त-भाषा नहीं है' चल रहा था। इस सचाई की ओर उन लोगों का ध्यान आक-र्षित करते हुए पं० श्रीधर पाठक ने ३ फरवरी, १८८८ ई० के 'हिन्दोस्थान' में

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ४५

२. वही पृ० ५

३. वही पृ० २६

लिखा था कि 'अभी कवियों ने अपनी शक्ति को इस पर भली भाँति परीक्षित नहीं किया तो फिर क्योंकर कहा जा सकता है कि इसकी कविता में गुण नहीं है ?'[१] इसी पत्र में, श्री राधाचरण गोस्वामी के उस आक्षेप का कि 'खड़ीबोली में कविता करने की लालसा उन्हीं लोगों को विशेष होती है, जो ब्रजभाषा में न कविता कर सक्ते न काव्य के तत्त्व को जानते हैं,' जिसे उन्होंने १५ जनवरी, १८८८ ई० के 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित कराया था, पाठक जी ने बड़े सजीव शब्दों में यह उत्तर दिया था कि 'खड़ी कविता की लालसा आप जिनको कहते हैं उनको नहीं वरन् उन लोगों को होती है जो खड़ी-हिन्दी के सच्चे हितैषी हैं जो उस भाषा के गद्य की गद्दी पर पद्य की पदवी भी पहुँचाया चाहते हैं।'[२]

खड़ीबोली-पक्ष के विद्वान इतने उत्साही थे कि वे खड़ीबोली पर किए जा रहे मिथ्या आरोपों का बहुत कम परवाह करते थे, बल्कि वे उन्हें खड़ीबोली के उत्कर्ष के लिए आवश्यक समझते हुए, उनका स्वागत इस भाँति करते थे—

> '........कंकर पत्थर डालने के सिवा यदि आप खड़ी हिन्दी की कविता के राजमार्ग की रचना में और कुछ नहीं कर सक्ते, खैर यही किये जाइये, हमारा तो इससे भी खूब मतलब निकलेगा। सामान्य सड़क भी तो बिना हजारों कंकर पत्थर डालने वालों के जल्दी नहीं बन सक्ती। ये न हों तो इन्जीनियरों का काम ही कैसे चले ?'[३]
>
> (सम्पादक—हिन्दोस्थान, ३ अप्रैल, सन् १८८८ ई०)

वे विद्वान कर्मठ भी थे, और उनको अपने पर पूरा विश्वास था। इसीसे वे विरोधियों को यह सुना देते थे कि 'जैसे हिन्दी (खड़ीबोली-गद्य) का गुण-गौरव आपको थोड़े ही दिनों से ज्ञात हुआ है उसी तरह उसकी कविता का गौरव भी धीरे-धीरे समझ में आवेगा, जरा सबर कीजिए, उतावले न हूजिए।'[४] वे खड़ीबोली के विरोधी विद्वानों के ब्रजभाषा-मोह को भी भलीभाँति पहचान रहे थे। इसीसे उनको वे इन शब्दों में उत्तर देते थे कि 'यों

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० १८ व १९
२. वही पृ० २३
३. वही पृ० ५४
४. वही पृ० ५४

कहो कि ब्रजभाषा के रहते जिनकी कविता का मजा कि आपकी (पं० प्रतापनारायण मिश्र, तथा और सैकड़ों की) जबान पर चढ़ा हुआ है खड़ीबोली में कविता न बनाओ, पर यह कभी भूल से भी मत बोलना कि खड़ी-हिन्दी कविता के उपयुक्त नहीं है।'[1] उन लोगों के इन शब्दों में कितना बल, कितना आत्म-विश्वास और कितनी चुनौती थी। उनकी यही जिन्दादिली खड़ीबोली को काव्य-भाषा बनाने में सहायक हुई। वे खड़ीबोली को अपनी रचनाओं द्वारा सबल बनाने में लगे हुए थे। पं० श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' और 'जगत सचाई सार' रचनाएँ काव्य-गुण युक्त मानी जा रही थीं। 'एकान्तवासी योगी' पर लन्दन के एक पत्र 'होमवर्ड मेल' ने अपने २२ मई, सन् १८८८ ई० के अङ्क में इस प्रकार लिखा था—

> "This is a poem in the Hindi language uniting all the beauties of the original composition with all the faithfulness of a literal translation. There is something starteing in the rare excellence of this composition, for the sweetness and melody of the verse charm the mind by the novelty of their graces."[2]

मि० पिंकाट ने इसी पुस्तक की प्रशंसा में १० मई, १८८८ ई० को एक पत्र पाठक जी के पास भेजा था, जिसमें उन्होंने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया था—

> "I have already expressed to Lala Ayodhya Prasad and I now repeat to you that in my opinion your translation is a triumph of skill...In verse such close adherence to an original while preserving fluency and poetic sweetness, is exceedingly rare indeed."[3]

इसी प्रकार पं० श्यामविहारी मिश्र व पं० शुकदेवविहारी मिश्र ने पाठक

---

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ५१, ५२

२. पं० श्रीधर पाठक—एकान्तवासी योगी, ६ वां संस्करण, पृ० ५,६ (प्राक्कथन)

३. विशाल भारत, अगस्त, १९३१ ई०, भाग ८, अङ्क २, पृ० १३५

जी के 'जगतसचाई सार' की समालोचना में लिखा था कि 'जगतसचाई सार खड़ीबोली में बड़ी ही मनोहरता से लिखा गया है। ब्रजभाषा में भी इसके जोड़ बहुत न मिलेंगे।'[१]

उपर्युक्त आलोचनाएँ अत्युक्तिपूर्ण नहीं हैं। यदि इन रचनाओं के निम्नलिखित पदों को देखें तो उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।

'साधारण अति रहन सहन
    मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर मधुर मुसकान मनोहर,
    मनुजवंश का उजियाला॥'[२]

—एकान्तवासी योगी

ये सब भाँति भाँति के पक्षी,
    ये सब रंग रंग के फूल।
ये बन की लहलही लता
    नव ललित ललित शोभा का मूल॥
लरजन गरजन घन मण्डल की
    बिजली बरषा का संचार।
जिसमें देखो परमेश्वर की
    लीला अद्भुत अपरम्पार॥'[३]

—जगतसचाई सार

पाठक जी ने 'एकान्तवासी योगी', सन् १८८६ ई० में तथा 'जगतसचाई सार', १८८७ ई० में लिखी थीं। किसी भाषा की प्रथमावस्था की रचनाओं में जो त्रुटियाँ होती हैं वे इन पदों में भी हैं, पर हमारे नित्य के व्यवहृत शब्दों के प्रयुक्त होने पर भी इन रचनाओं में ब्रजभाषा का सा माधुर्य विद्यमान है। लेखक के कथन की मार्मिकता, प्रकृति-निरीक्षण तथा अभिव्यंजना के ढंग में स्वच्छन्दता है। ऐसा ज्ञात होता है, जैसे कविता रीति, अलंकार आदि के परम्परागत बंधन से मुक्त हो गई है।

इस भाँति वे लोग खड़ीबोली के काव्योचित संस्कार में लगे रहे, किन्तु

१. सरस्वती, भाग १, संख्या ११, पृ० ३५८, ३५९
२. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ५३७
३. सरस्वती, भाग १, संख्या ११, पृ० ३५९

उसमें वास्तविक कविता की स्थापना आगे आने वाले युग में ही हो पाई। फिर भी उन लोगों ने इन रचनाओं द्वारा इस प्रकार के विरोध को कि वह काव्योपुयुक्त भाषा नहीं है बहुत कुछ अंश में बन्द कर दिया।

उर्दू से भय

बात इतनी ही नहीं थी, जैसा कि ब्रजभाषा के समर्थक विद्वान कह रहे थे कि खड़ीबोली पद्य-रचना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है ; वरन् उनके मन में उस समय एक विशेष प्रकार का भय भी समाया हुआ था, और वह भय था उर्दू का। हिन्दी की ही हित कामना को लिए हुए वे लोग यह सोच रहे थे कि खड़ीबोली के रूप में गद्य में उसका प्रवेश हो गया है, यदि कहीं पद्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा ने अपना स्थान रिक्त किया और वहाँ भी वह प्रवेश पा गई तो हिन्दी सहज में ही उर्दू बन जाएगी। इसी भावना से प्रेरित होकर कुछ सुकवि खड़ीबोली का विरोध करते रहे। पं० राधाचरण गोस्वामी ने लिखा कि—

> 'हम अनुमान करते हैं कि यदि खड़ीबोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ीबोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जाय। इधर सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, उधर पद्य में भी फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निपटा।'[1]
>
> (हिन्दोस्थान, १५ जनवरी, १८८८ ई०)

> '........इनकी (बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री की) यह चेष्टा हिन्दी का सर्वनाश करने के लिए है। बाबू साहब अनभिज्ञ अँग्रेज और बंगालियों को पुस्तकें दे-देकर चाहे जितने लम्बे-लम्बे सर्टिफिकेट ले लें, हिन्दी के प्रकृत विद्वान इस बात का कभी अनुमोदन न करेंगे।'[2]
>
> (हिन्दुस्तान, ११ अप्रैल, १८८८ ई०)

पं० राधाचरण गोस्वामी का इस प्रकार सन्देह करना नितान्त असंगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय हमारी अंग्रेजी सरकार को हिन्दी फूटी आँखों नहीं सुहा रही थी। उसने उर्दू को प्रान्तीय बोली चाहे किसी

---

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० १४

२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ६०, ६१

राजनीतिक चातुर्यवश अथवा भ्रम से मान लिया था। इस प्रकार राजनीतिक संरक्षण प्राप्त होने से वह नित्य वृद्धिलाभ कर रही थी, और हिन्दी-क्षेत्र पर भी अधिकार करती जा रही थी। भारतेन्दु ने अत्यन्त दुख से कहा था 'भाषा भई उरदू जग की, अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइयो।'[1] राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'बनारस अखबार' निकाला था जिसकी लिपि तो नागरी अवश्य थी पर उसकी भाषा फारसी शब्दों से लदी उर्दू थी।[2] उधर सरकारी नौकरियों के लिए उर्दू भाषा और साहित्य का पठन-पाठन भी प्रारम्भ हो गया था। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के शब्दों में 'सिर्फ हिन्दी जानने वाले गँवार कहलाने लगे। उर्दू जानने के बिना भद्र-मण्डली में प्रवेश करने का अधिकार भी न रहा।'[3] ऐसी परिस्थिति में इन कवियों को हिन्दी की रक्षा का एकमात्र उपाय ब्रजभाषा को पद्य में बनाए रखने से ही दिखलाई दे रहा था।

इस सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि कचहरियों की उर्दू से जिसको तत्कालीन सरकार प्रोत्साहन दे रही थी, अथवा कतिपय कठमुल्लाओं की उर्दू से जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों की अधिकता रहती थी, इन ब्रजभाषा के कवियों को डर नहीं होना चाहिए था; क्योंकि वह उर्दू मुसलमानों तक के व्यवहार की भाषा नहीं थी, जैसा कि 'सौदा', 'हाली', 'नजीर अकबराबादी' आदि कवियों की रचनाओं को, जिनके कि उदाहरण द्वितीय अध्याय में दिए जा चुके हैं, देखने से स्पष्ट हो जाता है। इन कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, १९४८ ई० पृ० १५०

२. जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

'खबर अजीब

जो खबर साबिक में काबिल एतबार न थी हरकारा अब उसको मज़बूती से बयान करता है और बेशक आज तक ऐसी खबर अजीब और वारदात ग़रीब न किसी ने सुनी होगी और न देखी कि दो साहेबान अहल विलायत फिरंग ने अपना काम तर्क करके डाकाज़नी का तरीक़ा इख्तियार किया है।'

'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,' १९९३ वि०, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पृ० १२९

३. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, १९४८ ई० पृ० ११६

उर्दू ही वह भाषा थी जो मुसलमानों की उर्दू थी, और तथ्यरूप में वह खड़ीबोली थी। चलते अरबी-फारसी के शब्द जो इस प्रचलित उर्दू (खड़ी-बोली) में व्यवहृत हो रहे थे वे प्रायः कबीर, तुलसी, सूर आदि हिन्दी के कवियों की रचनाओं में भी पाए जाते हैं। यह तो सरकार की भाषा सम्बन्धी विषैली नीति थी जो उर्दू को खड़ीबोली-हिन्दी से अलग कर प्रचार करा रही थी। सरकार के ही संकेतानुसार कुछ लोग खड़ीबोली में अधिकाधिक अरबी फारसी के शब्दों को घुसेड़कर नई भाषा बनाने की धुन में जबरदस्ती उसको (खड़ीबोली को) फारसी के ढङ्ग पर घसीटे लिए जा रहे थे। असल में विरोध खुलकर इसी का होना चाहिए था। पं० श्रीधर पाठक जैसे कुछ विद्वान पूर्ण जागरूक भी थे। वे भाषा सम्बन्धी इस सरकारी नीति को खूब समझ रहे थे। इसीसे उन्होंने पं० राधाचरण गोस्वामी के तथाकथित भय को दूर करते हुए ३ फरवरी, १८८८ ई० के 'हिन्दोस्थान' में लिखा था कि—

> 'खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पावेगी। जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की ताव क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख सके। सर्कार अपने स्कूलों की हिन्दी में अप्रचलित उर्दू शब्दों का बर्ताव कराती है, पर हिन्दी के पक्षपाती तो उसके अनुयायी नहीं, हिन्दी के गद्य वा पद्य की उन्नति हम लोगों पर निर्भर है सर्कार पर नहीं।'[1]

अतः इस भय से कि पद्य में खड़ीबोली के ग्रहण करने से तत्सम और तद्भव शब्दों के स्थान पर अरबी-फारसी के शब्द घुस पड़ेंगे, सिकुड़-सिकुड़ा कर हिन्दी को ब्रजभाषा की ही सीमा में बन्द कर रखना और खड़ीबोली को उर्दू की वेदी पर बलि चढ़ा देना, विचारपूर्ण नहीं था। इससे हिन्दी को लाभ की जगह हानि होने की विशेष सम्भावना थी। आश्चर्य तो तब और अधिक होता है जब पं० मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में सरकारी कचहरियों में खड़ीबोली (हिन्दी) के व्यवहृत होने का उद्योग चल रहा था और उसमें पं० राधाचरण गोस्वामी अपने लेखों द्वारा सहयोग दे रहे थे, लेकिन जब खड़ीबोली को पद्य में ग्रहण करने का प्रश्न उठता था, तो वे ही उसका विरोध करने लगते थे।

ब्रजभाषा के इन कवियों का इस प्रकार खड़ीबोली के प्रति शंकित दृष्टि-

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० २३

कोण उर्दू को परोक्ष रूप से बल भी दे रहा था। जब हिन्दी (खड़ीबोली) को कचहरियों आदि की सरकारी भाषा बनाने का प्रश्न उठता था तो उर्दू के पृष्ठपोषक जहाँ हिन्दी की अन्य बुराइयों को दिखलाते थे वहाँ यह भी कहते थे कि 'उर्दू के गद्य और पद्य की भाषा एक है, हिन्दी को तो यह गौरव भी प्राप्त नहीं।'[1] आवश्यकता तो उस समय इस बात की थी कि गद्य और पद्य के माध्यम की भाषा को एक करके हिन्दी का हाथ मजबूत किया जाता, जिससे कि वह उर्दू से भली भाँति मुकाबला कर सकती। उर्दू के प्रवेश के भय से ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस गृह-कलह को आगे बढ़ाते रहना समयोचित नहीं था। यह न केवल हिन्दी की उन्नति के मार्ग में बाधक था, अपितु उससे हिन्दी का अस्तित्व ही खतरे में था।

ब्रजभाषा के विश्राम लेने का समय

पं० राधाचरण गोस्वामी के यह कहने पर कि—

'......चन्द के समय से बाबू हरिश्चन्द्र तक जो कविता हुई है वह सब ब्रजभाषा में हुई। और सब पंडितों ने संस्कृत के अनन्तर भाषा शब्द से इसी का व्यवहार किया। इसके साहित्य की जैसी उन्नति है, संस्कृत के बिना और किसी भाषा के साहित्य की इतनी उन्नति नहीं। ..... तब इतने बड़े अमूल्य रत्न-भण्डार को छोड़कर नये कंकर-पत्थर चुनना हिन्दी के लिए कुछ सौभाग्य की बात नहीं।... हमारी कविता की भाषा अभी मरी नहीं है, जीती है, तब फिर इसमें क्यों न कविता की जाय?'[2]

(हिन्दोस्थान, ११ नवम्बर, १८८७ ई०)

पं० श्रीधर पाठक ने उत्तर दिया—

'इस संसार में एक वस्तु एक ही बार उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ती है फिर या तो स्थिर हो जाती है या गिर जाती है। ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि

१. हरिऔध—आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० ५२६

२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३, ४

अनेकों अन्य बातों में उसे उन्नति की समाई है पर अवसर नहीं। ब्रजभाषा की कविता को अब यदि अवसान नहीं तो विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं।'[1]

(हिन्दोस्थान, ३ फरवरी, १८८८ ई०)

पाठक जी की इस प्रकार की दलील में प्रौढ़ता दिखलाई नहीं देती। हो सकता है कि उनका यह विचार इस श्लोक पर निर्भर करता हो—

'सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ता समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम्॥'[2]

किन्तु अभी तक उन्नति की पराकाष्ठा की कोई ऐसी परिभाषा निश्चित नहीं हुई, जिससे यह पता लगाया जा सके कि कौन सी वस्तु किस समय उन्नति की उस अवस्था को प्राप्त होती है?

फिर यदि पाठक जी के ही शब्दों में ब्रजभाषा के 'स्थिर' होने तथा 'गिर' जाने का समय समुपस्थित था, और वह अंग-प्रत्यंग इतने सौन्दर्य एवं सौष्ठव से सुसज्जित हो चुकी थी कि उसमें अब और अधिक सौंदर्य का सन्निवेश सापेक्ष नहीं था तो पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि अन्य कवियों की लेखनी से प्रसूत रचनाएँ जो किसी अंश में प्राचीन रचनाओं से न्यूनतर नहीं कही जा सकतीं, क्यों हो रही थीं? इस सम्बन्ध में स्वयं पाठक जी की ही यह सरस रचना—

'बारि-फुहार-भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन-गर्जन-सबद सोई हैं नगारे॥
रोर को घोर को और न छोर, नरेसन की-सी छटा छबि धारे।
कामिन के मन को प्रिय पावस, आयो, प्रिये! नव मोहिनी डारे॥'[3]

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० १६

२. "संसार में सम्पूर्ण संग्रहीत वस्तुएँ क्षयशील हैं। जो उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है उसका पतन अवश्यम्भावी है। संयोग का वियोग में परिवर्तित होना निश्चित है। जीवन का अन्त मरण है।"

३. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ७०४

द्रष्टव्य है। दूसरे, भाषाओं के इतिहास में ऐसा कहीं दिखाई नहीं देता कि जब कोई भाषा अभ्युदय और उत्थान के उच्चशिखर पर पहुँच जाती हो तब वह अपना स्थान किसी अन्य भाषा के लिए रिक्त कर स्वयं विश्राम ले लेती है। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि संसार की अन्य उन्नतिशील भाषाओं में अब भी श्रेष्ठ रचनाएँ हो रही हैं और वे साहित्य में अपना स्थान पूर्ववत् ही बनाए हुए हैं। अतः किसी भाषा को साहित्य के क्षेत्र से हटाने में उसका गौरवपूर्ण साहित्यिक जीवन कारण न होकर बहुत कुछ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि परिस्थितियाँ ही कारण होती आई हैं।

दूसरी ओर पं० राधाचरण गोस्वामी के भी इस विचार में कि 'चन्द के समय से बाबू हरिश्चन्द्र तक जो कविता हुई है वह सब ब्रजभाषा में हुई है··· फिर इसमें क्यों न कविता की जाय' सार नहीं दिखाई देता। यह सम्भव नहीं है कि कोई भी भाषा अपने प्राचीन गौरव के बल पर प्रतिकूल सामयिक परिस्थिति में भी, अपनी व्यापक साहित्यिक सत्ता को अक्षुण्ण रख सके। निःसंदेह ब्रजभाषा हमारे साहित्य में चार-पाँच सौ वर्ष तक शीर्ष स्थल पर बनी रही और 'चन्द' से 'हरिश्चन्द्र' तक अधिकाँश कवियों ने रस-वर्षण इसी में किया, परन्तु १९ वीं शताब्दी की बदली हुई परिस्थिति में हमारे जीवन को स्पर्श करने वाले भावों को लेकर चलने की शक्ति उसमें अब नहीं थी। उसके काव्य-कला-कौशल का भी ह्रास हो रहा था। भारतेन्दु बाबू ने थोड़ा धक्का देकर उसकी रुकती गाड़ी को आगे बढ़ाया अवश्य, किन्तु उसका अवसान अब निकट दिखाई दे रहा था।

समय के परिवर्तन से ब्रजभाषा का व्यवहार 'गँवरपन' समझा जा रहा था। पं० कृष्णशंकर शुक्ल के शब्दों में 'धार्मिक भावना से प्रेरित होकर हिन्दू लोग कभी-कभी····सूर के पदों का गान अपने-अपने घरों के अन्दर कर लिया करते थे। घर से बाहर आकर लोग इनका नाम सम्भवतः इस डर से नहीं लेते थे कि गँवार या असभ्य न समझे जायँ।'[1] इसके विपरीत खड़ीबोली शिष्ट वर्ग की भाषा थी और मुसलमानों के देशव्यापी राज्य-प्रसार ने उसको व्यापक राष्ट्रीय भाषा बनने का सुअवसर प्रदान किया था। सम्भवतः इसी बात से प्रभावित होकर 'पाठक' जी ने ब्रजभाषा को काव्य-क्षेत्र से

पं० कृष्णशंकर शुक्ल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९३ वि०, पृ० ११३

विश्राम लेने के लिए कहा था। 'हिन्दोस्थान' के सम्पादक ने ३ अप्रैल, १८८८ ई० में जिस भावना को प्रकट किया था—

> 'ब्रजभाषा को एक ही जिला नहीं कई जिला बोलते हैं, पर खड़ी-बोली तो कई सूबों में व्यवहृत है और समझी जाती है। फिर ब्रजभाषा को अधिकतर अपढ़, गँवार ही बोलने में लाते हैं, पर खड़ी हिन्दी सुशिक्षितों के बोलने और लिखने दोनों में आती है।'[1]

उससे यही प्रकट होता है कि ब्रजभाषा अब शिक्षित समुदाय की भाषा न रह गई थी। वह अब कुछ ही जिलों में समझी व बोली जा रही थी। अतः पं० श्रीधर पाठक का यह कथन कि ब्रजभाषा की कविता को अब यदि अवसान नहीं तो विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है, पूर्णतया अनुचित भी नहीं था।

दो भाषाओं का प्रयोग गौरव और अहंकार का विषय ?

एक ही साहित्य के भीतर 'दो तरह की भाषा-परिपाटी रहने से हिन्दी का गौरव है लाघव नहीं'[2] ऐसा पं० राधाचरण गोस्वामी मानते थे। यही विचार पं० प्रतापनारायण मिश्र का भी था। आप लिखते हैं कि 'यह तो और भी हमारे लिए अहंकार का विषय है कि दूसरे देशों वाले केवल एक ही भाषा से गद्य और पद्य दोनों का काम चलाते हैं हमारे यहाँ एक गद्य की भाषा है और एक पद्य की।'[3] अपने विचार की पुष्टि के लिए ब्रजभाषा के ये कवि यह भी कहते थे कि 'संस्कृत नाटकों में साहित्य के लालित्य के लिए संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, कई भाषा व्यवहार की गई हैं तो यदि हम हिन्दी-साहित्य में दो भाषा व्यवहार करें तो क्या चोरी है ?'[4]

संस्कृत साहित्य में दो भाषाओं का सिद्धान्त गृहीत न था। संस्कृत के नाटकों में प्राकृत, पैशाची आदि भाषाओं का जो व्यवहार हुआ है उसका कारण एक तो पात्रों के कथोपकथन की स्वाभाविकता दिखलाना था, और दूसरे, स्त्रियों और शूद्रों की सामाजिक स्थिति उस समय इतनी गिरी हुई थी

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ५२
२. वही पृ० ४
३. वही पृ० ३४
४. वही पृ० ४

कि उनको संस्कृत (देववाणी) बोलने का अधिकार ही प्राप्त न था। इसी ऊँच-नीच की भेद दृष्टि से ऐसा किया गया था न कि साहित्य में लालित्य लाने के लिए, क्योंकि, जहाँ पैशाची, प्राकृत आदि का प्रयोग हुआ है, वहाँ लालित्य की तो उतनी वृद्धि नहीं हुई है जितनी कि वह पाठकों के लिए कठिन और दुरूह हो गई है। इसलिए एक भ्रान्त धारणा के आधार पर केवल लालित्य के परिरक्षण के लिए ब्रजभाषा को हिन्दी-साहित्य में बनाए रखने का सिद्धान्त उचित न था। इससे, उसमें (हिन्दी में) लालित्य लाना तो दूर रहा, उल्टे उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ता दिखलाई दे रहा था। पाठशालाओं में हिन्दू बालकों को दो भाषाएँ सीखनी पड़ती थीं। सुविधा की दृष्टि से दोहरी मेहनत बचाने के लिए ये बालक विवश होकर हिन्दी के स्थान पर उर्दू लेना अधिक पसन्द करते थे।[1] उधर मुसलमान हिन्दी का वहिष्कार कर ही रहे थे। ब्रजभाषा के इन प्रेमी विद्वानों की घर में दो चौके की अबूझ नीति से यदि उसका पठन-पाठन भी बन्द होता तो हिन्दी का सर्वनाश निश्चित था। इसी से खड़ीबोली के समर्थक विद्वान अपना आशय इस प्रकार प्रकट कर रहे थे--

> 'हमारे यहाँ भेद और फूट और ही सैकड़ों बातों में यथेष्ट विद्यमान है, भाषा में उस सत्यानाशी विभेद की क्या आवश्यकता है?'[2]
>
> (सम्पादक—हिन्दोस्थान)

जहाँ ब्रजभाषा के विद्वान एक ही साहित्य में दो भाषाओं के प्रयोग को गौरव और अहंकार का विषय समझ रहे थे, वहाँ खड़ीबोली के ये विद्वान कहते थे कि 'गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।'[3]

यह तो थी परिस्थितिगत बात। इसके अतिरिक्त यह बात अस्वाभाविक भी थी, क्योंकि इस प्रकार का उदाहरण कि एक ही साहित्य के अन्तर्गत दो भाषाओं का प्रयोग होता हो, संसार के किसी भी साहित्य में उपलब्ध

---

१. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० ५२७

२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ५३

३. वही

नहीं है। सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि ब्रजभाषा के विद्वानों के उसके प्रति मोह ने इस सत्य की ओर से उनकी आँखें बन्द कर दी थीं। इसीलिए वे इसे गौरव और अहङ्कार की वस्तु समझ रहे थे।

ब्रजभाषा की माधुरी

ब्रजभाषा की माधुरी पर उसके कवि लट्टू थे। उनका कहना था कि ब्रजभाषा अपनी सहजमाधुरी के ही बल पर काव्य-भाषा का स्थान चिरकाल से ग्रहण किए हुए है। जब तक उसमें माधुर्य गुण की यह विशेषता बनी हुई है, तब तक अन्य भाषा में यह सामर्थ्य नहीं कि वह उसको अपदस्थ कर सके। कहीं-कहीं तो ब्रजभाषा के ये कवि इतने भाग्यवादी होगए हैं कि उनको खड़ीबोली में रसपूर्ण रचना की सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती, जैसा कि पं० प्रतापनारायण मिश्र के इस अवतरण से स्पष्ट है—

> '...जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतन्त्र भाषा में है ... उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सकें यह किसी के बाप की मजाल नहीं। छोटे-मोटे कवि हम भी हैं और नागरी का कुछ दावा भी रखते हैं, पर जो बात हो ही नहीं सकती उसे क्या करें!'[1]

इससे तो यही समझा जा सकता है कि ईश्वर ने काव्य-भाषा के लिए ब्रजभाषा को ही बनाया है और प्रलय-पर्यन्त मधुर काव्य के लिए रचना उसी में होती रहेगी। यदि ऐसा था तो फिर मधुरतम वैदिक भाषा तथा क्रमानुसार प्राकृत, संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि मधुर भाषाएँ कहाँ गईं? परवर्ती भाषाएँ जिनमें मधुर और चित्त को पकड़ने वाली रचनाएँ होती रहीं एक दूसरे का स्थान क्यों लेती रहीं? असल बात तो यह है कि भाषाओं के उत्थान पतन का कारण बहुधा सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक घात-प्रतिघात होते हैं। जिस भाषा को देश तथा परिस्थिति ग्रहण करती है श्रेष्ठ कवि उसी में मधुर रचनाओं का सृजन आरम्भ करता है। परिणाम यह होता है कि थोड़े ही काल में वह नई भाषा भी माधुर्य गुण से युक्त हो जाती है। इस सत्य को 'मिश्र जी' अस्वीकार भी नहीं कर सके हैं। एक स्थल पर आप लिखते है कि 'हम मान लेंगे कि अच्छे कवि जिस भाषा को चाहें उस भाषा

१. पं० रमाकान्त त्रिपाठी—प्रताप पीयूष, १९३३ ई० पृ० ९८

का गौरव बढ़ा सकते हैं।'[1] फिर, खड़ीबोली अनुपयुक्त क्यों बतलाई जा रही थी? उसको आवश्यकता भी तो 'मिश्र जी' जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि की ही थी, जो उसे मधुर काव्य के योग्य बनाते। और यहीं पर सब झगड़ा भी समाप्त हो जाता। पर दुर्भाग्यवश 'मिश्र जी' उसका विरोध कर रहे थे। इसका भी एक कारण था। 'मिश्रजी' अपने को एक 'रसीली' और 'रँगीली' तबिअत के व्यक्ति समझते थे। इसलिए वे कहा करते थे कि 'रसीली और रँगीली तबिअत वालों के लिए भाषा भी वैसी ही होनी चाहिए ··· जब हमें ईश्वर ने पकी पकाई खीर दे रक्खी है तो दलिया पकाने में क्यों समय खोवें?'[2] इतना ही नहीं उन्होंने एक स्थल पर यह भी कहा था कि 'बाँस के चूसने में यदि रस का स्वाद मिल सके तो ईख बनाने का परमेश्वर को क्या काम था।'[3] उनका यह सब कथन अत्युक्ति से खाली न था, क्योंकि उस समय भी खड़ीबोली में जो प्रारम्भिक रचनाएँ हो रही थीं उनकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में 'होमवर्ड मेल', 'मि० पिंकाट' तथा 'मिश्र बन्धुओं' की सम्मति इसी अध्याय के पृष्ठ ८५-८६ पर देखा जा चुका है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि खड़ीबोली में जहाँ ओज गुण की अधिकता थी वहाँ वह माधुर्य गुण से भी युक्त की जा सकती थी।

ब्रजभाषा की कविता की समुन्नति में सैकड़ों वर्ष लगे थे। समय-समय पर प्रतिभाशाली कवि उसको अपनाते रहे थे। राजाओं से भी उसको यथोचित सम्मान प्राप्त था। एक समय था जब महाराज 'छत्रसाल' ने महाकवि 'भूषण' की कविता पर मुग्ध होकर उनका स्वागत करने के लिए उनकी पालकी में कंधा दिया था। चित्तौर के महाराणा 'सज्जनसिंह' ने भारतेन्दु बाबू से उनकी कविता पर प्रसन्न होकर कहा था कि 'तुम इस राज्य को अपनी सीर समझो।' खड़ीबोली दो-चार पत्र-पत्रिकाओं को लेकर खड़ी हुई थी उसको अभी ये सब सौभाग्य कहाँ प्राप्त हुए थे? उसको प्राप्त हो रही थी ब्रजभाषा के कवियों की घुड़कियाँ, और वह निकम्मी समझी जा रही थी। पं० शिवनाथ शर्मा 'हिन्दोस्थान' ३० मार्च, १८८८ ई० में लिखते हैं—

'यह जो कहा जाता है कि खड़ीबोली का अभी आरम्भ है इसलिए इसमें

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३७, ३८
२ वही
३. पं० रमाकान्त त्रिपाठी, प्रताप पीयूष, १९३३ ई० पृ० ९७

> मनोहारित्व ऐश्वर्य नहीं है, कभी ठीक नहीं। आज कम से कम १५ बरस के समय से खड़ीबोली में लावनी, ख्याल और भजन बनते हैं। पर ब्रजभाषा की समता करने पर एक भी योग्य नहीं ठहरता। यही नहीं, नव्वाब खानखाना आदि के समय के बहुत से श्लोक खड़ीबोली में प्रस्तुत हैं पर केवल संस्कृत काव्य के नकल करने भाँड़ों के समान मालूम पड़ते हैं, यथा 'भया बालका बादशाही करेगा'—और कोई भी लालित्य उसमें न आया।'[1]

किसी भी भाषा की लोक-रचना की समता एक अन्य समृद्ध भाषा के साहित्य से करना और फिर यह कहना कि वह उसके पटतर नहीं है, उचित दिखाई नहीं देता। फिर भी जिस लावनी, ख्याल और भजन की चर्चा 'शर्माजी' ने यहाँ की है, उन्हीं रचनाओं की लोक-प्रियता ब्रजभाषा को जड़ से हिला रही थी। भारतेन्दु युग के प्रायः सभी कवियों ने इसमें रचनाएँ की हैं। ब्रजप्रान्तीय पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' की रचना उस समय जनता में प्रचलित इसी लावनी छन्द में की है। फिर खड़ीबोली की तत्कालीन बढ़ती हुई शक्ति से कैसे आँख मीची जा सकती थी। दूसरे, भारतेन्दु काल में खड़ीबोली की जो रचनाएँ हो रही थीं, उनका महत्व प्रारम्भिक प्रयास का था, न कि उसके काव्योचित गुण का। 'शर्माजी' का इस प्रकार का उदाहरण कि 'भया बालका बादशाही करेगा' साहित्यिक कोटि का नहीं माना जा सकता। इस ढङ्ग का उदाहरण किसी भी भाषा से उपस्थित किया जा सकता है, जिससे कोई लाभ प्रतीत नहीं होता।

ब्रजभाषा के कवियों के अंट-संट प्रतिरोधों से चिढ़कर कभी-कभी खड़ीबोली के समर्थक विद्वान भी कटूक्तियों का प्रयोग कर बैठते थे। पं० श्रीधर पाठक ने पं० प्रतापनारायण मिश्र के ब्रजभाषा की 'ऊख' तथा खड़ीबोली की 'बाँस' से उपमा देने पर लिखा था—

> 'आधुनिक हिन्दी अर्थात् नवीन हिन्दी का जन्म बहुत ही थोड़े काल से हुआ है। और अभी उसमें कविता की चेष्टा बहुत ही कम की गई है। इसकी कविता की अवस्था भी कच्ची और कोमल है और ब्रजभाषा की पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हो गई है। यह अभी वयः सन्धि में है, पर

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ४१, ४२

ब्रजभाषा प्रौढ़ावस्था को डाक 'बुड्ढी नायिका' की दशा पर भी आ पहुँची। एक अभी आसन्नकुसुमोद्गम पौधे के रूप में है, दूसरी सरस पक्कफलोऽवनत पूर्णावस्थागत पेड़ के पद को प्राप्त है। ....यह सब जानकर मिश्रजी का नवीन हिन्दी बाँस और ब्रजभाषा को ऊख की उपमा देना कैसा अनुचित दीखता है।'[1]

'पाठकजी' का ब्रजभाषा के लिए 'बुड्ढी नायिका' का प्रयोग करना प्रशंसनीय नहीं था। हाँ, जहाँ विरोधियों को वे इन शब्दों में उत्तर देते थे कि 'खड़ीबोली मधुर कविता के उपयुक्त नहीं है यह समझना भूल है, वह शतवार सहसवार मधुर कविता के उपयुक्त है,'[2] वहाँ उनकी कर्मण्यता प्रकट होती है।

'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादक ने भी अपना जो विचार भाषा-माधुर्य के सम्बन्ध में प्रकट किया था, वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। उनका कहना था कि 'चिरकाल के परिचय और अभ्यास तथा कुछ स्वरादिकों की कोमलता के कारण हिन्दी के उस रूप की कविता जिसको हम ब्रजभाषा कहते हैं हमको अधिक मधुर, मनोहर और प्यारी लगती है, किन्तु कालान्तर में प्रचलित भाषा की कविता भी हमको वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी'।[3] 'सम्पादक' का यह कथन आज हम अक्षरशः सत्य देख रहे हैं।

कोई भी भाषा, जब तक वह काव्य में प्रतिष्ठित नहीं हो जाती और मँज-मँजाकर उसके शब्द और वाक्य काव्य के उपयुक्त नहीं हो लेते, तब तक अनगढ़ ही दिखलाई देती रहती है। किन्तु कालान्तर में उसी भाषा के शब्द सरस और सुन्दर बनकर कोमलतर भावनाओं को प्रकट करने में सशक्त हो जाते हैं। क्या ब्रजभाषा काव्य के लिए उतनी ही मधुर और रसीली थी जितनी कि वह 'सूर', 'देव' आदि कवियों के हाथों में पड़ने पर हुई? ठीक यही अवस्था उस समय खड़ीबोली की थी। भारतेंदु युग में वह पद्य में केवल प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नशील थी। ऐसे समय में ब्रजभाषा के समर्थकों का यह आशा करना कि खड़ीबोली में शताब्दियों से व्यवहृत ब्रजभाषा के समान कांतता और माधुर्य का समावेश हो, सम्भव नहीं था। दूसरे, जो

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० २६
२. वही पृ० २३
३. वही पृ० ५

परिस्थितियाँ खड़ीबोली को साहित्य के आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहती थीं, उनमें खड़ीबोली को माधुर्य की उतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी कि परुष और कठोर बनने की। जिन समस्याओं और विषयों को लेकर वह खड़ी हुई थी उनमें कठोर सत्य निहित था और वे कल्पना-लोक से दूर यथार्थता की ठोस भूमि पर खड़ी थीं। आवश्यकता एक ऐसी सजीव भाषा की थी जो उस सत्य को प्रकट करती और हमारे विचार-शैथिल्य को, सामाजिक रूढ़िवाद को, राजनीतिक परतंत्रता की बेड़ी को और धार्मिक अन्धविश्वास और जड़ता को तोड़ फेंकती। खड़ीबोली वही करने जा रही थी। उसे केवल मधुरता और सरसता का अभ्यास नहीं करना था।

विद्वानों का एक तीसरा दल और था जो खड़ीबोली का खुल्लम-खुल्ला विरोध तो नहीं करता था, पर खड़ीबोली के नाम पर वह एक लालित्यहीन भाषा की कल्पना किए हुए था। 'कवि-व-चित्रकार'[1] के सम्पादक ने स्वयं अपने लिए लिखा था कि—

> 'हमने दो-एक समय पर पहले खड़ीबोली का नाम सुना था, परन्तु हम यह नहीं जानते थे कि खड़ीबोली किसको कहते हैं—और स्वयं नाम से ऐसा समझा जाता था कि जिस बोली में लालित्य न हो उसको कहते हैं।'[2]

ऐसे लोगों से भी खड़ीबोली का हित नहीं हो रहा था। परन्तु खड़ी-बोली के समर्थक विद्वान अपने ध्येय पर इस भाँति दृढ़ थे और अपने कार्य में उनकी इस प्रकार लगन और तत्परता थी कि थोड़े ही समय में उन्होंने यह भी दिखला दिया कि उसमें मधुर कवित्व की रचना हो सकती है।

छन्द

जब खड़ीबोली की रचनाएँ प्रकाश में आने लगीं तो ब्रजभाषा के छन्दों —कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि—में खड़ीबोली के कवियों की प्राथमिक व्यक्तिगत असफलताओं को देखकर ब्रजभाषा के प्रशंसक विद्वानों को विरोध का एक और भी अवसर हाथ लगा। उनका कहना था कि खड़ीबोली केवल उर्दू के बहरों और गज़लों के लिए ही सर्वथा उपयुक्त है, उसमें हिन्दी

---

१. जगत-प्रकाश-प्रेस, फतहगढ़ से प्रकाशित

२. कवि-व-चित्रकार, १८९१ ई०, भाग ३, पृ० ३३

के छन्दों की समाई नहीं हो सकती। पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'हिन्दोस्थान' ११ नवम्बर, १८८८ ई० में लिखा—

'......प्रथम तो भाषा के कवित्त, सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता और यदि किया भी जाय तो बहुत भद्दा मालूम होता है। तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द छोड़कर उर्दू के बैत, शेर, ग़ज़ल आदि का अनुकरण करना पड़ता है पर फ़ारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्य नहीं आता फिर जब काव्यों में हृदयग्राही गुण नहीं हुआ तो ऐसे काव्य की रचना ही व्यर्थ है।'[1]

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी यही आपत्ति की कि 'सिवाय फ़ारसी-छन्द और दो-तीन चाल की लावनियों के और कोई छन्द उसमें बनाया भी है तो ऐसा है जैसे किसी कोमलाङ्गी सुन्दरी को कोट बूट पहिनाना।'[2] पुनः आपने एक दूसरे स्थल पर कहा कि 'यदि इंसाफ़ कोई वस्तु है तो उसका ध्यान करके कहिए कि जो भाषा लाखों छन्दों में से केवल २१ या २२ (अरबी-फ़ारसी के छन्द) में काम आ सकती है उस भाषा को कौन बुद्धिमान हिन्दी कविता के योग्य कह सकता है।'[3]

छन्दों को लेकर दो भाषाओं के सामर्थ्य और काव्योपयुक्तता के विवेचन का सिद्धान्त इन विद्वानों का ठीक न था, क्योंकि किसी भी छन्द का निर्वाह किसी भी भाषा में किया जा सकता है। यदि कुछ ऐसे छन्द निकल भी आएँ जिनकी खपत किसी भाषा में आसानी से न हो सकती हो तो इसके लिए वह भाषा अनुपयुक्त नहीं मानी जाएगी। फिर जहाँ तक छन्द का सम्बन्ध है, यह भी देखा जाता है कि हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग में इसमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा है। आदिकाल के 'दूहा', 'रोला', भक्तिकाल के 'पद' रीतिकाल के 'कवित्त', 'सवैया' आदि का अपना विशेष स्थान है। इसलिए यह आवश्यक नहीं था कि वर्तमानकाल की रचनाएँ प्राचीन छन्दों में ही होती रहें।

खड़ीबोली के समर्थक विद्वानों के समक्ष छन्दों के चुनाव की समस्या

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३
२. पं० प्रतापनारायण मिश्र—निबन्ध-नवनीत, भाग १, १९१९ ई०, पृ० ५०
३. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३०

अवश्य थी। खड़ीबोली की दीर्घ मात्राएँ तथा लम्बे-लम्बे क्रियापद, कवित्त, सवैये आदि छन्दों के लिए बाधा अवश्य उपस्थित कर रहे थे। इसी से भारतेन्दु युग में सरलतापूर्वक उनमें रचनाएँ न हो सकीं, लेकिन ज्यों-ज्यों खड़ीबोली के शब्द सुडौल होते गए इन छन्दों में भी सफलतापूर्वक रचनाएँ द्विवेदी युग में हुई हैं। फिर भी खड़ीबोली के विद्वान भारतेन्दु युग में भी यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि खड़ीबोली में रचनाएँ केवल २१ या २२ छन्दों में ही हो सकती हैं। उनका यह विचार 'हिन्दोस्थान', ३ अप्रैल, १८८८ ई० के सम्पादकीय टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें बड़े ज़ोरदार शब्दों में लिखा था कि 'थोथे झगड़े और कोरी लफ़्ज़ी लड़ाई में भला क्या भला होने वाला है······हम बीड़ा उठाकर अधिक नहीं तो २१ के ऊपर एक बिन्दी लगाकर इस भाषा में छन्द दिखला सकते हैं।'[1]

इस काल में खड़ीबोली की अधिकतर रचनाएँ उर्दू के छन्दों तथा लावनी, भजन, चौपदों आदि में ही होती रहीं। खड़ीबोली की क्रियाएँ उर्दू के अनुरूप होने से उर्दू के छन्दों का अनुकरण आसानी से तो किया गया, पर उर्दू की शायरी अरबी फारसी छंद-शास्त्र के नियमों के अनुसार 'वज़न' पर होने के कारण यह शैली लाभप्रद नहीं हुई। छन्दों की एक दूसरी शैली जो उस समय प्रचलित थी, वह थी 'लावनी' की। साहित्य-क्षेत्र से थोड़ा हटकर लोक-साहित्य में वह प्रिय हो रही थी। मिर्ज़ापुर के तुकनगिरि गुसाईं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश के लिए 'लावनी' की लय चलाई थी। खड़ी-बोली के कवियों ने निःसंकोच उसको ग्रहण किया। पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' की रचना 'लावनी' के ही ढङ्ग पर की। इसके अतिरिक्त 'पाठकजी' ने 'गोल्डस्मिथ' के 'ट्रैवलर' का अनुवाद 'श्रान्तपथिक' नाम से रोला छन्द में किया। नवीन छन्दों की कल्पना इस काल में न हो सकी।

सारांश

इस विवाद में विद्वानों के दो दल स्पष्ट दिखलाई देते हैं। एक दल ब्रजभाषा का पक्ष समर्थन कर रहा था और ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के स्थान पर अक्षुण्ण देखना चाहता था, और दूसरा खड़ीबोली का पक्ष समर्थन कर रहा था, और उसको ब्रजभाषा का स्थानापन्न बनाना चाहता था। इस प्रकार दो भाषाओं का अलग-अलग समर्थन करते हुए भी सबसे

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ५०

सुन्दर बात जो इन लोगों में दिखाई देती है वह थी भाषा सम्बन्धी वैमनस्य का न होना।

ब्रजभाषा-पक्ष के प्रायः सभी प्रमुख कवि पत्रकार थे और गद्य में खड़ीबोली को मान्यता प्रदान करते थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र के ये शब्द कि 'क्षमा करें! हम खड़ीबोली के विरोधी होते तो हानि पर हानि सहकर 'ब्राह्मण' का सम्पादन क्यों करते'[1] तथा पं० शिवनाथ शर्मा का यह कथन कि 'खड़ी-हिन्दी हमारी भाषा है और उसकी उन्नति में हमारा गौरव है'[2] इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ये विद्वान खड़ीबोली के नितान्त विरोधी नहीं थे।

इसके अतिरिक्त, ब्रजभाषा-पक्ष के इन विद्वानों में एक अन्य प्रवृत्ति जो और परिलक्षित होती है, वह यह थी कि प्रायः सभी कवियों ने कुछ न कुछ खड़ीबोली में भी रचनाएँ की हैं। बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' ने खड़ीबोली में 'कजली कादम्बिनी' (१८९७ ई०) और 'आनन्द अरुणोदय' (१९०६ ई०), पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने 'कंसवध' नामक एक बड़ा काव्य तथा पं० प्रतापनारायणमिश्र ने 'सांगीत शाकुन्तल' लिखा है। इन कवियों की खड़ीबोली की रचनाओं की सरसता ब्रजभाषा से बहुत न्यून नहीं है। इस सम्बन्ध में 'मिश्रजी' का यह पद अवलोकनीय है—

> 'जब से देखा प्रियवर मुखचन्द्र तुम्हारा,
> संसार तुच्छ जँचता है, हमको सारा।
> इच्छा रहती है नित्य य शोभा देखें,
> लावण्यमयी यह दिव्य मधुरता देखें॥
> यह भाव अलौकिक भोलेपन का देखें,
> इस छबि के आगे और भला क्या देखें
> अहा यह अनुपम रूप जगत से न्यारा,
> संसार तुच्छ जँचता है मुझको सारा॥'[3]

दूसरी ओर, खड़ीबोली के पक्ष समर्थक विद्वानों की रचनाएँ ब्रजभाषा में भी हो रही थीं। पं० श्रीधर पाठक की ब्रजभाषा की रचना में जो मिठास

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३७
२. वही पृ० ४४
३. डा० वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ३३७

है वह ब्रजभाषा-काव्यधारा के बहुत से कवियों में दुर्लभ है। इनकी इन रचनाओं की प्रशंसा में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'श्रीधर सप्तक' (१८६६ ई०) लिखकर इनको सम्मानित किया था।

अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इन दोनों दलों के विद्वानों में एक-दूसरी भाषा के प्रति घृणा की भावना नहीं थी। दोनों हिंदी साहित्य की उन्नति के इच्छुक थे। एक दल (खड़ीबोली के समर्थक) समयानुसार भाषा में परिवर्तन चाह रहा था और यह कह रहा था कि जब समय और परिस्थिति यह बता रही है कि ऐसा होना चाहिए तो वैसा होना भी सम्भव है; क्योंकि जो उचित और करणीय है, वह शक्य भी है। किन्तु दूसरा दल (ब्रजभाषा के समर्थक) काव्य की 'सरसता' को लेकर अपनी ज़िद्द पर अड़ा हुआ था। उसके दृष्टिकोण से खड़ीबोली उत्तम और सरस काव्य के अयोग्य थी। वह खड़ीबोली में कविता करने का तो उतना विरोधी नहीं था, जितना कि खड़ीबोली को काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थानापन्न बनाने का। यही आंशिक मतभेद विद्वानों में विरोध पैदा किए हुए था।

इन दो दलों के सिवा एक तीसरा दल और था जो हिन्दी साहित्य के भीतर इस गृह-कलह को उचित नहीं समझता था। इसके प्रतिनिधि थे बाबू राधाकृष्णदास। आपका कहना था कि जिस कवि की जिस भाषा में कविता करने की रुचि हो, उसको उसी में कविता करनी उत्तम है, और लोगों को भी चाहिए कि इसका विरोध न कर उसको उसी में कविता करने के लिए प्रोत्साहित करें। उन्होंने 'भाषा-रसिक' समाज में फैले इस भ्रम का कि 'ब्रजभाषा के अतिरिक्त, प्रचलित बोलचाल की भाषा में कविता हो ही नहीं सकती ... (अथवा) ब्रजभाषा की कविता हिन्दी भाषा की कविता ही नहीं है'[1] खंडन करते हुए इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया था—

'... ब्रजभाषा की कविता के आचार्य स्वयं सूरदास जी ने भी खड़ीबोली की कविता की है, यथा—देखो रे एक बाला योगी द्वारे मेरे आया है, अंग भभूत गले मृगछाला शृंगीनाद बजाया है। और खड़ीबोली के कवियों ने वरंच यहाँ तक कि बहुधा उर्दू वालों ने भी ब्रजभाषा का आश्रय लिया है। अतएव ... यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा कविता के

१. कृष्णशङ्कर शुक्ल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास अथवा, पृ०, १५२
'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग ६, सन् १६०२, पृ० १७१

पक्षपातियों का कहना कि खड़ीबोली में कविता उत्तम हो ही नहीं सकती और खड़ीबोली वालों का कहना कि ब्रजभाषा की कविता हिन्दी-कविता ही नहीं है सर्वथा अनुचित है।'[१]

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ऐसे दो-एक कवियों को छोड़कर जिन्होंने इस काल में आद्योपान्त ब्रजभाषा में ही कविता की है, यदि वास्तव में देखा जाए तो इस काल के अधिकाँश कवि जाने-अनजाने बाबू राधाकृष्णदास के ही मार्ग पर चले हैं। और जब जिस भाषा में जी आया है कविता की है। हाँ, प्रकट रूप में उनका यह मत कि कवि अपनी रुचि के अनुसार भाषा चुनने में पूर्ण स्वतंत्र है, लोगों को अमान्य था। इसीसे यह विवाद आगे बढ़ता रहा। द्विवेदी युग में तो इसमें काफी कटुता उत्पन्न हो गई थी।

खड़ीबोली के इस प्रस्तावना काल में इस विवाद का परिणाम अच्छा ही हुआ। लोगों को वस्तु-स्थिति का पता चल गया। वे समय की माँग को पहचान कर खड़ीबोली से प्रेम करने लगे। पं० प्रतापनारायण मिश्र का यह कहना कि 'खड़ीबोली वह भी ब्रजभाषा की बहिन ठहरी उसको अधिकार से कौन हिन्दू विमुख कर सकता है, गद्य मात्र की वह पूर्ण स्वामिनी है, पद्य भी जितने प्रकार के उसमें हो सकते हैं हों'[२] तथा पं० राधाचरण गोस्वामी का 'कविता-विचारिणी' नाम की विद्वानों की एक सभा बुलाकर कविता की भाषा के लिए निर्णय कराने का विचार प्रकट करना[३] इस बात की पूर्व सूचना थी कि खड़ीबोली के विरोधियों के पैर उखड़ चुके थे। ब्रजभाषा का निष्कासन इस युग में नहीं हो सका, परन्तु इस आन्दोलन से उसको इतना प्रबल धक्का लगा कि काव्य-क्षेत्र में उसका अब और अधिक काल तक बना रहना सम्भव नहीं था। यह बाबू बालमुकुन्द गुप्त के इस कविता 'ब्रजवासी का हाहाकार' से जिसे उन्होंने सन् १९०१ ई० में भारतेन्दु युग की समाप्ति पर लिखी थी और भी स्पष्ट हो जाता है। कविता इस प्रकार है—

'ब्रजवासी का हाहाकार

'पूँजी बिगाड़ हमने खोली दुकान है है।

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, सन् १९०२, पृ० १७८
२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३४
३. वही, पृ० ३९ (हिन्दोस्थान, २३ मार्च, १८८८ ई०)

कर डाला अपना गिरवी बैठक मकान है है!
अब दस ही रोज में सब गाहक किधर गये हाय!
क्या चार ही दिन की थी पहली वह शान है है!
जो थी दुकान पहले फूट सी एक कहीं पर,
वह काटती है कैसी बढ़-बढ़ के कान है है!
यारो अफीम खाऊँ या जल में डूब जाऊँ,
या संखिया मँगाऊँ खोऊँ यह प्रान है है!
आई है क्या खराबी बिकती नहीं किताबें,
जी में है आज सिर से तोड़ू मकान है है!
कैसे मिटाऊँ ज्वाला अब हो चला दिवाला,
उठती हैं विष की लहरें, हर एक आन है है!'[1]

लेखक का व्यंग्य ब्रजभाषा पर साफ है। किसी ब्रजवासी ने ब्रजभाषा की किताबों की एक दुकान अपना सब कुछ गिरवी रखकर खोली थी। पर, खेद है कि उसकी किताबें अब नहीं बिक रही थीं। दूसरी ओर, एक 'फूटी-सी' दुकान (लेखक का अभिप्राय खड़ीबोली से है) और थी। उसकी किताबें अब खूब बिक रही थीं। तात्पर्य यह कि लोगों की रुचि ब्रजभाषा की ओर से हट रही थी और खड़ीबोली की रचनाएँ उनको अधिक पसन्द आने लग गई थीं।

इस प्रकार इस आन्दोलन से इस युग में जो नवीन चेतना उत्पन्न हुई तथा खड़ीबोली के कवियों ने जो पहला प्रगतिशील कदम इस दिशा की ओर उठाया, हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए वह बहुत ही महत्वपूर्ण था।

---

१. बाबू बालमुकुन्द गुप्त—स्फुट कविता, १६०५ ई०, पृ० १४१

चौथा अध्याय

द्विवेदी युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद का ऐतिहासिक दिग्दर्शन

प्रवेश

भारतेन्दु युग में, कविता के माध्यम के लिए, खड़ीबोली को ग्रहण करने का जो आंदोलन चला था, उसके परिणामस्वरूप खड़ीबोली में रचनाएँ तो होने लगी थीं, किन्तु उसमें पद्य-रचना की कोई दृढ़ परम्परा न होने से उसका विकास किसी एक निश्चित प्रणाली पर नहीं हो रहा था। बाबू अयोध्या-प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य' में तत्कालीन पाँच शैलियों— १—'ठेठ हिन्दी', २—'पंडित जी की हिन्दी', ३—'मुंशी जी की हिन्दी', ४—'मौलवी साहब की हिन्दी', तथा ५—'यूरेशियन हिन्दी' का उल्लेख है।

'ठेठ हिन्दी' में विदेशी और संस्कृत के कठिन शब्द प्रायः नहीं थे। तद्भव और देशज शब्द अधिक थे। 'पंडित जी की हिन्दी' में संस्कृत के शब्द अधिक थे। विदेशी शब्द प्रायः नहीं थे। 'मुंशी जी की हिन्दी' 'पंडित जी' और 'मौलवी साहब' की हिन्दी के बीच की हिन्दी थी, जिसको 'हिन्दु-स्तानी' कहते हैं

'हमारा बोलता तोता कहाँ है ?
अरे वह राम सा बेटा कहाँ है ?'

बोलचाल की भाषा में यह शैली लोगों को बहुत पसन्द आई थी।

'मौलवी साहब की हिन्दी' फारसी-अरबी के शब्दों से भरी थी। इसको मौलवी साहब 'उर्दू' कहकर पुकारते थे। चूँकि बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री उर्दू को खड़ीबोली की एक शैली मानते थे,[1] इसीलिए उन्होंने इस प्रकार की रचनाओं—

'दिल मेरा ले गया दग़ा करके,
बे वफा हो गया वफा करके।

१—'उर्दू को मैं हिन्दी का एक स्टाइल (शैली) समझता हूँ। उर्दू-पद्य को खड़ीबोली का पद्य मानता हूँ। यह कौन कहता

हिज्र की शब घटा दी हमने,
दास्ताँ ज़ुल्फ़ की बढ़ा करके ।''[१]

को भी खड़ीबोली के पद्य-साहित्य में स्थान दिया है ।

निःसंदेह 'उर्दू' हिन्दी (खड़ीबोली) से भिन्न कोई दूसरी भाषा नहीं है । 'खुसरो', 'सौदा', 'हाली', 'नजीर' आदि की बहुत सी रचनाएँ हिन्दी (खड़ीबोली) में हैं । इसी प्रकार भारतेन्दु बाबू तथा प्रतापनारायण मिश्र की अधिकांश ग़ज़लें हिन्दी (खड़ीबोली) के अन्तर्गत हैं । बाद में जब धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चालबाजियों से अरबी-फारसी के अव्यवहृत शब्द खड़ीबोली में भरे जाने लगे और उसका व्याकरण भी फारसी के ढंग पर बनने लगा, तब वह मुंशियों की और मौलवियों की उर्दू-ए-मुअल्ला बन गई । 'खत्रीजी' ने जिस शैली को यहाँ हिन्दी के भीतर माना है वह यही

> है कि उर्दू दूसरी वस्तु है ? सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपान्तर है । जब हिन्दुओं ने इसका अनादर कर इसे त्याग दिया, तब मुसलमानों ने इसकी दीनता पर दया कर इसे अपने मुल्क के लिबास और जेवरों से आभूषित कर इसका दूसरा नाम उर्दू रक्खा । तात्पर्य यह कि इस नारी का कुल और गोत्र सदा एक ही रहा समय-समय इसका रंग, रूप और भेख अलबत्ता पलटता गया ।'
>
> खड़ीबोली का पद्य भाग १, पृष्ट ४ (भूमिका)

'खत्रीजी' के अतिरिक्त दूसरे विद्वानों का भी यही मत था । 'खड़ीबोली पद्य' भाग १ के टाइटिल पेज पर गोविन्दप्रसाद अलमोड़ा निवासी का विचार इस सम्बन्ध में इस प्रकार छपा है—

> 'It is indeed a serious mistake to think Urdu a different langrage from Hindi. It is a part of Hindi, nay, it is Hindi itself. That will be a very happy day when we shall see that the very word 'Urdu' talked of no more. So called Urdu is of course a style of Hindi, and to consider it a different language (if it is at all a different one), is very detrimental to the interest of Hindi.'

१. खड़ीबोली का पद्य, भाग २, पृ० ३–४ (भूमिका)

उर्दू-ए-मुअल्ला थी जिसमें हिन्दी का स्वाभाविक रूप तिरोहित हो गया है। इस प्रकार की शैली पर हिन्दी का विकास सम्भव नहीं था।

'यूरेशियन हिन्दी' में अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग होता था, किन्तु इस शैली का स्थान नगण्य था।

इन शैलियों के अतिरिक्त, एक शैली और थी जिसमें ब्रजभाषा और खड़ीबोली का मिश्रित व्यवहार होता था। यह दोष केवल अप्रसिद्ध कवियों की रचनाओं में ही नहीं, प्रत्युत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० श्रीधर पाठक पं० नाथूरामशंकर शर्मा, पं० किशोरीलाल गोस्वामी आदि सभी की प्रारंभिक रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। पं० श्रीधर पाठक की खड़ीबोली की एक रचना का उदाहरण इस प्रकार है—

> 'विस्व निकाई बिधि ने उसमें की एकत्र बटोर,
> बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर।'[1]

यहाँ 'विस्व', 'निकाई' संज्ञाएँ, 'करोर' विशेषण तथा 'बलिहारौं', 'वारौं' क्रियाएँ ब्रजभाषा की हैं। किन्तु आगे चलकर स्वयं पाठकजी ने इस मिश्रित प्रयोग का खण्डन करते हुए 'मर्यादा' नवम्बर, १६१० ई० में लिखा कि—

> 'विशुद्ध भाषा की कविता ही उच्च श्रेणी की कविता कहलाने की सम्भावना और शिष्ट समाज में आदर पाने की योग्यता रख सकती है।......मिश्रित या खिचड़ी भाषा के पद्य में यह योग्यता नहीं आ सकती। अतः ऐसी भाषा का प्रयोग उत्कृष्ट काव्य में कदापि न करना चाहिए किन्तु इसकी प्रथा को एक साथ त्याग ही देना अच्छा है। खड़ीबोली ने अब ऐसा प्रशस्त रूप प्राप्त कर लिया है कि उसके पद्य में ब्रजभाषा आदि हिन्दी के इतर रूपों की वाक्य-वल्लरी वां वाक्पद्धति का किंचित् अनुपयुक्त व्यवहार भी उसके प्रकृत और गौरव की हानि का हेतु हो सकता है।'[2]

इस प्रकार देखा जाता है कि पद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली का विकास एक

---

१. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १६६७ वि०, पृ० ५३७

२. मर्यादा, भाग १, संख्या १, पृ० ८४

अनिश्चित ढङ्ग पर हो रहा था। आवश्यकता अब एक ऐसे संचालक की उत्पन्न हो गई थी जो इस 'आन्दोलन' को एक व्यवस्थित रूप देता, और खड़ीबोली की शिथिलता को दूर कर उसको एक निश्चित मार्ग में विकासोन्मुख भी करता, जैसा कि 'हरिऔध' जी ने लिखा है,

'......यह आन्दोलन सबलता से चला और उसको सफलता भी प्राप्त हुई। परन्तु नियमबद्धता और स्थिरता का उसमें अभाव था। कोई ऐसा संचालक उस समय तक उसको प्राप्त नहीं हुआ था, जो उसका मार्ग प्रशस्त करे और तन-मन से इस कार्य में लगकर वह आदर्श उपस्थित करे जिस पर अन्य लोग चलकर उसको उन गुणों से अलंकृत कर सकें जो सत्कविता के लिए वांछनीय होते हैं।'[1]

इस समय तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य-क्षेत्र में आ चुके थे, और उनकी प्रौढ़ लेखनी का सम्मान भी विद्वानों में होने लगा था। खड़ीबोली के आन्दोलन तथा सामयिक आवश्यकताओं से प्रभावित होकर उन्होंने खड़ीबोली में पद्य रचना भी प्रारम्भ कर दी थी। खड़ीबोली की उनकी प्रथम रचना 'बलीबर्द' १९ अक्टूबर १९००ई० में 'श्री वेंकटेश्वर समाचार पत्र' में प्रकाशित हुई थी। वे कविता के तत्कालीन आवरण (ब्रजभाषा) के बदलने के पक्ष में थे। उनका यह मनोभाव उनकी रचना 'हे कविते!' से जो जून, १९०१ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी, स्पष्ट हो जाता है, यथा-

'विडम्बना जो यह हो रही तव,
समूल ही भूल उसे दयामयि!
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौ भी कुछ काल लौं यहाँ॥
अभी मिलैगा ब्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-सङ्गी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही॥
इसीलिये ही भवभूति-भाविते!
अभी यहाँ हे कविते! न आ, न आ।

---

१. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० ५५२

बता तुही कौन कुलीन कामिनी।
सदा चढ़ेगी पट एक ही वही !'[1]

सौभाग्य से सन् १६०३ ई० में आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार सँभाला, और इस भाँति उन्हें अब खड़ीबोली को काव्य में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करने का कार्य-क्षेत्र मिल गया। आपके प्रभाव तथा प्रोत्साहन से अनेक कवि खड़ीबोली में काव्य-रचना की ओर उन्मुख हुए। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डे आदि उनके उत्साहित शिष्यों में से हैं, और 'सनेही जी', ठा० गोपालशरण सिंह, बाबू सियारामशरण गुप्त, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि पर उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार नवीन कवियों का एक दल उनके साथ होगया। खड़ीबोली में रचना प्रकाशित कराने वालों के लिए 'सरस्वती' का द्वार खोल दिया गया। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक बाबू श्यामसुन्दरदास के इस कथन को कि 'इस अभाव की पूर्ति व्यर्थ की लिखा पढ़ी से न हो सकेगी, जब तक प्रतिभाशाली कविगण सुन्दर मनोहर कविता करके हिन्दी-प्रेमियों को उसका रसास्वादन न करावेंगे और दूसरे कवियों को कविता करने का मार्ग न दिखावेंगे',[2] सिद्धान्त रूप में ग्रहण किया। इसीलिए उन्होंने अपना तथा अपने दल के अन्य कवियों का समय ब्रजभाषा के विरोध तथा उसकी आलोचना करने में अधिक नष्ट न होने दिया। ब्रजभाषा के समर्थकों के विरोध करते रहने पर भी द्विवेदी जी दृढ़ता पूर्वक अपने कार्य में लगे रहे। इसका परिणाम आठ-नौ वर्षों के भीतर ही यह हुआ कि खड़ीबोली में अधिक से अधिक रचना होने लगी और निकट भविष्य में गद्य और पद्य की भाषा के एक हो जाने की पूर्ण आशा हो गई। सन् १६०६ ई० में 'कविता-कलाप' की भूमिका में आचार्य द्विवेदी ने लिखा कि 'इस नये ढंग की कविताएँ...दिन पर दिन लोगों को अधिकाधिक पसंद आने लगी हैं....बहुत सम्भव है कि किसी समय हिन्दी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाय।'[3] इसके चार-पाँच वर्ष बाद, इस

---

१ : देवीदत्त शुक्ल (संग्रहकार)—द्विवेदी काव्यमाला १६४० ई०, पृ० २६४

२. सरस्वती, भाग २, संख्या ६, जून १६०१ ई०, पृ० १८७

३. कल्पना, फरवरी १६५०, पृ० ३३

अवस्था में और भी अन्तर पड़ा। पुनः आचार्य द्विवेदी ने अप्रैल, १९१४ ई० के 'सरस्वती' अङ्क में प्रकाशित 'बोलचाल की हिन्दी में कविता' शीर्षक लेख में लिखा कि 'अब आप किसी भी अखबार या सामाजिक पुस्तक को उठा लीजिए, प्रायः सर्वत्र ही आपको बोलचाल की भाषा में कविता मिलेगी।'[1] काव्यभाषा में खड़ीबोली की इस भाँति प्रगति का एकमात्र कारण यही था कि ये कवि विरोधियों की निन्दा की परवाह न करके खड़ीबोली में कविता करने में चुपचाप लगे रहे। इन विरोधियों को आचार्य द्विवेदी अपने तथा अपने पक्ष के विद्वानों के दृढ़ संकल्प को इस भाँति सुना देते थे कि 'ब्रजबोली में कविता न करने या उस बोली के न जानने वाले चाहे 'लंगूर' बनाए जाएँ चाहे 'गीदड़' इससे बोलचाल की भाषा का प्रवाह बन्द न होगा।'[2]

द्विवेदी जी की रचना में दो प्रकार की शैलियाँ—१. संस्कृत गर्भित, तथा २. सरल शब्दों से युक्त—दिखाई देती हैं। संस्कृत के विद्वान होने के नाते तथा विशुद्ध हिन्दी लिखने की धुन में कहीं-कहीं उनकी रचना इस प्रकार की हो गई है—

> 'सुरम्यरूपे ! रसराशि-रंजिते,
> विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ?
> अलौकिकानंदविधायिनी महा,
> कवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?'[3]

परन्तु, द्विवेदी जी बोलचाल के सरल शब्दों में कविता लिखने के विशेष पक्ष में थे। उनका कहना था कि 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ भी हृदयंगम कर सके',[4] इसलिए उन्होंने सरल और सुबोध शैली में भी रचनाएँ की हैं। जैसे—

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी—विचार विमर्श, १९८८ वि०, पृ० २६
२. सरस्वती, १५ वाँ भाग, संख्या ४ पृ० २२८
३. देवीदत्त शुक्ल (संग्रहकार)—द्विवेदी काव्यमाला, १९४० ई० पृ० २९१
४. विशाल भारत, सन् १९४४ ई० पृ० ४०४

'मैं कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया ?
क्या क्या विचार, मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किसको शरीर,
आत्मा किसे कह रहे सब धर्म-धीर ?'[1]

इस युग के खड़ीबोली के कवियों ने प्रायः इन्हीं दोनों शैलियों का अनुकरण किया है।

द्विवेदीजी ने भाषा को शुद्ध और व्याकरण सम्मत बनाने की ओर भी विशेष ध्यान दिया। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आने वाली रचनाओं को बड़े परिश्रम से शुद्ध और परिमार्जित करने के उपरान्त ही वे प्रकाशित करते थे। भाषा-संस्कार के सम्बन्ध में एक बार द्विवेदीजी ने श्री मैथिलीशरण गुप्त को उनकी 'क्रोधाष्टक' रचना पर क्षुब्ध होकर एक पत्र इस भाँति लिखा था—

'हम लोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ लिखकर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने क्रोधाष्टक थोड़े समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घण्टे लग गये।'[2]

इस भाँति हम देखते हैं कि वे भाषा की अशुद्धियों और अन्य दोषों के कटु समालोचक थे। अपनी रचना 'विधि-विडम्बना' में उन्होंने ब्रह्मा को उसकी इस प्रकार की भूल के लिए कि वह ऐसे-ऐसे व्यक्तियों से पत्र का सम्पादन करा रहा है, जो शुद्ध भाषा भी लिखना नहीं जानते, उलाहना देते हुए बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से लिखा था—

'घोड़े जहाँ अनेक, गधों का वहाँ काम क्या था ? सच कह;
विदित हो गई तेरी सारी चतुराई, तू चुप ही रह।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है, उनके कर से नए-नए अखबार॥'[3]

१. सरस्वती, भाग ५, संख्या २, सन् १९०४ ई०, पृ० ४६
२. डा० उदयभानु सिंह—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, २००८ वि० पृ० २४५
३. देवीदत्त शुक्ल (संग्रहकार)—द्विवेदी काव्य-माला, १९४० ई० पृ० २९१

उनकी इस प्रकार की समालोचनाओं ने कितने कवियों और लेखकों को सतर्क कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध भाषा में रचनाएँ होने लगीं और खड़ीबोली उत्तरोत्तर स्वच्छ, शक्तिशाली और दृढ़ बनती गई।

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने बड़ी योग्यता तथा परिश्रम से खड़ीबोली के इस आन्दोलन को संचालित किया। खड़ीबोली के कवियों द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों और छन्दों में अधिक से अधिक रचना कराके उसको सब विधि साधन सम्पन्न और सफल बनाया। जिन विद्वानों को खड़ीबोली का भविष्य संदिग्ध जान पड़ता था वे भी उसको समुन्नत होते देखकर उसमें रचनाएँ करने लगे। फिर भी, खड़ीबोली का विरोध ब्रजभाषा के समर्थक विद्वानों ने पूर्ण बल से किया। आगे यहाँ उसी वाद-प्रतिवाद का दिग्दर्शन कराना है।

खड़ीबोली में काव्योचित गुण का अभाव?

खड़ीबोली पर यह आक्षेप कि वह काव्योपयुक्त भाषा नहीं है, नवीन न था। जिस प्रकार भारतेन्दु युग में वह निःसंकोच 'पिसाची' और 'डाकिनी' बनाई गई थी, उसी प्रकार इस युग में भी वह 'चूरन वालों की बानी', 'बिरहे' तथा 'पचड़ों' की भाषा बताई गई। ब्रजभाषा के समर्थक विद्वानों का यह कहना था कि निम्नकोटि की रचनाओं में ही अब तक उसका प्रयोग होता रहा है। उच्चकोटि की रचना के वह कदापि योग्य नहीं है। इस आशय को पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन से दिए गए अपने भाषण में इस प्रकार व्यक्त किया था—

> 'आगे के लोग इस बोलचाल की भाषा को विशुद्ध वा साधुभाषा अथवा प्रशस्त पद्य रचना के योग्य नहीं समझते थे, इसी से जब कुछ लोग निम्न श्रेणी अथवा छोटे दरजे की कविता करते थे, तो इसी भाषा को काम में लाते थे।...यही कारण है कि प्रायः क्या प्राचीन और क्या मध्यकालीन एवं कुछ नवीन समय के भी निम्नकोटि के पद्य इस भाषा में बने पाये जाते हैं। जैसे चूरन वालों की बानी, बिरहे, पचड़ों के बहुतेरे बन्द, स्वाँग वा भगत के पद्य और ख्याल, चौबेले, शेर आदिक, यथा—
>
> राम राम कहना अच्छा ही काम है
> बे-मेहनत का दाना खाना हराम है।'[1]

---

१. तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य-विवरण, पहला भाग, पृ० ४१

दूसरे, इन लोगों का यह भी कहना था कि ब्रजभाषा में कविता करना और उसको काव्योचित गुण से अलंकृत करना इस युग में भी कवियों के लिए सुगम है, क्योंकि उनके समक्ष प्राचीन रचना की एक परम्परा मौजूद है जिसके पठन-पाठन से ही वे काव्य-रचना के दाँव-पेंच को जान लेते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' ने अपनी पुस्तक 'चन्द्रकला-भानुकुमार' (१६०४ ई०) की भूमिका में लिखा है, 'खड़ीबोली में काव्य करने वाला अपनी घातें आप ही खोजेगा तब पावेगा।'[१] आगे इसी पुस्तक में 'पूर्णजी' ने यह भी लिखा है कि 'खड़ीबोली के नाम से ही विदित है कि उसका काम है खड़ी रहना इसलिए उसे दर्बार, अदालत, बाज़ार इत्यादि में जगह मिल गई उसको उन ऊँचे और सुरम्य स्थानों में खड़ी होने का उत्साह न करना चाहिए जहाँ केवल श्रीमती ब्रजभाषा इत्यादि का सुख से आराम करने का अधिकार है।'[२] इसी प्रकार मदन नाम के एक लेखक ने भी श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के लेख 'कविता की भाषा' जो 'माधुरी' अगस्त, १६२२ ई० में, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के १२ वें 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के अवसर पर सभापति के आसन से दिए गए अभिभाषण की आलोचना में, प्रकाशित हुआ था, की प्रत्यालोचना में खड़ीबोली को 'बाजारू भाषा' कह दिया था। मदन का यह लेख लाहौर से प्रकाशित होने वाली 'ज्योति-पत्रिका' में छपा था, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

'......यह अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान बाजारू भाषा से कविता के लिए ब्रजभाषा ही अत्यधिक उपयुक्त है।'[३]

इस 'बाजारू' शब्द से चिढ़कर भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने लिखा था कि—

'आपकी यह सलाह वास्तव में बड़े पते की है। अभी तक हिन्दी के विद्वानों के दिमाग में जो बात नहीं आई थी, वह आपके मुख से इस प्रकार अनायास ही निकल पड़ी। 'बाजारू भाषा' कह कर जिस खड़ी-बोली का आप इस प्रकार मज़ाक उड़ाते हैं, उसे इसीलिए इतना श्रेय प्राप्त हुआ है कि वही एकमात्र भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने योग्य है। वह बाजारू भाषा है, तभी तो राष्ट्रभाषा है। क्या किसी भी अन्य

१. रायदेवीप्रसाद पूर्ण-चन्द्रकला भानुकुमार नाटक, पृ० ७ (भूमिका)
२. वही, ८ („)
३. माधुरी, वर्ष १, खंड २, संख्या ४, पृ० ३७६

प्रान्तीय भाषा को इतना श्रेय प्राप्त है कि उसका व्यवहार समस्त प्रान्तों के शहरों, तीर्थ-स्थानों, स्टेशनों और बाजारों में समान रूप से होता हो ? महाशय, यही तो वे कारण हैं, जिनकी बदौलत हिन्दी राष्ट्रभाषा कहलाती है। और जब एकमात्र वही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने योग्य है, और है, तो कोई कारण नहीं कि वह कवितोपयुक्त भाषा न हो।'[1]

इसी लेख में 'वाजपेयी जी' ने पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के इन कथनों—'खड़ीबोली वाले बेतहाशा सरपट दौड़ रहे हैं, वह तुकबन्दी को ही कविता समझते हैं'[2] तथा 'खड़ीबोली की कविता में भाव का अभाव है, और ओज की खोज व्यर्थ है, लालित्य के तो सदा लाले पड़े रहते हैं, प्रसाद का कहीं पता ही नहीं है, रस का रसाभास भी नहीं, न अर्थ से अर्थ न मतलब से मतलब'[3]— का भी इस प्रकार उत्तर दिया था—

'यदि यही बात है जैसा कि चतुर्वेदी जी का विश्वास है, तब तो हिन्दी-संसार इस समय बड़े भ्रम में है। 'कविता-कलाप', 'कविता-कुसुम-माला,' 'जयद्रथ वध,' 'भारत-भारती', 'अनुराग-रत्न', 'प्रियप्रवास', 'रामचरित-चिन्तामणि,' 'ताराबाई,' 'भारत-गीतांजलि,' 'राष्ट्रीय-वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'संजीवनी', 'पथिक' तथा इधर के अन्य नवीन काव्य-ग्रन्थ, और 'माधुरी', 'सरस्वती', 'प्रभा', 'मर्यादा', आदि उच्चकोटि की सचित्र मासिक पत्रिकाएँ यदि यही बतलाती हैं तब तो सचमुच इतना परिश्रम और प्रचुर धन व्यर्थ व्यय हुआ और हो रहा है। तब तो आवश्यकता इस बात की थी कि कानपुर के गत 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में इसी आशय का एक प्रस्ताव रखा जाता कि चूँकि खड़ीबोली में सुन्दर और मधुर कविता हो ही नहीं सकती अतएव हिन्दी साहित्य-सेवियों का कर्तव्य है कि वे खड़ीबोली में कविता करना तुरन्त बन्द कर दें और ब्रजभाषा में ही कविता करें।'[4]

१. माधुरी, वर्ष १, खंड २, संख्या ४, पृ० ३७६
२. द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य बिवरण, दूसरा भाग, पृ० १७०
३. माधुरी, वर्ष १, खंड १, संख्या २, पृ० १६०
४. ,, ,, २ ,, ४ ,, ३७७

इसमें संदेह नहीं कि चतुर्वेदी जी का उक्त कथन खड़ीबोली के सम्बन्ध में एक कटु आलोचना थी, किन्तु वे खड़ीबोली के विरोधी न थे। हाँ, ब्रजभाषा का बहिष्कार भी वे नहीं चाहते थे। वे 'खड़ी पड़ी और अड़ी गड़ी बोलिन को रगरौ' के बारे में कहा करते थे कि 'करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठौ झगरौ'[1] जैसा कि उनका मन्तव्य नीचे के इस अवतरण से और भी स्पष्ट हो जाता है—

'ब्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिन्दी की प्राचीनता प्रगट न होगी और खड़ीबोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट होगी। हानि दोनों से है। इसलिए दोनों दल वालों को ईर्ष्या द्वेष त्यागकर काम करना चाहिए।'[2]

खड़ीबोली की रचना पर उस समय जो कटु एवं स्वस्थ आलोचनाएँ हुईं उनसे उसका हित भी हुआ, किन्तु ऐसे भी बहुत से लोग थे जो खड़ीबोली की रचनाओं की आलोचना ईर्ष्या से प्रेरित होकर निन्दात्मक दृष्टि से कर रहे थे। इनमें से पं० चन्द्रमनोहर मिश्र का एक लेख 'कविता का मर्म' शीर्षक से जो 'इन्दु' (१६१५ ई०) में प्रकाशित हुआ था, द्रष्टव्य है—

'आधुनिक कवि आशुकवि का दम भर रहे हैं, कितनी शीघ्रता से 'थे' 'है' की तुकान्त लगाते हैं। चूरन वाले लटकों का लक्षण कितना प्रिय लगता है। देश का नाम लेकर एक आध इधर उधर के लटके सुनाओ और सुकवि बन जाओ। वंदनीय महाशयों से अति विनयपूर्वक प्रार्थना है कि इस साहित्य परिवर्तन के युग में नव मुरीद हिन्दी प्रिय पाठकों को ऐसी शिक्षा न दें जिससे सत्कवियों का तिरस्कार ही नहीं वरन् काव्य का आदर्श भी भ्रष्ट हो जाय।'[3]

कविता कैसी होनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में आप लिखते हैं कि 'उत्तम काव्य के लिए मधुर भाषा के मनोहर छन्दोपवन में मयूरादिक ललित शब्दों

१. पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—सिंहावलोकन, १६७४ वि०, पृ० ३७
२. वही पृ० ३२
३. इन्दु, कला ६, खंड २, किरण २, अगस्त, १६१५, पृ० १४६

की घटा में अलंकार के सरस मेघों से उत्तम भावों की झर लगी होनी चाहिए।'[१] कविता का एक यह भी आदर्श है; पर इस भाँति काव्य को सदैव के लिए एक ही प्रकार की सीमा में आबद्ध कर रखना उसके आदर्श को नष्ट भी करना है। इस प्रकार की कविता से हमारा साहित्य भरा-पूरा है। अब उसकी और आवश्यकता नहीं थी। इस समय हमारा मुख्य लक्ष्य था देश और जाति का उत्थान करना। ऐसे अवसर पर बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'कवि पुराना चरखा कातने नहीं बैठ सकता, और न वह चुप ही रह सकता है। उसकी कविता का अक्षर-अक्षर देश की कल्याण-कामना से रँगा होगा। उसकी कविता को कोई चाहे कोरी तुकबन्दी कहे या चूरन के लटके की उपाधि दे, वह इसकी परवाह नहीं करता। दो चार ब्रजभाषा के प्रेमी इसे भावोत्कर्ष भले ही न कहें, पर जनता इसका मूल्य खूब जानती है।'[२]

'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट को भी खड़ीबोली की कविता नहीं भाई थी। उन्होंने लिखा था कि 'खड़ीबोली की कविता पर हमारे लेखकों का समूह इस समय टूट पड़ा है······हमें तो काव्य के गुण इसमें बहुत कम जँचते हैं।'[३] 'भट्टजी' की इस प्रकार की आलोचना से खड़ीबोली काव्य का हित तो नहीं हुआ था, पर इससे एक बहुत बड़े यथार्थ की पुष्टि हुई थी। वह यह कि किसी भी काव्य-साहित्य में नये कवियों की अभिवृद्धि उस साहित्य की उन्नति का पूर्वाभास है। इन कवियों में तुकबन्दी करने वाले भी होते हैं, और इन्हीं तुकबन्दी करने वालों में से सच्चे कवि कहलाने वाले भी पैदा होते हैं, और हुए भी हैं जो भाषा को काव्य गुण से युक्त कर देते हैं। अतः खड़ीबोली के उस प्रसार काल में नए कवियों की वृद्धि उसकी लोक-प्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण था।

इसी प्रकार एक अन्य लेखक महोदय ने, जिन्होंने अपना नाम न देकर अपने को एक 'धृष्ट' समालोचक लिखा है, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कविता कलाप' पर, जिसमें द्विवेदीजी तथा उनके कुछ प्रिय कवियों— पं० नाथूराम शंकर शर्मा, बाबू मैथिलीशरण गुप्त आदि की राजा रविवर्मा

---

१. इन्दु, कला ६, खंड २, किरण २, अगस्त, १९१५, पृ० १४९
२. एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (कलकत्ता), पृ० ७९, ८०
३. हरिऔध—प्रियप्रवास, १९२१ ई० पृ० ६

के कथाचित्रों के आधार पर लिखी गई रचनाओं का संग्रह खड़ीबोली में है, 'कलाप या प्रलाप ?' शीर्षक से एक कटूक्तियों से पूर्ण बहुत बड़ा लेख 'मर्यादा' मई १९१३ ई० में प्रकाशित कराया था, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"गूँगी गुणज्ञता ।
इसका चित्र सभी को भाया
'रविवर्मा' ने विशद बनाया ।
कौशल उसमें खूब दिखाया
रुचिर रूप अच्छा उपजाया ।।

'यह तो कविता क्या पद्य भी नहीं है । इससे तो गद्य ही का वर्णन बलशाली होता । यदि आप (द्विवेदीजी) इसी तरह गद्य-पद्य की भाषा एक करना चाहते हों तो करें, किसी की हानि नहीं । पर दूसरों पर उसे प्रकट करने का कष्ट न उठाइए । भला 'खूब' और 'अच्छा' कहना कौन नहीं जानता ? या उसके लिए कवि होने की जरूरत है, नहीं तो धृष्टता समझी जायगी !

"व्याकरण की पूजा ।
'द्विवेदीजी महाराज वैयाकरण हैं न, इसलिए व्याकरण ही लीजिए—

'इसका चरित बाण ने गाया ।
जिसने कादम्बरी बनाया ।।

'अब से 'रामायण बनाई' न कहिये 'रामायण बनाया' कहा कीजिये, तिस पर 'रामायण तो स्त्री लिंग नहीं', इस संग्रह में द्विवेदीजी ने 'रम्भा बनाया', प्रियम्बदा बनाया', 'कुसुम सुन्दरी बनाया' क्या कहें ?··· और देखिए—

'प्रिय से प्रेम लगाया इसने ।
अंग विभूति रमाया इसने ।।

'धन्य ! द्विवेदीजी धन्य ! यह आर्ष प्रयोग वैयाकरण ही कर सकते हैं । हमने तो अब तक यही पढ़ा था—

'जोगी था सो रम गया, आसन रही 'भभूत' । इस भोंदे मूसलचन्द ने 'भभूत' को 'विभूति' भी नहीं लिखी ! क्या कहें ?

'बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ छोटे मियाँ सुबहान अल्लाह ! बाबू मैथिली-शरण गुप्त की तुकें संस्कृत की भाँति ह्रस्व और गुरु को नहीं गिनतीं। ...आपकी जितनी भाषा निराली है, उतना ही व्याकरण भी—

'वह अद्‌भुत छवि से अवनी का
इन्द्रभवन कहलाता था।

'अवनी। 'पृथ्वी' नहीं।...बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'सरस्वती' की 'एप्रेंटिसी' खूब की है।''[1]

इनके अतिरिक्त 'शब्द योजना' 'समासों की सेवा' 'उपमाएँ और रसिकता' 'गुड़ नहीं गुड़हर' 'दिव्य दृष्टि' 'बाँस तो बहुत, पै बजी नहीं बाँसुरी' 'कवयः किं न पश्यन्ति' आदि बातों को भी लेकर 'धृष्ट जी' ने आलोचनाएँ की हैं। आपने लिखा है कि "द्विवेदी जी की कविता में सार कुछ नहीं है। न शब्द-योजना ही अच्छी है, न भाव-कल्पना ही, न वाणी ही के गुण हैं, न विचार ही के। कविता निरी 'नग्न' तो अलग है ही, पर उसमें लड़कपन भी है, जिसकी आप ऐसे वयोवृद्ध महात्मा से आशा नहीं थी।''[2] द्विवेदी जी पर होती इस प्रकार की कटु आलोचनाओं के उत्तर में खड़ीबोली के समर्थक विद्वान लिखते थे कि 'आजकल जो लोग द्विवेदी जी की अनिस्थिरता पर अपने पांडित्य का फव्वारा छोड़ रहे हैं वे लोग यदि यह काम करते तो उनकी यथार्थ पंडिताई जानी जाती...पर हमारे हिन्दुस्थानी भाइयों को आपस में व्यर्थ लड़ने का शौक अभी तक बना हुआ है।'[3]

'होली में खड़ीबोली' शीर्षक से एक रचना 'सरस्वती' १९१३ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके रचयिता हैं एक महाशय नित्यानन्दजी। इसमें कवि ने बड़ी ही व्यंग्यात्मक शैली में खड़ीबोली को काव्योपयुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। रचना रुचिकर है, किन्तु लम्बी होने से उसका सम्पूर्ण अंश यहाँ न देकर परिशिष्ट नं० 'अ' में अवलोकनार्थ दिया गया है। दो पद इस प्रकार हैं—

१. मर्यादा, भाग ६, संख्या १, पृ० ४१-४२
२. वही पृ० ४६
३. हिन्दी ग्रन्थमाला, प्रथम वर्ष, मार्च-अप्रैल, १९०७ ई०, पृ० ९० (निबंध-संग्रह भाग)

'इसका तो कहना ही क्या है, हम भाषा के भर्ता हैं,
कर्ता धर्ता, भाग्य-विधाता और स्वयं ही हर्ता हैं !

\+ + + +

है हमको अधिकार कि जब जो जी में आवे करें वही,
है बस, आज खड़ीबोली के बहिष्कार का हेतु वही।

\+ + + +

अंग्रेजी सी गिटपिट बोली, है जिसका जठरत्व प्रसिद्ध,
कविता की भाषा हो सकती और हुई भी है वह सिद्ध।
किन्तु कदापि नहीं हो सकती कविता योग्य खड़ीबोली,
लगती है वह, पद्य रूप में, रसिकों को जैसे गोली !'[1]

इस युग के प्रारम्भिक वर्षों की 'सरस्वती' में प्रकाशित खड़ीबोली की रचनाओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि खड़ीबोली काव्य-भाषा के लिए अपरिपक्व और अशक्त अवश्य थी, जिसमें लाक्षणिकता तथा रसात्मकता का अभाव था; परन्तु ज्यों ज्यों इस काल के कवियों द्वारा भाषा क्रमशः मँजती गई त्यों-त्यों वह दृढ़ और सशक्त भी होती गई। इस युग की समाप्ति पर इस प्रकार की कविताएँ बनने लगी थीं—

'एक पथिक स्वच्छन्द समुद्र-समीरण का अनुरागी।
विश्व-समान हृदय का स्वामी हर्ष-विमर्श-विरागी ॥
देख रहा था कौतूहल से अचल किए दृग-तारा।
विश्व-मञ्च पर प्रकृति-नटी का पट-परिवर्तन प्यारा ॥'[2]

(पथिक)

तथा—

'कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घनमंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिए में तीर मारा है।

१. सरस्वती, भाग १४, संख्या ३, पृ० १८१, १८२
२. पं० रामनरेश त्रिपाठी—पथिक, १९४३ ई०, पृ० १३

काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है।'[1]
(शंकर-सर्वस्व)

अतः 'रंग में भंग' (१६०६) 'जयद्रथ वध' (१६१०) 'भारत-भारती' (१६१२) 'प्रियप्रवास' (१६१४) 'वीरपंचरत्न' (१६०६-१६१४) 'मौर्य-विजय' (१६१४) 'प्रणवीर प्रताप' (१६१५) 'कृषक क्रदन' (१६१६) 'मिलन' (१६१८) 'पथिक' (१६२०) 'रामचरित चिन्तामणि' (१६२०) आदि रचनाओं के प्रकाशित हो जाने पर अब किसी भी भाषा-मर्मज्ञ को यह सन्देह नहीं करना चाहिए था कि खड़ीबोली काव्य-भाषा के लिए उपयुक्त नहीं है।

संस्कृत-रूप में खड़ीबोली

काव्य में खड़ीबोली का प्रवेश भारतेंदु युग से होने लगा था, परन्तु उसका व्यवहार बड़े ही अव्यवस्थित तथा मनमानी रीति से किया जा रहा था। द्विवेदी युग में उसको व्यवस्थित और विशुद्ध बनाने की धुन ने खड़ी-बोली के कवियों को ऐसा अवसर दिया कि वे संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिकता से प्रयोग करने लगे। दूसरे, ब्रजभाषा के प्रशंसकों के बार-बार यह विरोध करते रहने पर कि खड़ीबोली में उर्दू छन्दों के अतिरिक्त अन्य छन्दों की समाई नहीं हो सकती, पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रूपनारायण पांडे, 'हरिऔध' आदि ने बड़ी सफलतापूर्वक उसमें संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग प्रारम्भ किया। संस्कृत-वृत्तों में समस्त-पदों के बिना निर्वाह न होने के कारण संस्कृत के लम्बे-लम्बे समासों का सहारा लेना अनिवार्य-सा हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ी-बोली का प्रकृत-रूप तो तिरोहित होने लगा और संस्कृत-रूप में एक बना-वटी भाषा सामने आई, जिसमें खड़ीबोली को अपने असली रूप में विकसित होने की सम्भावना बहुत कम रह गई थी। ब्रजभाषा के समर्थक विद्वानों ने खड़ीबोली के इसी रूप का विरोध भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रकट किया था। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'हरिऔध' के इस पद—

१. हरिशंकर शर्मा (सम्पादक)—शंकर-सर्वस्व, २००८ वि०, पृ० १७८

'प्रफुल्लिता कोमल-पल्लवान्विता।
मनोज्ञता-मूर्ति नितान्त-रंजिता।
वनस्थली थी मकरन्द-मोहिता।
अकीलिता-कोकिल-काकली-मयी।'

को उद्धृत करते हुए द्वादश 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के अपने सभापति के अभिभाषण में कहा था कि 'सज्जनों, आप ही कहिए क्या यह बोलचाल की भाषा है? कसम खाने के लिए हिन्दी की बस एक 'थी' है... खड़ीबोली के कवि भी बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का दम भरते हैं पर रचते हैं विलक्षण भाषा में जो न बोलचाल की भाषा है न लिखने पढ़ने की।'[1] इसी प्रकार पं० श्यामविहारी मिश्र तथा पं० शुकदेवविहारी मिश्र ने संस्कृत के मिलित वर्णों के प्रयोग को श्रुति-कटुता का सबसे बड़ा दोष बताते हुए लिखा था कि 'एक तो खड़ीबोली में बिना खास प्रयत्न के श्रुति-कटुत्व आ ही जाता है, और दूसरे ये लोग संस्कृत शब्दानुरागी होने से और भी मिलित वर्णों की भरमार रखते हैं, जिससे खड़ीबोली के छन्दों से श्रुति माधुर्य का लोप हुआ जाता है।'[2] अन्य विद्वान जैसे पं० बालकृष्ण भट्ट तथा 'धृष्ट' महोदय ने भी इसका विरोध करते हुए यह शंका प्रकट की थी कि 'यह खड़ीबोली किस व्याकरण के बूते खड़ी होगी?'[3]

किन्तु, खड़ीबोली के कुछ विद्वान इसको दोष के अन्तर्गत नहीं ले रहे थे। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'कविता की भाषा' शीर्षक अपने एक लेख में लिखा था कि 'हिन्दी कविता की भाषा का संस्कृत-गर्भित होना दोष नहीं, यह उसका स्वाभाविक गुण है, जन्मसिद्ध अधिकार है।'[4] इसी प्रकार 'सरस्वती' में प्रकाशित 'आधुनिक काव्य पर दोषारोपण' लेख में पं० बदरीनाथ भट्ट ने लिखा था कि 'बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस देववाणी (संस्कृत) के श्रुति-माधुर्य की इतनी डफली पीटी जाती है उसी के शब्द खड़ीबोली में

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अङ्क ११, १२ पृ० २८०
२. पं० शुकदेवविहारी मिश्र—पुष्पांजलि, प्रथम भाग, १६१५ ई० पृ० ३६२, ३६३
३. मर्यादा, मई १६१३, भाग ६, संख्या १, पृ० ४४, ४५
४. माधुरी, वर्ष १, खंड १, संख्या २ सन् १६२२ ई० पृ० १६०

आते ही नीरस हो जाते हैं !'[१] 'हरिऔध' ने तो इस प्रकार के प्रयोग को आवश्यक बतलाते हुए 'प्रियप्रवास' की भूमिका में यहाँ तक लिखा कि 'क्या यहाँ (हिन्दी-भाषी क्षेत्र) वालों को उच्च-हिन्दी से परिचित कराने के लिए ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं है !'[२] इसके अतिरिक्त आपने अपना विचार बड़े विस्तार से अपनी पुस्तक 'संदर्भ-सर्वस्व' में भी इस प्रकार प्रकट किया कि 'प्राचीन लब्ध-प्रतिष्ट महाकवियों ने भी इस प्रकार की कविताएँ की हैं''''और आद्योपान्त संस्कृत शब्दमयी होने पर भी ब्रजभाषा की कविता समझी जाती हैं तो खड़ीबोली में रचे गये इस प्रकार के कतिपय पद्य खड़ीबोली के पद्य क्यों न माने जावेंगे !'[३]

काव्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का किस अंश तक प्रयोग होना समीचीन था, यह अवश्य एक विचारणीय बात थी; पर उस समय संस्कृत के आश्रय से खड़ीबोली के काव्य में लालित्य और माधुर्य अवश्य आगया। इससे कोई अब यह कहने का शीघ्र साहस नहीं करता था कि खड़ीबोली में सरस-कविता नहीं हो सकती। हाँ, जहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग छन्दों के आग्रहवश किया गया है वहाँ भाषा समासबद्ध क्लिष्ट संस्कृत के शब्दों से बोझिल अवश्य हो गई है, और खड़ीबोली खो-सी गई है। उसको देखते हुए खड़ीबोली का जो विरोध हुआ वह उचित था, क्योंकि इस प्रकार की क्लिष्ट रचनाओं में खड़ीबोली का वह स्वरूप निहित नहीं था जिसको पूर्ण सौष्ठव के साथ परिष्कृत और परिमार्जित होकर पद्य में प्रतिष्टित होना था। यह एक सिद्धान्त की भी बात है कि जब कोई भाषा अन्य भाषा पर अधिक अवलम्बित हो जाती है तब उसका प्रकृत-रूप तो छिप ही जाता है, उसका स्वाभाविक विकास भी रुक जाता है। संस्कृत का आश्रय लेने से उस समय हिन्दी की ऐसी ही अवस्था उपस्थित हो गई थी। इसका अनुभव खड़ीबोली के विद्वान भी कर रहे थे। पं० कामताप्रसाद गुरु ने एक स्थल पर खड़ीबोली के विद्वानों का ध्यान इस त्रुटि की ओर आकर्षित करते हुए इस भाँति लिखा था—

'हम लोग बहुत दिनों से यह चेतावनी सुनते आ रहे हैं कि छोटी-छोटी

१. सरस्वती, भाग १५, खंड १, संख्या ५ सन् १६१४ ई० पृ० २६६
२. हरिऔध—प्रियप्रवास, १६२१ ई०, पृ० ८, ६ (भूमिका)
३. हरिऔध—संदर्भ-सर्वस्व, १६४३, पृ० १२१, १२२

बातों के लिए संस्कृत की बेमतलब सहायता लेना हानिकारक है, पर हिन्दी लेखकों को इस बात की विशेष चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती। इस असावधानी का फल यह होगा कि असल देशी शब्द तो काल पाकर लोप हो जायँगे और एक प्रकार की महापंडिती भाषा जन्म लेगी, जिसे हम लोग अपने बे-पढ़े भाइयों को कुछ न समझा सकेंगे।...सचमुच में संस्कृत शब्दों का आजकल जो अनावश्यक उपयोग हो रहा है वह किसी समय हानिकारक होगा।'[1]

इस प्रकार की चेतावनी का विशेष प्रभाव खड़ीबोली के लेखकों पर उस समय नहीं पड़ा, क्योंकि उस युग के नायक थे पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जो संस्कृत के विद्वान थे और अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए विरोधियों को इस भाँति उत्तर दे रहे थे—

'किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम भंग होता देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ और दोषोद्भावनाएँ करने लगते हैं। यह स्वाभाविक बात है। परन्तु यदि इन टीकाओं से लोग डरते तो संसार से नवीनता का लोप हो जाता।'[2]

इसका फल न केवल यह हुआ कि खड़ीबोली संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से भर गई, बल्कि कभी-कभी अनभ्यस्त कवियों के हाथों में पड़कर उसकी पदावली विकृत हो गई। उदाहरणार्थ पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी के 'हिन्दी मेघदूत' का एक पद देखिए—

'वर्ण-स्पर्धा जहाँ रवि-हयों से करें अश्व-चारु,
बर्साते त्वत्समगज, नग-क्रीड़ते, दान-धार।
भारी योद्धा दशमुख-रण-प्राप्त मानों निशङ्क—
शोभा देते तनु पर धरे चन्द्रहास-व्रणाङ्क।'[3]

---

१. हिंदी ग्रन्थमाला, प्रथम वर्ष, संख्या ११, १२, मार्च-अप्रैल, १९०७ ई०, निबंध-संग्रह भाग, पृ० ९१ (नागपुर की हिन्दी ग्रंथ प्रकाशक मण्डली द्वारा प्रकाशित)

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी—रसज्ञ-रंजन, २००६ वि० पृ० १७

३. मर्यादा, मई १९१३ ई०, भाग ६, संख्या १, पृ० ४४, ४५

तथा

'ज्यों इन्दीवर में वराटक'

(सरस्वती भाग १२, पृ० ५७)

इसीसे ब्रजभाषा के समर्थक विद्वानों ने इसका विरोध किया, और उनका यह विरोध सर्वांश में अनुचित भी नहीं था।

यहाँ जो बात विचारणीय है, वह यह है कि खड़ीबोली के लिए यह सर्वथा सम्भव भी नहीं था कि वह अपने को संस्कृत के मिलित-वर्णों से बचा सकती। जहाँ पर मिलित-वर्णों का प्रयोग उसकी रचनाओं में समुचित रीति से किया गया है वहाँ उससे कर्ण-कटुता भी पैदा नहीं होती, अपितु उसके प्रभाव की वृद्धि होती है, जैसे—

'उडुगण क्षय भी हों, दीखते भी कहीं हों,
गत जब रजनी हो, पूर्व संध्या बनी हो।
मृदुल - मधुर निन्द्रा चाहता चित्त मेरा,
तब पिक ! करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा।'[1]

साथ ही, संस्कृत के मधुर, कोमल, सरस शब्दों के प्रयोग से उसकी प्रांजलता कहीं-कहीं और अधिक बढ़ गई है—

'धीरे-धीरे दिन गत हुआ पद्मिनी नाथ डूबे।
आई दोषा फिर गत हुई दूसरा बार आया।
यों ही बीतीं विपुल घटिका औ कई बार बीते।
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आये ॥'[2]

ऐसी रचनाओं की प्रशंसा करने में ब्रजभाषा-पक्ष के समर्थक कवि भी नहीं चूके हैं। एक स्थल पर पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' 'प्रियप्रवास' की सफलता पर लिखते हैं—

'प्रियप्रवास लखा प्रिय आपका,
सरस, ओजमयी कविता पढ़ी।
+ + +

१. सरस्वती भाग ५, संख्या १०, १९०४ ई० पृ० ३३७
२. हरिऔध—प्रियप्रवास, १९२१ ई०, पृ० ५६

सुजन यदि पढ़ेंगे प्रेम से लीन होके
कलमल हर सच्चा मोद पूरा मिलेगा।'[1]

इससे यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों का विरोध संस्कृत-पदावली की उन सरस और स्वच्छ रचनाओं से नहीं था, जिनसे साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही थी। उनका विरोध उस ढंग की रचनाओं से था जहाँ संस्कृत के व्यवहार से खड़ीबोली के स्वाभाविक रूप को धक्का लग रहा था और एक 'महापंडिती' भाषा जन्म ले रही थी। यह बात असंदिग्ध है कि संस्कृत के शब्दों की सहायता के बिना हमारी हिन्दी भाषा की उन्नति साध्य नहीं है, परन्तु उनका व्यवहार तभी होना चाहिए जब उनके बिना किसी प्रकार हमारा काम न चलता हो, अथवा उनके उपयोग से हिन्दी की शोभा या श्रीवृद्धि होती हो।

इससे यह न समझना चाहिए कि इस काल में बोलचाल की सरल खड़ीबोली में रचना हुई ही नहीं। सरल खड़ीबोली की भी रचना हुई और बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० नाथूरामशंकर शर्मा, ठा० गोपालशरण सिंह आदि की कविताओं में चलती हुई खड़ीबोली का रूप भली-भाँति परिष्कृत हुआ।

ब्रजभाषा का प्रयोग समयोचित नहीं

खड़ीबोली के समर्थक विद्वानों ने भारतेन्दु युग में ही ब्रजभाषा में काव्य-रचना के प्रयास को असामयिक घोषित कर दिया था, परन्तु ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वान इससे सहमत नहीं हुए थे। उनका कहना था कि हमारे साहित्य का रत्नभण्डार ब्रजभाषा में ही भरा हुआ है। उसको छोड़कर खड़ीबोली में कविता करना हिन्दी साहित्य के लिए अभी सौभाग्य की बात नहीं होगी।

द्विवेदी युग की परिवर्तित परिस्थिति में ब्रजभाषा के विद्वानों के उक्त विरोध में काफी ढीलापन दिखलाई दिया। अब ब्रजभाषा को वे केवल जीवित रखने के लिए, जिससे वह विस्मृतावस्था में न चली जाए, काव्य में बनाए रखना चाहते थे। काव्य में उसको अटल देखने की भावना क्षीण हो चली थी।

उधर खड़ीबोली के विद्वान काव्य से उसका बहिष्कार अब इसलिए और

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी—हृदयतरंग, १९७६ वि०, पृ० १४६, १४७

भी अधिक चाह रहे थे कि उससे देशोन्नति की आशा नहीं रह गई थी। उसमें एक तो गद्य का अभाव शिक्षोन्नति के लिए बाधक था, दूसरे उसकी शृंगार-प्रियता नवयुवकों में नवयुग की जाग्रति का संदेश स्फुरित करने में अशक्त थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र के शब्दों में ब्रजभाषा केवल 'रसीली' और 'रँगीली' तबिअत वालों की भाषा थी।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ब्रजभाषा की साहित्यिक प्रौढ़ता को दिखलाते हुए यह भविष्यवाणी कर रहे थे कि 'जब तक खड़ीबोली में उनकी (सूर, तुलसी आदि कवियों की) कविता के समान सरल, सुन्दर और सर्वमान्य बृहत्काव्य कलाप प्रस्तुत होकर जगत्प्रसिद्ध नहीं होता, तब तक पद्य भाषा का न मान घटेगा और न खड़ीबोली पद्य में बैठने को जगह पावेगी।'[1] किन्तु, यही कवि केवल दो वर्ष के उपरान्त सन् १९०६ ई० में 'स्वदेशी कुंडल' की रचना खड़ीबोली में प्रस्तुत करता हुआ उसी पुस्तक की भूमिका में लिखता है कि 'ये कुण्डलियाँ खड़ीबोली में हैं और कई जगह उर्दू के शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, हमारा अभिप्राय शुद्ध हिंदी में कविता लिखने का नहीं था, अभिप्राय यह था कि···एक उपयोगी विषय ऐसी भाषा में जिसे थोड़ा बहुत हिन्दू-मुसलमान दोनों समझें बाँधा जाय।'[2] देखना चाहिए कि 'पूर्ण जी' ब्रजभाषा के एक प्रबल समर्थकों में से थे और जब इन ब्रजभाषा के कवियों को सब को समझने के लिए एक 'उपयोगी विषय' बाँधने के लिए खड़ीबोली के आश्रय की आवश्यकता पड़ती थी, तब खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वान और चाह क्या रहे थे ? वे चाह भी तो यही रहे थे कि 'जब ब्रजभाषा को सब लोग समझते थे तो उसमें कविता होती थी, अब अधिकतर लोग ब्रजभाषा अच्छी तरह नहीं समझते, इसलिए उसमें अपना उत्साह खराब न कर खड़ीबोली में लगाना चाहिए।'[3] यहाँ ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली के विद्वानोंके तत्सम्बन्धी विचारों में कि ब्रजभाषा में अब सब के लिए बोधगम्य तथा समयोपयोगी कविता नहीं हो सकती कोई अन्तर नहीं था। आश्चर्य तो यह था कि जब यही बात

---

१. रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण'—चन्द्रकला भानुकुमार नाटक, १९०४ ई०, पृ० ८ (भूमिका)

२. रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण'—स्वदेशी कुण्डल, भूमिका, पृ० 'ग'

३. पं० बदरीनाथ भट्ट—सरस्वती, भाग १४, खंड १, संख्या ३, पृ० १७५, १७६

खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वान कहते थे तब उसके विरोध के साथ-साथ उन विद्वानों का भी उपहास किया जाता था और उनको कटूक्तियाँ सुननी पड़ती थीं—'जो न जाने ब्रजभाषा ताहि शाखामृग जानिये'[1] (पं० राधाचरण गोस्वामी) । पं० चन्द्रमोहन मिश्र ने 'कविता कर्म' शीर्षक लेख में, जो 'इन्दु' १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ था, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके शिष्य बाबू मैथिलीशरण गुप्त की ओर संकेत करते हुए लिखा था—

'महाकवि मैं बन जाऊँ, नई ही चाल चलाऊँ ।
पर मैं ऐसे सभ्य एवं सुष्ठु पुरुषों को इस प्रकार स्वार्थी कहने को असमर्थ हूँ । मैं इसके कहने के योग्य नहीं हूँ कि ऐसे सुकवि एवं विद्वान ब्रजभाषा की कविता से अनभिज्ञ हैं, अथवा यह कह सकूँ कि 'तू मरा हाजी बिगोयम मन तुरा हाजी बिगो'—यह गुप्ताभिप्राय है । आप मुझे 'कवियों का सिरमौर' बनाएँ और मैं आपको अपना 'गुरू' बनाऊँ और दोनों पूजनीय बन जायँ । बेचारी ब्रजभाषा ने कौन ऐसा घोर पाप किया है जो बहिष्कृत अपमानित तथा अपकृत करने योग्य हो गई ।'[2]

इस प्रकार के निन्दावाद की साहित्यिक उपादेयता, जिसमें खड़ीबोली के विद्वान 'शाखामृग' बनाए जाएँ, कुछ भी नहीं थी । आचार्य द्विवेदी तथा बाबू मैथिलीशरण गुप्त को 'स्वार्थी' कहना तथा उनको इस प्रकार लांछित करना कि 'आप (द्विवेदी जी) मुझे (बाबू मैथिलीशरण गुप्त को) कवियों का सिरमौर बनाएँ और मैं (बाबू मैथिलीशरण गुप्त) आपको (द्विवेदीजी को) अपना गुरू बनाऊँ, और दोनों पूजनीय बन जाएँ' लेखक की व्यक्तिगत ईर्ष्या का ही परिणाम हो सकता है । इस प्रकार की भावना में एक निम्नतर मनोवृत्ति की ही झलक मिलती है जो साहित्यिक-वृत्त से बाहर की वस्तु है ।

ब्रजभाषा-पक्ष के इस दल के अतिरिक्त जो काव्य-भाषा के परिवर्तन के नाम पर ही बिगड़ खड़ा होता था और अनाप-सनाप कहने में कुछ भी संकोच नहीं करता था, एक अन्य दल और था । यह उतना उग्र

१. प्रथम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ५९
२. 'इन्दु' कला ६, खंड २, किरण २, १९१५ ई०, पृ० १४७

नहीं था। इन लोगों का विचार था कि खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रजभाषा में भी कविता करते रहना चाहिए। उसके बहिष्कार की भावना छोड़ देनी चाहिए। ऐसा करने से आपस में विद्वेष की वृद्धि नहीं होगी, बल्कि इससे हिन्दी का हित होगा। इस विचार को पं० कृष्णविहारी मिश्र ने 'इन्दु' में बड़ी स्पष्टता से इस प्रकार प्रकट किया था कि 'खड़ीबोली में खूब कविता हो। पर दूसरी भाषाओं में कविता होना मत रोको।...यदि अब ब्रजभाषा को कोई नहीं समझता है, यदि उसके दिन आ गए हैं, तो स्वयं ही उसमें कोई कविता न करेगा। समय के प्रभाव से कौन बच सकता है, परन्तु तुम अपने ऊपर क्यों इस कलंक को लेते हो?'[1] सहयोग की ठीक यही भावना खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वानों में भी पाई जाती है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' अप्रैल, १९१४ ई० में अपना मनोभाव इस भाँति व्यक्त किया था कि 'जो अब भी ब्रजभाषा में पद्य-रचना करते हैं उन्हें वैसा करने से कोई रोक भी नहीं सकता'।[2] बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'कविता की भाषा' शीर्षक लेख में लिखा था कि 'ब्रजभाषा के गुणों पर मुग्ध होकर यदि कोई उसमें कविता करे तो कोई हानि भी नहीं है।'[3] खड़ीबोली के विद्वान उसका विरोध तो तब करते थे जब ब्रजभाषा के विद्वान खड़ीबोली को निर्बल, अशक्त और हेय बताकर, ब्रजभाषा के काव्योचित गुण सरसता, प्रांजलता, प्रौढ़ता आदि की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। जैसे, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा था, 'ब्रजभाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय चला गया अब वह फिर नहीं आने का।'[4] इसी बात को बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने पंचम 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में पठित अपने निबन्ध 'कविता की भाषा किस ढंग की हो?' में इस प्रकार व्यक्त किया था, 'जो लोग खड़ीबोली को कविता के योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही कविता किए जाने का आग्रह करते हैं वे सच पूछिये तो हमारी राष्ट्रभाषा

१. इन्दु, कला ६, खंड १, जनवरी, १९१५ पृ० ११
२. सरस्वती, अप्रैल, १९१४ अथवा विचार-विमर्श (महावीरप्रसाद), १९८८ वि०, पृ० २६
३. एकादश 'हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृ० ८१
४. सरस्वती, अप्रैल, १९१४ ई०, अथवा विचार-विमर्श (महावीर-प्रसाद द्विवेदी) १९८८ वि०, पृ० २६

के जानी दुश्मन हैं।'[1] इसी को बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने लेख 'कविता की भाषा' में इस ढंग से लिखा था, 'सामयिक आवश्यकताओं को देखते हुए भी खड़ीबोली को हेट समझकर उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखना न्याय नहीं है।'[2]

आपस में जहाँ एक ओर इस प्रकार का विवाद चल रहा था और ब्रजभाषा के समर्थक विद्वान उसका एकाधिपत्य काव्य में बनाए रखना चाह रहे थे, वहाँ दूसरी ओर द्विवेदी काल के द्वितीय चरण में काव्य-भाषा में खड़ीबोली निश्चित रूप से प्रयुक्त होने लग गई थी। उसके प्रवाह के सामने अब ब्रजभाषा का टिकना सहज नहीं था। उसकी अवस्था बड़ी ही शोचनीय हो रही थी। उसके उस समय के यथार्थ चित्र को पं० कृष्णविहारी मिश्र ने अपनी रचना 'विनीत ब्रजभाषा' में बड़े मार्मिक रीति से खींचा था जो 'मर्यादा' मार्च, १९१६ ई० में प्रकाशित हुई थी। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'विनवत ब्रजभाषा कर जोरे
सिगरे सुत साहित हितवारे मैं माता तुम मोरे।
सिसुताई मैं जेहिं अपनायो कहा तजत तेहि भोरे॥
दूधपान के साथ सिखे जे वचन अमियरस बोरे।
तिनहिं विहाय हाय केहि कारन भाजत नातो तोरे॥
तुमरेहि भैया 'सूर' 'बिहारी' 'देव' 'दास' नहिं थोरे।
तजी न मम बोली की ममता बँधे प्रेम के डोरे॥
+ + +
सुत सपूत 'श्रीधर' 'रतनाकर' सेवत अजहुँ निहोरे।
पै तुम भूलि गये मम बानी बंधन प्रेमहिं छोरे॥
प्यारी बहिन खड़ीबोली को सब विधि जाय भजो रे।
जगै एकता भाव देस मैं आसिख तासु लहो रे॥
पै करि सकत सहाय कछुक मैं बिरधा यदपि गनो रे
नये विचारन मम बोली मैं एक बार प्रकटो रे॥
+ + +

१. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, १९७१ वि०, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृ० ५८

२. ११ वाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कलकत्ता, कार्य-विवरण, दूसरा भाग, पृ० ८१

सब भाषन मैं महामाधुरी सहज रसीली जो रे।
बानी तिनकी शेष जो अबलौं तेहिं न अनाथ करो रे।।
भइया-मातु-सनेह, देस-हित यह सब ख्याल धरो रे।
कविता-माता शपथ तिहारी मति इनकी फेरो रे।।
माता ह्वै विनती बहु कीन्हीं, मैं तुव, तुम सब मोरे।
सुमति सनेह सने सुत खेलहु ब्रजभाषा के कोरे।।"[1]

ब्रजभाषा के असामयिक प्रयोग के सम्बन्ध में इन ऊपर वर्णित सामान्य विरोधों के सिवाय उसके वर्ण्य-विषय—(क) शृंगार रस तथा नायिका-भेद (ख) वीर रस की कविता को लेकर जो आलोचना-प्रत्यालोचना हुई, उस पर भी प्रकाश डालना उचित है।

क. शृंगार रस तथा नायिका-भेद

ब्रजभाषा काव्य शृंगार रस प्रधान है। शृंगार रस को लेकर कवियों ने जितना ऊहापोह किया है तथा नायिकाभेद पर जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है उतना संसार के किसी भी साहित्य में उन पर विचार-विमर्श नहीं किया गया है। यह हमारे लिए एक गौरव की बात है। यदि ब्रजभाषा के कवियों ने पूर्वालंकृत काल[2] (सन् १६२३-१७३३ ई०) तक जिसमें कि शृंगार रस की उच्चकोटि की रचनाएँ हुई हैं और जो शृंगार रस का उपयुक्त काल भी कहा जा सकता है, रचनाएँ की होतीं और उसके बाद शृंगार रस को छोड़कर अन्य उपकारी विषयों की ओर अग्रसर हुए होते तो परवर्ती काल में ब्रजभाषा काव्य न गर्हित ही होता और न विद्वानों को अन्य विषयों के अभाव पर खेद ही प्रकट करना पड़ता, बल्कि आज हमारे साहित्य का इतिहास कुछ और ही प्रकार का होता। इसके विपरीत, उत्तरालंकृत-काल (सन् १७३३-१८३२ ई०) और परिवर्तन काल (सन् १८३२-१८६८ई०) में ब्रजभाषा के कवि बहुत कुछ शृंगार रस के पिष्टपेषण तथा भाषा को वाह्या-डम्बरों से ही सुसज्जित करने में लगे रहे। वर्तमान काल में जब कि अन्य देशी भाषाएँ बँगला, मराठी आदि नवीन विषयों के समावेश तथा शृंगारातिरिक्त अन्य रसों के प्रतिपादन में भी सन्तोषजनक उन्नति कर चुकी थीं, तब भी ब्रजभाषा के कवियों की प्रायः वही प्राचीन प्रवृत्ति द्विवेदी युग तक बनी

१. मर्यादा, भाग ११, संख्या ३, सन् १९१६ ई०, पृ० १४१
२. ये काल विभाग 'मिश्रबन्धु-विनोद' के आधार पर हैं।

रही। खड़ीबोली के समर्थक कवि अब इस परम्परा को और आगे बढ़ने नहीं देना चाहते थे। इसीलिए उन लोगों ने इसका विरोध इन कटु शब्दों में किया कि 'नूपुरों का रव ही उसमें अधिक सुन पड़ता है और तरह की ध्वनियाँ कम सुनाई देती हैं।'[1] ये शब्द बाबू मैथिलीशरण गुप्त के हैं। इसी विचार को उन्होंने षष्ठ 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में पद्यबद्ध कर इस प्रकार प्रकट किया—

'करते रहोगे पिष्टपेषण और कब तक कविवरो !
कच कुच कटाक्षों पर अहो ! अब तो न जीतेजी मरो
+ + +
गाया बहुत कुछ राग तुमने योग और वियोग का।
संचार अब कर दो यहाँ उत्साह का उद्योग का ।।'[2]

इसी प्रकार 'भारत विनय' (१६१६ ई०) में पं० श्यामविहारी मिश्र ने ब्रजभाषा के कवियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा—

'जमुना तट सीरी बयारि से स्वाद उठाया।
राका निसि का रास निरख मैंने सुख पाया ।।
उपपतियों की ताक झाँक से खूब अघाया।
विरह उसासों की लूकों से गात जलाया ।।
कंकन किंकिन भूषन बसन मेहँदी की देखी छटा
सब देखभालकर इन सभों से अब मन मेरा भरा
× × ×
अब धरम और शृंगार तज और विषै भी कुछ कहो।
सर्वांग-पूर्न भाषहि कर विसद सुजस जग में लहो। ।।'[3]

इसी भावना को पं० श्रीधर पाठक ने पंचम 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में सभापति के आसन से दिए गए अपने भाषण में तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'रसज्ञ-रंजन' में प्रकट किया है। पं० श्रीधर पाठक ने

---

१. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृ० ४६

२. षष्ठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृ० ४३

३. प० श्यामविहारी मिश्र—भारत विनय, १६१६ ई०, पृ० ११६, १२०

द्विवेदी काल के कवियों का ध्यान नवीन विषयों की ओर आकृष्ट करते हुए यह सुझाव रखा था कि 'अपने इतिहास पुराणों का मन्थन करके जो-जो हमारे जातीय बलवर्द्धक उपयुक्त प्रसंग मिलें उनके आधार पर उत्कृष्ट काव्य प्रस्तुत करने से क्या हमारी वर्तमान स्थिति के सुधार और उन्नति में विपुल साहाय्य मिलने की सम्भावना नहीं है ?'[1] इस आवाहन का परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा काव्य में जिन ऐतिहासिक पुरुषों की ओर से कविगण उदासीन थे, उन्हीं महापुरुषों का भर पेट गुण-गान खड़ीबोली की कविता में होने लगा। थोड़े ही काल में 'रंग में भंग', 'वीरपंचरत्न', 'मौर्य विजय', 'प्रणवीर प्रताप' आदि रचनाएँ सामने आईं।

खड़ीबोली की इन रचनाओं तथा प्राचीन परम्परागत काव्य के विरोध का प्रभाव ब्रजभाषा के कवियों पर भी पड़ा और उनमें से बहुत से कवि इधर आ मिले। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो उसी प्राचीन लीक पर चलना श्रेयस्कर समझते थे। उनका कहना था कि 'यदि हम अलंकार, रस, नायकादि को त्याग दें और शिक्षा, राष्ट्रीयता तथा जातीयता को काव्य का सार समझ लें, तो देखना है कि कितना बड़ा अनर्थ बरपा होता है। साहित्य-संसार में एक अद्भुत आपत्ति उठ खड़ी होगी। 'मेघदूत' सरीखे अगणित अनूठे सम्मानित और प्रमाणित ग्रंथ आज ही मुँह काला कर रद्दी खाने को प्रस्थान करेंगे'[2] (पं० चन्द्रमोहन मिश्र)। इसके अतिरिक्त, खड़ीबोली के कवियों के उक्त कथन—'नूपुरों का रव ही उसमें अधिक सुन पड़ता है'—के विरोध में ब्रज-भाषा के समर्थक कवि इस प्रकार कहते थे—

> 'यदि इन सब बातों का सारांश यही है कि प्राचीन कविता में कणमात्र सद्भाव और सदुपयोगिता नहीं है, यदि प्राचीन कवि घोर मूर्खता के साक्षात् अवतार ही थे....यदि उनकी कविता हम लोगों को अकथनीय हानि पहुँचाने वाली है और यदि उसके अस्तित्व ही से भारत धूलि में सम्मिलित हो जायगा तो आइये, शीघ्र आइये, हमारे देश में जितना उस सड़ी-पड़ी भाषा का साहित्य है उसको एकत्रित करें और आगामी होली पर भारत के केन्द्र स्थल में अग्निदेव को समर्पण करें और परम-

१. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, संवत् १९७१, पृ० ८, ९
२. इन्दु, कला ६, खंड २, किरण २, अगस्त, १९१५, पृ० १४८

प्यारी खड़ीबोली के भीतरी और बाहरी शक्कर से युक्त रागों के मस्त-गान द्वारा भारत का उद्धार करके कृतकृत्य हो जाँय ।'[1]

ब्रजभाषा के प्रशंसक कवियों का इस भाँति चिढ़ना ठीक न था, क्योंकि भक्तवर सूर, गोस्वामी तुलसीदास ऐसे दो-चार कवियों की रचनाओं को छोड़कर शेष कवियों की रचनाएँ शृंगार से भरी हुई हैं । इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । अब रहा यह कि फिर क्या ये रचनाएँ निन्दा के ही योग्य हैं ? इनसे हमारा पतन ही हुआ है ? इस पर इतना कहा जा सकता है कि शृंगार रस हमें खटकता इसलिए था कि द्विवेदी युग के पूर्व तक हमारा साहित्य शृंगार रस प्रधान है । उसमें अन्य विषयों की रचनाएँ केवल इनी-गिनी हैं । यदि वही साहित्य प्रत्येक प्रकार की रचनाओं से पूर्ण होता तो शृंगार सम्बन्धी कविताएँ जो उस समय हमें बुरी लग रही थीं, वे ही हमारे गौरव का कारण होतीं । यही बात नायिका-भेद सम्बन्धी रचनाओं के साथ भी है । वे संस्कृत की प्रतिष्ठित परम्परा के आधार पर ही लिखी गई हैं, परन्तु वे चुभती हमें इसीलिये थीं कि हमारा साहित्य उनके सिवा अन्य उप-योगी विषयों की रचनाओं से प्रायः शून्य था । वरना, जैसा कि मिश्रबंधुओं ने एक स्थल पर लिखा है, ये नायिका-भेद सम्बन्धी रचनाएँ हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि करती हैं—

'अभी उपयोगी विषयों के अभाव से बहुत लोगों को ये ग्रंथ (शृंगारिक ग्रंथ) सौत के से लड़के समझ पड़ते हैं, परन्तु जिस समय लाभकारी विषयों के ग्रन्थ प्रचुरता से बन जावेंगे, उस समय इन ग्रन्थों के बाहुल्य से भी हिन्दी की महिमा एवं गौरव में खूब सहायता मिलेगी ।'[2]

प्रधान रूप से, जो बात यहाँ समझनी है वह यह है कि इन खड़ीबोली के समर्थकों का विरोध, काव्य के शृंगार और नायिका-भेद से नहीं था, उनका विरोध उन पर अब हो रही असमायिक रचनाओं से था । नायिका-भेद पर इतनी रचनाएँ हो चुकी थीं कि अब उनकी और आवश्यकता नहीं थी, परन्तु इन ब्रजभाषा के कवियों को वर्तमान काल में भी अपनी प्राणप्यारी

१. षष्ठ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० २६

२. मिश्रबंधु विनोद, १९७० वि०, भाग ३, पृ० १२३९

की 'लट-नागिन' से उसके 'बाँके नयनों' से तथा उसकी 'दाँत की मिस्सी' से फुरसत नहीं मिलती थी। बाबू मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में यदि इन लोगों को कभी कृष्ण को याद करने का प्रसंग भी आया, तो 'सूर' के समान नहीं कि 'अब की राखि लेहु गोपाल' बल्कि ऐसा ही कि—

'मेरे कर मेहँदी लगी है, नन्दलाल प्यारे
लट उरझी है नेक बेसर सुधार दै ।।'[1]

अतः ब्रजभाषा के अनुरागी कवियों को जानना चाहिए था कि अब न तो रसिक 'नन्दलाल' रहे और न वे 'क्रीड़ा-स्थल'। अब इस प्रकार की रचनाओं से काम चलने का नहीं था। लोक-रंजन के अतिरिक्त लोक-हित-साधन को भी काव्य का उद्देश्य बनाना था। यही खड़ीबोली के कवि चाह रहे थे। भाषा से उनका कोई द्वेष न था जैसा कि बाबू शिवनन्दनसहाय के इस कथन से स्पष्ट है—

'......आप नये ख्याल के अनुसार, वर्तमान आवश्यकता के अनुसार, आधुनिक रुचि के अनुसार, ब्रजभाषा में भी कविता करते जाइये।'[2]

लेकिन, प्राचीन प्रथानुयायी पुराने ढर्रे पर ही चलते रहे। उनका मन उसी शृंगार पूर्ण षड्ऋतु वर्णन की रचनाओं में लगता था। इसीसे इन प्राचीन परिपाटी पर चलने वालों का विरोध खड़ीबोली के कवियों को करना पड़ा और यह कहना पड़ा कि ब्रजभाषा का प्रयोग असामयिक है।

ख. वीर रस की कविता

पंचम 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन', लखनऊ में बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपना एक लेख 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो?' शीर्षक से पढ़ा था। गुप्तजी ने ब्रजभाषा में वर्णित वीर रस की कविता का यह उदाहरण देते हुए—

'तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा हैं,
प्रलै चिल्लिका सी झड़क्कैं जहाँ हैं।

---

१. पंचम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, लखनऊ, कार्य क्रम, दूसरा भाग, पृ० ५०

२. साहित्य पत्रिका, खंड ८, संख्या १०, जनवरी, १९१४, पृ० ३३

खड़क्कै खरी वैरि छाती भड़क्कै,
सड़क्कै गये सिन्धु मज्जै गड़क्कै ॥'[१]

कहा था कि 'कितने ही कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के विषय में बीर रस की कविता की हैं, पर वे प्रायः शब्दाडम्बर के पीछे ही पड़े रहे। उनकी भाषा बनावटी है।...हृदय को उत्तेजित करने वाली सामग्री बहुत कम है। उनके वीरों के कार्य कौतुकी वीरों के से जान पड़ते हैं। शस्त्रों की झंकार आपको बहुत सुन पड़ेगी, पर क्या हृदय की वास्तविक हुँकार भी सुनाई देगी?'[२] इसका विरोध ब्रजभाषा पक्ष के कवियों ने भी खूब किया। उन्होंने अनेक व्यंग्य बाण छोड़े। बाबू भगवन्नारायण ने 'सम्मेलन पत्रिका' में गुप्त जी को 'तुकिया' बतलाते हुए लिखा कि 'जब ऐसे इने-गिने लोगों ने ठान ही लिया है कि ब्रजभाषा की प्राचीन कविता से कोई लाभ नहीं है तो उनके लिए तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण आदि और एक साधारण तुकिया समान ही हैं।'[3] इसी प्रकार वियोगी हरि ने भी 'सम्मेलन पत्रिका' में अपने लेख 'टके सेर कविता' में गुप्तजी के विरोध में लिखा कि 'हमारे बाबू साहब को सूझी तो खूब दूर की। उन्हें साहित्य की अँधेरी कोठरी में टटोलते-टटोलते कहीं भी वीर रस की सामग्री न मिली।'[४] बाबू जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने तो द्वादश 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के अपने सभापति के अभिभाषण में 'गुप्त जी' के इस कथन की एक विस्तृत आलोचना उपस्थित करते हुए कहा था कि 'जिस समय सैनिक रणभूमि को जाते हैं उस समय उनका उत्साह बढ़ाने के लिए हारमोनियम या बीन नहीं बजाई जाती और न ठुमरी-ठप्पे ही गाए जाते हैं, बल्कि जुझाऊ बाजे बजते हैं और वीर रस भरे कड़खे गाए जाते हैं।'[५]

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रजभाषा के कवियों ने जहाँ अपभ्रंश काल के प्राचीन प्रथानुसार द्वित्ववर्णवाली पदावली का कठोर भाव लाने के लिए

१. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्यक्रम दूसरा भाग, १६७१ वि०, पृ० ५०
२. वही पृ० ५०
३. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अंक ७, संवत् १६७५ वि०, पृ० १५०
४. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अंक ६, सं० १६७८, पृ० १२७
५. ,, ,, अंक ११, १२, सं० १६७६, पृ० २८०

अधिकता से प्रयोग किया है, वहाँ काव्य प्रायः प्रभावहीन हो गया है। उसमें वहाँ शब्दाडम्बर के अतिरिक्त कुछ भी दिखलाई नहीं देता। दूसरे, उनके वर्णन में आश्रयदाताओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा इस भाँति भरी हुई है कि उनमें वीरोल्लास का संयत और ओजस्वी अंग छिप जाता है। लेकिन वीर रस के ऐसे भी स्थल ब्रजभाषा में आए हैं जो बड़े मार्मिक तथा उग्रभावोत्पादक हैं। यथा,

'चलहु वीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ।
　　लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रन रंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो, धनुष पै धरि सर साधौ।
　　केसरिया बानो सजि सजि रन कंकन बाँधौ॥
जौ आरजगन एक होइ निजरूप सम्हारैं।
　　तजि गृह कलहहिं अपनी कुल-मरयाद निहारैं॥
तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
　　सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी॥'[1]

(नीलदेवी)

हाँ, ऐसे वर्णनों की संख्या, उसमें न्यून अवश्य है। खड़ीबोली में वीर रस की जो कविताएँ हो रही थीं वे प्रायः किसी न किसी आदर्श, जैसे सतीत्व-रक्षा, शरणागत की रक्षा, धर्म-पालन, प्रतिज्ञा-पालन, देशोद्धार, आदि से भरी हुई होती थीं। सतीत्व-रक्षा की यह कितनी आदर्शपूर्ण रचना 'दीन जी' की है—

'अकबर से महावीर को धरती पै गिरावै।
　　नौ-रोज़ के मेले को भी मिट्टी में मिलावै॥
बहुतों के सती धर्म को निज बल से बचावै।
　　खाविंद को भी शत्रु के फंदे से छोड़ावै॥
　　　उस ओजमयी नारि को 'वीरा' न कहोगे।
　　　रस वीर का अंदाज भला कैसे लहोगे॥'[2]

१. ब्रजरत्नदास—भारतेंदु नाटकावली, भाग १, सं० १९९२ वि०, पृ० ५३३

२. लक्ष्मी, भाग ६, अंक ६, मार्च, १९०९ ई०, पृ० २५८

ब्रजभाषा में अब भी इस प्रकार की रचनाएँ नहीं हो रही थीं। खड़ीबोली में इस प्रकार की अनेक रचनाएँ जैसे 'वीर पंचरत्न' 'प्रणवीर प्रताप' 'त्रिशूल तरंग' 'राष्ट्रीय मंत्र, 'राष्ट्रीय वीणा' आदि निकल चुकी थीं। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में उसके प्रेमी कवियों की श्रद्धा केवल इतनी थी कि वे ब्रजभाषा-काव्य की निन्दा तो नहीं सुनना चाहते थे, परन्तु उसकी त्रुटियों को दूर करने की ओर उनका ध्यान न था। यही इन लोगों की सबसे बड़ी कमजोरी थी, जिससे एक जीवित-भाषा होने पर भी उसकी साहित्यिक उपादेयता कम होती गई, और वह साहित्यिक मृत्यु को प्राप्त हुई। इसीसे इनके विरोध का भी कुछ परिणाम न निकला और वह देश-काल से पीछे ही हटती गई।

ब्रजभाषा की माधुरी

द्विवेदी काल में कवियों ने खड़ीबोली को जितना शुद्ध और व्याकरण सम्मत बनाने की ओर ध्यान दिया था, उतना उसको सरस और लालित्यपूर्ण बनाने की ओर नहीं। फिर भी इस काल में खड़ीबोली की जो रचनाएँ होती रहीं, जैसे 'कुमारसम्भव', 'श्रान्तपथिक', 'जयद्रथवध', 'प्रियप्रवास', 'पथिक' 'मिलन' 'रामचरित-चिन्तामणि' आदि उनको देखते हुए अब यह नहीं कहा जा सकता था कि वह कोमल और सुरुचिपूर्ण रचना के बिलकुल अयोग्य है। इसीसे, भारतेन्दु युग के समान ब्रजभाषा के समर्थक किसी भी विद्वान को अब यह कहने का कि 'उसका-सा (ब्रजभाषा-सा) अमृतमय चित्तचालक रस खड़ीबोली और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी ने बाप की मजाल नहीं'[1] साहस नहीं हुआ। फिर भी ब्रजभाषा के माधुर्य का गीत गाने में तथा खड़ीबोली को नीरस बताने में इन लोगों ने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी।

द्विवेदी युग में खड़ीबोली-काव्य का यदि विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि उस समय काव्य-भाषा और काव्य-विषय दोनों नवीन थे। आचार्य द्विवेदी की आज्ञानुसार काव्य में व्याकरण की अशुद्धि तथा शब्दों का तोड़-मरोड़ अक्षम्य था। काव्य में कवियों की निरंकुशता भी सीमित कर दी गई थी। इन सबके उपरान्त द्विवेदी जी की प्रेरणा पाकर कितने ही नवीन और अनभ्यस्त कवि खड़ीबोली में काव्य-रचना करने में संलग्न थे। इसका फल यह

---

१. पं० रमाकान्त त्रिपाठी—प्रताप-पीयूष, १९३३ ई०, पृ० ९८

हुआ कि उस समय जो रचनाएँ प्रकाशित हुईं उनमें कुछ नीरस और शुष्क अवश्य थीं। इन्हीं रचनाओं को देखते हुए मिश्रबंधुओं ने अपनी 'पुष्पांजलि' में लिखा था कि 'आजकल खड़ीबोली में प्रायः शुष्क काव्य पाया जाता है और नीरसता का ऐसा समावेश है कि दश पृष्ठों की भी कविता साद्यान्त पढ़ जाना बड़े धैर्यवान व्यक्ति का काम है।'[१] इसी प्रकार पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी खड़ीबोली के कवियों को चेतावनी देते हुए लिखा कि 'मेरे विचार में खड़ीबोली में एक इस प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम में ला उसमें सरसता सम्पादन करना प्रतिभावान के लिए भी कठिन है, तब तुकबन्दी करने वालों की कौन कहे।'[२]

किन्तु, जहाँ एक ओर खड़ीबोली में शुष्क और नीरस कविताएँ हो रही थीं, वहाँ दूसरी ओर 'प्रियप्रवास' जैसी सरस रचना भी इन्हीं कवियों की लेखनी से प्रसूत हो रही थी। इससे ब्रजभाषा के कवियों के उक्त कथित विरोध में जहाँ सत्यता का अंश है वहाँ वे अत्युक्ति से भी भरी हुई हैं। दूसरे, यदि भाव को कविता का प्रधान गुण मानें तो उत्तम भाव वाली कविता में माधुर्य, लालित्य आदि गुण सहज में पैदा किए जा सकते हैं। बाबू श्याम-सुन्दरदास के शब्दों में 'कवि काव्योत्कर्ष का सृष्टिकर्ता है, भावों के अनूठेपन से वह भाषा में भी लालित्य और माधुर्य उत्पन्न कर देता है।'[3] इसी आशय को एक विदेशी विद्वान मि० हैरिस (Harris) ने भी प्रकट किया है। उसने लिखा है कि 'सच्ची भावपूर्ण कविता में कर्कश शब्द भी श्रुति-मधुर लगते हैं।'[४] यदि यह बात ऐसी न होती तो अँग्रेजी में, जो इतनी कर्कश भाषा है,

१. मिश्रबंधु—पुष्पांजलि (१९१५) पृ० ३६३

२. प्रियप्रवास, १९२१ ई०, पृ० १० (भूमिका)

३. एकादश साहित्य-सम्मेलन, कलकत्ता, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ७८

४. "Verses made up of harsh words can still please the ear by their rhythm,. And even in a poem made up of entirely harsh lines, if it is a real poem, the sound of its words as a whole together with their meaning and flavour, will often be pleasing.'
The Nature of English poetry : Harris, 1937, Page 30.

आज दिन उत्तम काव्य रचना ही न होती। पर, हम देख रहे हैं कि अंग्रेजी के अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न कवियों की कविताएँ मधुर ब्रजभाषा में रचना करने वाले सूर, तुलसी, बिहारी और देव की भाँति ही संसार को मोहित कर रही हैं।

निःसन्देह, ब्रजभाषा की पदावली सरस और ललित होती है; पर इस सरसता का मुख्य कारण जैसा कि 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' की भूमिका में विस्तार से लिखा है, हमारा मानसिक संस्कार भी है। जिस भाषा से हमारा सम्पर्क होता है, रात-दिन जिसके पदों को पढ़ते रहते हैं, उसमें स्वयं रोचकता का बोध होने लगता है। यही कारण है कि 'अंग्रेज सैनिकों का गाना जिन्होंने सुना है, वे भले ही उनके पैशाचिक गर्जन पर हँसा करें, पर अंग्रेजों को तो उसी में आनन्द आता है। कोल, भील, संथालों के नृत्यगीतादि भलेही किसी को अरुचिकर जान पड़ें, पर उन बेचारों का तो उससे ही मनोरंजन होता है।'[1] —बाबू श्यामसुन्दरदास। इसलिए ब्रजभाषा की कविता का रसास्वादन जो शताब्दियों से करते आए थे अथवा जिनका मानसिक संस्कार उससे बद्ध-मूल था उनको ब्रजभाषा में मधुरता का आनन्द प्राप्त होना सही था। नवोत्पन्न खड़ीबोली के पद अभी उन लोगों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते थे। वे तो कुछ काल के व्यवहार के बाद ही मधुर लग सकते थे।

ब्रजभाषा के कवियों का यह कहना कि प्राचीन कवियों ने 'इसकी (खड़ीबोली की) चाश्नी ली पर चीख-चीख कर छोड़ दिया'[2] (पं० बदरीनरायण चौधरी, 'प्रेमघन') खड़ीबोली की अकारण निन्दा थी। ब्रजभाषा का काव्यभाषा के आसन पर प्रतिष्ठित होने का एकमात्र कारण उसकी माधुरी ही नहीं थी। यदि किसी भाषा को साहित्यिक भाषा बनने के लिए माधुर्य गुण ही प्रमाण माना जाए तो कहना न होगा कि आज संसार की बहुत-सी भाषाओं को काव्य-भाषा के स्थान पर होना ही न चाहिए था। दूसरे, जब कोई भाषा काव्य-भाषा का स्थान ग्रहण करती है तो परस्पर माधुर्य की तुलना करके किसी एक को वह स्थान नहीं दिया जाता। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि चाश्नी (मिठास) की कमी के कारण ही खड़ीबोली प्राचीन कवियों द्वारा छोड़ दी गई। उक्त कथन सम्भवतः वस्तुस्थिति के बिलकुल

---

१. एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कलकत्ता, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ७९

२. तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग, पृ. ४४

प्रतिकूल था। यहीं पर 'प्रेमघनजी' ने यह भी कहा था कि 'मुसलमान कवियों ने भी जो आरम्भ ही से इस भाषा के सँवारने-सुधारने में लगे रहे, कविता की भाषा के योग्य उसे न समझा।'[1] उनका यह कथन भी तर्क-सम्मत दिखाई नहीं देता, क्योंकि उर्दू में एक से एक सुन्दर कविताएँ हो रही थीं। उसके एक-एक शेर और मिसरे पर लोग लोटपोट हो जाते थे। फिर यह कैसे माना जाए कि मुसलमान कवियों ने खड़ीबोली को कविता के योग्य नहीं समझा था?

जहाँ तक ब्रजभाषा के विद्वानों के इन आक्षेपों के विरोध का प्रश्न था खड़ीबोली के विद्वानों ने भी उनका भली-भाँति उत्तर दिया था।[2] एक स्थल पर पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी ने ब्रजभाषा पर व्यंग्य करते हुए उसको 'महिलाओं की बोली'[3] बताया। दूसरे स्थल पर पं० बदरीनाथ भट्ट ने लिखा कि 'प्राचीन शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उसका अंगभंग करके जो भाषा मधुर कहलाने का दावा रखती है वह उस मनुष्य के समान है जो औरों पर पत्थर मार कर हँसता है और यह चाहता है कि लोग मेरी प्रशंसा करें।'[4] इसके साथ ही इन लोगों ने खड़ीबोली की कर्कशता को एक गुण मानते हुए यह भी कहा कि 'खड़ीबोली में जो एक प्रकार की तेजी पाई जाती है वह प्रचलित शताब्दी की घन-नादी हलचल के विचार को ठीक-ठीक प्रकट कर सकती है।'[5]

समय का प्रवाह खड़ीबोली के अनुकूल था। अतः ब्रजभाषा के प्रशंसकों

---

१. तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग, पृ० ४४

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'विचार विमर्श' में, पं० श्याम जी शर्मा ने 'खड़ीबोली पद्यादर्श' में, हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' की भूमिका में, पं० बदरीनाथ भट्ट ने 'वर्तमान हिन्दी काव्य की भाषा' शीर्षक लेख-प्रकाशित 'सरस्वती' फरवरी, १९१३ ई० में, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'खड़ीबोली की कविता' शीर्षक लेख-प्रकाशित 'हिन्दीग्रंथ माला' मार्च-अप्रैल, १९०७ में, तथा बाबू श्यामसुन्दरदास जी खत्री ने 'कविता की भाषा' शीर्षक लेख-प्रकाशित एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दूसरा भाग में उत्तर दिया था।

३. पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी—हिंदी ग्रन्थ माला, १९०७ वि०, पृ० १८८

४. पं० बदरीनाथ भट्ट सरस्वती, फरवरी, १९१३, पृ० १०९, ११०

५. पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी—हिंदी ग्रन्थमाला, १९०७ ई० पृ० १८८

के इस प्रकार विरोध करने पर भी कि 'खड़ीबोली की कर्कशता उसको काव्य-भाषा के आसन पर कभी बैठने नहीं देगी,' द्विवेदी युग समाप्त होते-होते यह देखा गया कि वह काव्य-भाषा के वांछनीय आसन पर बैठ भी गई। इसके विपरीत, ब्रजभाषा माधुर्य गुण से युक्त होने पर भी उपेक्षणीय होती गई, जिसकी तत्कालीन दीन-हीन दशा का एक बड़ा ही मार्मिक वर्णन पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस प्रकार किया है—

'देश काल अनुसार भाव निज व्यक्त करन में,
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में;
\+ + +
बरनन को करि सकत भला तिह भाषा-कोटी,
मचलि-मचलि जामें माँगी हरि माखन रोटी ॥
× × ×
देखत तुम निश्चिन्त जात ताके अब प्राना,
अभागिनी शोकार्त कहहु को तासु समाना ?
लिखन रह्यो इक ओर तासु पढ़िबोहू त्याग्यो,
माता सों मुख मोरि कहाँ तुव मन अनुराग्यो ॥
× × ×
टपकावति प्रेमाश्रु पुलकि तन पूत प्रेम सों,
भरि-भरि देखत नैन तुमहिं जो नित्य नेम सों,
× × ×
जाय कहाँ अब, बनहि तुम्हें यहि पाले पोसे,
याको बल याको जीवन बस आप भरोसे ॥'[1]

दो भाषाओं का प्रयोग हिन्दी के उत्कर्ष के लिए बाधक

ब्रजभाषा के कवियों के लिए 'बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय'[2] के विचार को अब इस राष्ट्रनिर्माण के युग में स्थगित कर देना ही उत्तम था;

---

१. सत्यनारायण 'कविरत्न'—श्री ब्रजभाषा, पृ० २, ३, ४

२. 'जामें रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय ॥'
कर्पूर मंजरी—'भारतेन्दु'

क्योंकि राष्ट्रीयता को पूरा और स्थायी बल तभी प्राप्त हो सकता था जब हमारी राष्ट्रभाषा भी शक्तिशाली और एक होती। यह सही है कि ब्रजभाषा में हिन्दी साहित्य के अमूल्य रत्नों का अपरिमित भंडार भरा हुआ है, और उसमें इस काल में भी बड़ी सरस और मनोमुग्धकारिणी कविता हो सकती थी, पर क्या यह बात विचारणीय नहीं थी कि जिसमें लोग लिखते-पढ़ते, बोलते-विचारते थे तथा जिसमें देश, जाति और साहित्य के गौरव स्वरूप उत्तमोत्तम पत्र-पत्रिकाएँ निकलती थीं, उसमें कविता न करके ब्रजभाषा में कविता करना हिन्दी के उत्कर्ष के लिए कहाँ तक हितकर था ? इसलिए कवियों को चाहिए था कि उस भाषा को बल देते जिसको हम राष्ट्र की सहचरी अर्थात् राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते थे, अथवा जिस पर हमारी राष्ट्रीयता टिक सकती। किन्तु, ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों का दृष्टिकोण भिन्न था। पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी ने उन लोगों के विचार को अपनी पुस्तिका 'सिंहावलोकन' में इस प्रकार दिखलाया है—

> 'नयी भाषा यानी खड़ीबोली में कविता किये जाने का जो आग्रह करते हैं वही सच पूछिये तो हमारी राष्ट्रीयता के जानी दुश्मन हैं।'[1]

बोलचाल की टकसाली भाषा में कविता करने का प्रश्न आने पर खड़ी-बोली के विद्वानों से इन लोगों का पूछना था कि 'बिहारियों की या पंजाबियों की, बैसवाड़ियों की या ब्रजवासियों की, काश्मीरी पंडितों की या बिकानेरी वैश्यों की, कोरी-किसानों की या पाधा-पंडितों की, किनकी बोल-चाल की भाषा को टकसाली माना जाय जिसमें कविता बने।'[2] यदि देखा जाए तो इसका हल बहुत पहले निकल चुका था। उस समय शिष्ट-समुदाय की बोलचाल तथा लिखने-पढ़ने की सर्वमान्य टकसाली भाषा खड़ीबोली ही थी और उसी का सब जगह प्रचार हो रहा था। हरिऔध ने लिखा है कि 'यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस समय जैसी सुगमता से खड़ीबोली या गद्य की भाषा को लोग पश्चिमोत्तर प्रान्त या अन्य प्रान्तों में समझ लेते थे, ब्रजभाषा को नहीं समझ सकते थे।'[3] व्यापक क्षेत्र में समझी और बोली जाने

---

१. पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—सिंहावलोकन, १९७४ वि०, पृ० ३०

२. वही

३. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि० पृ० ५२७

वाली इसी भाषा को महर्षि दयानन्द ने अपने आर्य-धर्म के प्रचार का माध्यम बनाया था। इस प्रश्न के केवल ८ वर्ष बाद, सन् १६२५ ई० में कॉंग्रेस महासमिति के कानपुर-अधिवेशन ने इसी भाषा में कार्य-समिति की कार्रवाई करने के लिए एक प्रस्ताव स्वीकृत किया था, जो इस प्रकार था—

'यह कॉंग्रेस निश्चय करती है कि कॉंग्रेस, भारतीय कॉंग्रेस कमेटी और कार्य समिति की कार्रवाई आमतौर पर हिन्दोस्तानी में की जायगी।'[1]

इस 'हिन्दोस्तानी' से हन लोगों (महात्मा गांधी) का विचार किसी अन्य भाषा से नहीं था, बल्कि उसी भाषा से था जिसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती अपना धर्म-प्रचार कर रहे थे—

"Dayanand Sarswati enthralled audiences outside Nothern India with his Hindustani eloquence, and could be understood by even the common people without difficulty.

(Young India, 21st January, 1920)

चन्द्रबली पांडे—नागरी अभिशाप, २००२ वि०, पृ० ५८, ५६ (पाद टिप्पणी)

तात्पर्य यह कि जो 'हिन्दोस्तानी' राष्ट्रीय कार्य के लिए अपनाई गई, वह खड़ीबोली थी, और यही बोलचाल की टकसाली भाषा थी। इसी राष्ट्रीय भाषा को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से खड़ीबोली के विद्वान उसके काव्यांगों की भी पुष्टि चाहते थे। अतः खड़ीबोली में कविता करने का आग्रह करने वालों को राष्ट्रभाषा का जानी दुश्मन समझना ब्रजभाषा के विद्वानों के लिए उचित नहीं कहा जा सकता।

इस विवाद को शान्त करने के लिए पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा पं० रघुबरप्रसाद द्विवेदी ने दोनों दल वालों को राष्ट्रभाषा हिन्दी का जानी दुश्मन कहा, क्योंकि खड़ीबोली वाले ब्रजभाषा का बहिष्कार करते थे और ब्रजभाषा वाले खड़ीबोली को खरी-खोटी सुनाते थे। भाषा के क्षेत्र में समझौते की यह नीति उत्तम नहीं थी। ऐसे समय विद्वानों के लिए यह आवश्यक था कि वे अपना एक स्पष्ट और निश्चित निर्णय देते, जिससे कि ब्रजभाषा के त्याग या ग्रहण के मोह में पड़े हुए विद्वानों को प्रकाश मिलता। परन्तु खेद है कि वे वैसा न कर सके।

१. चन्द्रबली पांडे—नागरी अभिशाप, २००२ वि०, पृ० ५८ (फुट नोट)

कुछ ऐसे भी विद्वान थे जो एक ही साहित्य में इस दो भाषा के अनोखे सिद्धान्त को न केवल अस्वाभाविक और अप्राकृतिक ही बता रहे थे, बल्कि उसको निन्द्य और हिन्दी के उत्कर्ष के लिए बाधक भी मान रहे थे। बाबू श्यामसुन्दरदास ने एक स्थल पर लिखा था कि 'अब यदि हम यह चाहते हैं कि हमारी भाषा ठीक हो, वह उन्नति करे तो हमें उचित है कि पुराने ढर्रे को छोड़कर पद्य को भी उस भाषा में लिखें जिसमें हम गद्य लिखते हैं। यदि यह न हुआ तो हमारी भाषा सदा अपाहिज बनी रहेगी और उसकी उन्नति सम्यक प्रकार से कभी भी न हो सकेगी।'[1] इसी प्रकार 'समालोचक' के सम्पादक श्री गोपालराम गहमर निवासी ने लिखा था कि 'खड़ीबोली को छोड़कर ब्रजभाषा की शरण लेना हिन्दी की उस उन्नति में बाधा डालना है जो देश की उन्नति का मूल कारण है।'[2]

इस प्रकार बोलना एक भाषा में और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध तो था ही, हिन्दी के उत्कर्ष के लिए भी बाधक था, विशेष कर उस समय जब कि हमें एक बलशाली राष्ट्रभाषा का अभाव खटक रहा था। आवश्यकता यह थी कि ब्रजभाषा के मोह को छोड़कर विद्वान खड़ीबोली की सर्वाङ्गीण उन्नति करते, जो कि एक ही साहित्य में दो भाषाओं की खींचा-तानी से कदापि सम्भव नहीं थी।

बोलचाल की भाषा क्या काव्य-भाषा बन सकती है?

संसार की अन्य वस्तुओं के समान भाषा में भी परिवर्तन अपने प्राकृतिक और स्वाभाविक नियमानुसार हुआ करता है। लोग इस परिवर्तन को अपने नित्य व्यवहार की बोलचाल की भाषा (गद्य) में तो निःसंकोच ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु यह बहुधा देखा जाता है कि कुछ अनुदार साहित्यिक काव्य-भाषा में इस परिवर्तन का स्वागत शीघ्र नहीं करते। वे उसके प्रयोग का अनेक प्रकार से विरोध करते रहते हैं। ठीक यही बात खड़ीबोली के साथ भी थी। गद्य में वह ग्रहण कर ली गई थी। पद्य में उसके व्यवहार के लिए विरोध चल रहा था। श्री रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने लिखा था—

'मैं पूछता हूँ कि वह कौन सी भाषा है जिसका व्यवहार गद्य और पद्य

---

१. सरस्वती, भाग २, संख्या १, पृ० २
२. समालोचक, भाग १, अंक १, १९०२ ई०, पृ० २३

दोनों में एक ही ढंग पर होता है ? मिल्टन का गद्य उनके पद्य से मिला देखिए, आधुनिक अंग्रेजी पद्य आधुनिक अंग्रेजी गद्य से मिला देखिए, हज़रत सादी की 'गुलिस्ताँ' उन्हीं की 'बूस्ता' से मिला देखिए, सरूर का फसाना अजायब वाला गद्य उन्हीं के शेरों से मिला देखिए, और कहिए कि दोनों में भाषा का रंग-ढंग भिन्न-भिन्न है या नहीं ?"[1]

'पूर्ण' जी का यदि यहाँ भाषा से तात्पर्य 'शैली' से होता तो सम्भवतः किसी को कोई आपत्ति न होती। गद्य और पद्य का प्रयोजन भिन्न होने के कारण दोनों की शैलियों में थोड़ा भेद होता है, पर भाषा एक होती है, दो नहीं। मिल्टन, हजरत सादी आदि के गद्य और पद्य की भाषा एक है। उनमें भिन्नता तो हमें दिखलाई इसलिए देती है कि गद्य और पद्य की प्रवृत्तियों में भेद होने से एक (गद्य) सरल सुबोध भाषा में यथातथ्य कथन द्वारा किसी विषय का सम्यक बोध कराता है, और दूसरा (पद्य) प्रभावोत्पादक तथा आनन्दोत्पादक ढंग के वर्णन द्वारा पाठक को उस भाव-भूमि पर ले जाकर निमग्न करना चाहता है, जो उसका मन्तव्य होता है। इस अभिप्राय की प्राप्ति के लिए वह पद्य की भाषा में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से युक्त शब्द, रस, अलंकार आदि का प्रयोग करता है। गद्य और पद्य की शैली की यही भिन्नता बहुतों को भाषा में विलगाव प्रतीत हुआ।

अंग्रेजी-साहित्य में भी Diction of poetry (कविता की शब्दावली) को लेकर १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विवाद चला था। १८ वीं शताब्दी में कविगण पद्य को गद्यवत् बनने से बचाने के लिए Fish (मछली) के स्थान पर Finny Tribe, Country man (गाँव के आदमी) के स्थान पर Rustic Swain, Farm Labourer (खेती के मजदूर) के स्थान पर Corydon or Thyrsis, Wind (हवा) के स्थान पर Trembling Zephyr, Sea (समुद्र) के स्थान पर Azuremain आदि लिख रहे थे। उस युग के अंग्रेजी कवियों पर इस कविता की शब्दावली का पागलपन ऐसा सवार था कि इससे उस काल की कविता दुरूह और दोषयुक्त हो गई है। 'पूर्ण जी' को इसीलिए मिल्टन के गद्य और पद्य की भाषा में महान अन्तर दिखलाई दिया था। वर्ड्सवर्थ ने (Lyrical Ballads)

१. रायादेवीप्रसाद पूर्ण—चन्द्रकला-भानकुमार नाटक, १६०४ ई०, पृ० ७, (भूमिका)

'लिरिकल बेलेड्स' की भूमिका में इस प्रणाली की कटु आलोचना की है और लिखा है कि 'गद्य और पद्य की भाषा में न अन्तर है और न हो सकता है' (Between the language of prose and that of metrical composition, there neither is, nor can be, any essential difference)।[१] चाहे स्वयं वर्ड्सवर्थ अपनी कविता की भाषा में अपने इस विचार का पूर्ण निर्वाह न कर पाया हो, पर उसने एक दोषयुक्त प्रणाली की निन्दा की है, और यह देखा जाता है कि अंग्रेजी साहित्य के पद्य भाग की बहुत सी उत्तम रचनाएँ साधारण बोलचाल की सरल भाषा में हैं (A great deal of the greatest English poetry is made up entirely of words which poople use in very ordinary speech.)[२] ।

अतः ब्रजभाषा के समर्थक जो यह कह रहे थे कि 'गद्य और पद्य की भाषा सदा से दो होती आई है और सदा होगी, इन दोनों में सदा से अन्तर है और रहेगा, अंग्रेजी में भी यही बात है, अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने गद्य और पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहा था पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया'[3] आदि-आदि, वह सब निर्मूल और भ्रमपूर्ण था। गद्य और पद्य की भाषा में भेद, जैसा वे समझ रहे थे, सम्भव नहीं था। सब भाषाओं में यही देखा जाता है कि जो भाषा सभ्य समाज की बोलचाल की प्रचलित भाषा होती है उसी का कविता में भी आदर होता है। कहा नहीं जा सकता कि ब्रजभाषा के कवियों को पाश्चात्य विद्वान मि० ग्रे (Grey) की इस धारणा को कि 'वर्तमान युग की भाषा कविता की भाषा नहीं होती' (The language of the age is never the language of the poetry)[४] देखकर तो भ्रम नहीं हुआ है, जिससे वे बोलचाल की भाषा को कविता के लिए अयोग्य मानते रहे। यदि यह बात सत्य होती कि कवि कविता करने

१. जोन्स : इंगलिश क्रिटिकल एसे नाइनटींथ सैंचुरी, १९५०, पृ० ४५

२. हैरिस, एल. एस. : नेचर आव इङ्गलिश पोइट्री, १९३७, पृ० १०९

३. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : सिंहावलोकन, १९७४ वि०, पृ० २५

४. लावेज़, जे. एल. : कन्वेंशन एन्ड रिवाल्ट इन पोइट्री, १९३०, पृ० १३०, १३१

आज बैठे और वह सौ वर्ष पहले की भाषा का प्रयोग करे तो आज 'सूरसागर', 'रामायण' आदि ग्रंथ चन्द कवि की अथवा उससे भी पहले की भाषा में लिखे हुए दिखाई पड़ते। कहीं यदि ऐसा हुआ होता तो उनकी सर्वप्रियता पर क्या असर पड़ता, इसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है। सूर, तुलसी, नानक, कबीर आदि की रचनाएँ तत्कालीन बोलचाल की सुगम भाषा में ही होने के कारण इतनी लाभप्रद हैं। इससे कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा के कवियों की उक्त धारणा ठीक नहीं थी। बोलचाल की भाषा में ही कविता करना उपयोगी हो सकता है।

बोलचाल की भाषा में कविता करने के विरोध का कारण एक और था। वह थी 'सरसता'। ब्रजभाषा के कवियों का कहना था कि 'सरसता' जो कविता का एक प्रधान गुण है, बोलचाल की साधारण भाषा के व्यवहार से कभी नहीं आ सकती। खड़ीबोली के विद्वानों का कहना था कि कविता का मुख्य गुण 'सरलता' है और वह बिना बोलचाल की भाषा के सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में पं० बदरीनाथ भट्ट ने लिखा था कि 'कविता की भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए जो सबकी समझ में आ सके। बोलचाल की भाषा से अधिक सरलता और किसमें मिलेगी? यदि केवल सरसता के पीछे हाथ धोकर पड़ा जाय तो हमें विश्वास है कि संस्कृत में पद्य रचना फिर शुरू करनी चाहिए। बाकी की भाषाओं को पेंशन दे देनी चाहिए।'[१] इसी विचार को बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने इन शब्दों में प्रकट किया था कि 'स्वाभाविक कविता के लिए बोलचाल की स्वाभाविक भाषा का होना आवश्यक है। इससे कविता की उद्देश्यपूर्ति हो सकती है। कविता का प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता है। अतएव उसका सरल, सुबोध, सुगम होना आवश्यक है।'[२]

'सरसता' तथा 'आनन्दोत्पादन' कविता के प्रधानगुण हैं। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर क्या बोलचाल के शब्दों में सरसता उत्पन्न नहीं की जा सकती? विद्वानों का ऐसा मत है कि उत्तम कविता के प्रवाह में प्रत्येक शब्द श्रुति-मधुर लग सकता है—Poetry can take any word and use it so that it stands a message to the emotions

---

१. सरस्वती, भाग १४, संख्या २, फरवरी, १९१३ ई० पृ० १११

२. एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ७७

and the imaginations and pleases the ear.[1]—Harris. अतः यह स्पष्ट है कि कविता में सरसता उत्पन्न करना कवि-साध्य है। कवि किसी भी भाषा में सरस काव्य-रचना कर सकता है। इसलिए गद्य की सरल भाषा में जिसको हम बोलचाल की भाषा कहते हैं अथवा जिसमें शिष्ट-समुदाय लिखता-पढ़ता है, उसमें सरस कविता हो सकती है। सच तो यह है कि उसी में कविता करना उत्तम होता है।

छन्द

भारतेंदु युग में जब खड़ीबोली की प्रारम्भिक रचनाएँ फारसी तथा लावनी के छन्दों में होने लगी थीं, तब ब्रजभाषा के विद्वानों ने यह आपत्ति की थी कि खड़ीबोली का निर्वाह सिवाय फारसी छन्द और दो-तीन प्रकार की लावनियों के अन्य प्रकार के छन्दों में नहीं हो सकता। यदि कोई दूसरा छन्द उसमें ग्रहण भी किया गया है, तो ऐसा लगता है जैसे 'किसी कोमलाँगी सुन्दरी को कोट-बूट पहिनाना।'[2] इस आक्षेप को असंगत प्रमाणित करने के लिए खड़ीबोली के कवि द्विवेदी युग में संस्कृत-वृत्तों की ओर आकर्षित हुए। अब तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ब्रजभाषा में संस्कृत-वृत्तों के प्रयोग का नमूना पेश कर चुके थे। 'बिहार-वाटिका' (१८६० ई०) तथा 'ऋतु-तरंगिणी' (१८६१ ई०) उनकी इस प्रकार की रचनाएँ हैं। इनमें वे अन्त्यानुप्रास के मोह को छोड़ नहीं सके हैं। संस्कृत-वृत्तों के विपरीत उनको उन्होंने अन्त्यानुप्रास युक्त बना दिया है। कदाचित, इससे उनका विचार यह रहा हो कि हो सकता है इस ढंग के छन्द हिन्दी के अनुकूल सिद्ध हो जाएँ। तत्कालीन हिन्दी जगत ने उनके इस प्रयोग का स्वागत किया था। यहाँ तक कि ब्रजभाषा दल के पं० राधाचरण गोस्वामी ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के इस कार्य की प्रशंसा में उनको एक पत्र २१ नवम्बर, १६०० ई० को लिखा था, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'आपकी सहृदयता, मर्मज्ञता, काव्य-रसिकता ने मुझे आपकी स्तुति करने को प्रोत्साहित किया और विशेषतः आप 'वसन्ततिलका' छन्दों में जो

१. हैरिस, एल. एस.—दी नेचर आव इंगलिस पोइट्री, १६३७ ई०, पृ० १०६

२. पं० प्रतापनारायण मिश्र—निबंध नवनीत, पृ० ५०

कविता रचा करते हैं, बहुत ही मधुर है। पर इसका बहुत थोड़ा मिला। कुछ विशेष कविता इन्हीं छन्दों में कीजिए तो बड़ा सुख हो।

'अहो महावीरप्रसाद भाई
जो है नई काव्यसुधा बहाई,
पीवें तऊ तृप्ति न नेक आई,
करें कहाँ लौं तुमरी बड़ाई।'[1]

इसी भाँति वैजनाथ नाम के एक सज्जन ने भी उनकी प्रशंसा में उनको एक पत्र लिखा था।[2]

इसके बाद द्विवेदीजी ने सन् १९०१ ई० में 'हे कविते' की रचना खड़ीबोली में संस्कृत-वृत्तों में की। इसका अनुकरण बाबू मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार, रामचरित उपाध्याय, गिरधर शर्मा, रूपनारायण पाँडे आदि कवियों ने भी किया। इनमें अधिकाँश को अन्त्यानुप्रास के मोह ने पकड़े रखा। इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' को 'प्रियप्रवास' की रचना में मिली जो आद्योपान्त अतुकान्त कविता में लिखा गया है।

किन्तु हिन्दी में अतुकान्त छन्द ब्रजभाषा के कवियों को प्रिय न लगे। जिस प्रकार उन्होंने फारसी छन्द की विजातीय कहकर निन्दा की उसी प्रकार इन अतुकान्त छन्दों का भी इन शब्दों में विरोध किया—

'......न जाने क्यों थोड़े से पढ़े-लिखे, बिना तुकान्त की कविता कर बड़ा भारी बखेड़ा मचाया चाहते हैं'[3]

—'समालोचक'

१. प्रेमनारायन टंडन—द्विवेदी मीमांसा, १९३९ ई०, पृ० १५१,१५२

२. "I always read your verses with great pleasure. If I am not mistaken I think you are the first to introduee the new sort of couplet so common in Sanskrit, in Hindi···you have shown a path, quite new and better to the present generation of Hindi writers."

'द्विवेदी-मिमांसा'—प्रेमनारायण टंडन
पृ० १५०-१५१

३. समालोचक, वर्ष १, अंक २, सन् १९०२ ई०, पृ० ७

'आजकल छन्दों के चुनाव में भी लोगों की अजीब रुचि हो रही है, इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि संस्कृत छन्दों का हिन्दी में अनुकरण हममें तो कुढ़न पैदा करता है।'[1]

—पं० बालकृष्ण भट्ट

'भाषा दोगली और छन्द वही उपेन्द्रवज्रा या 'मार-लातन मार-लातन' आदि।'[2]

—पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

खड़ीबोली के कवि नवीन छन्दों के प्रवेश के पक्ष में थे। उनका कहना था कि चिरकाल से वीर, भक्ति तथा शृंगार रस से सिक्त, ब्रजभाषा के छन्द, कवित्त, सवैया आदि से आधुनिक हिन्दी की कविता का काम नहीं चलेगा। इन प्राचीन छन्दों में देश-प्रेम, समाजसुधार आदि नवीन भावों का ठीक ढंग से निर्वाह होना कठिन है। दूसरे, वे यह भी देख रहे थे कि बंगालियों और मराहठों ने अपने साहित्य में प्राचीन छन्दों से काम न चलता देखकर नवीन छन्दों की सृष्टि कर डाली है। फलस्वरूप खड़ीबोली के कवि भी इधर अग्रसर हुए। पं० श्रीधर पाठक ने लिखा कि 'यथा सम्भव नवीन उपयोगी छन्द भी लाने चाहिए। बंगला, मराठी, द्रविड़, फारसी, अंग्रेजी, जापानी आदि विदेशी भाषाओं के कोई छन्द यदि हिन्दी में सरसता के साथ आ सकें तो उनका ग्रहण भी अनुचित न समझना चाहिए।'[3] इसी प्रकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपना विचार प्रकट किया कि 'दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और-और छन्द भी लिखा करें।'[4] नवीनता के प्रेमी पहले से उत्सुक थे ही और अपना नवीन मार्ग ढूँढ़ भी रहे थे कि विद्वानों के इन आदेश भरे शब्दों का परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा के कवियों के विरोध करते रहने पर भी वे खड़ीबोली में नवीन छन्दों को प्रश्रय देने लगे।

१. द्वि० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ८
२. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अंक ११, १२, सं० १९७९ वि०, पृ० २७९
३. प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ३१
४. द्विवेदी—रसज्ञ-रंजन, २००६ वि०, पृ० १५

जहाँ तक खड़ीबोली में नवीन छन्दों के चुनाव और ग्रहण का प्रश्न था ब्रजभाषा के कवियों को उनसे बहुत कम विरोध था। परन्तु, जब खड़ीबोली के समर्थक विद्वान अतुकान्त अथवा अन्त्यानुप्रासहीन वृत्त जो खड़ीबोली के शब्दों के शुद्ध रूप निर्वाह के अनुकूल पड़ रहा था, इन शब्दों में अनुमोदन करते थे—

'तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार स्वातंत्र्य में बाधा आती है।'

—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

'भिन्न तुकान्त कविता सुविधा के साथ की जा सकती है, और उसमें विचार स्वतंत्रता, सुलभता और अधिक उत्तमता से प्रकट किए जा सकते हैं।'[1]

—'हरिऔध'

तब ब्रजभाषा के कवि अन्त्यानुप्रासयुक्त ब्रजभाषा के छन्दों की इससे निंदा समझते थे, और फिर इस प्रकार उनका विरोध करते थे—

'अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर माहीं
त्यागि पद्य प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं ?
अनुप्रास कबहूँ न सुकवि को शक्ति घटावैं
वरु सच पूछौ तो नव सूझ हियें उपजावैं
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखें फीके,
माँगहि बिधना सों ते श्रवन मानुषी नीके।।'[2]

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

'सज्जनों, कुछ ऐसे भी हैं जो बेतुकी हाँकते हैं। जब तुक न मिले और काफिया तंग हो जाय तो बेचारे क्या करें ? बेतुकी काव्य ही नहीं महाकाव्य भी बनने लगा है। बेतुके कवियों का कहना है कि तुक मिलाने में बड़ा झंझट है।'[3]

१. हरिऔध—प्रियप्रवास, १९२१ ई०, पृ० ४ भूमिका
२. समालोचनादर्श, १८९६ ई०, पृ० ३०, ३१
३. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अंक ११, १२, सं० १९७९, पृ० २८३, ३८४

'जो स्वाभाविक या यथार्थ कवि हैं वह सदा भावमय रहते हैं। तुक मिलाने की चिन्ता उनकी भावराशि में बाधा नहीं डाल सकती।... खैर अमित्राक्षर छन्द के अनुरागियों को रोकता नहीं। वे मजे में बेतुकी कविता करें पर कृपाकर पुराने छन्दों की व्यर्थ निन्दा न करें।'[1]

—जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

उक्त अवतरण में 'चतुर्वेदी' जी ने 'बेतुके कवि' का सांकेतिक प्रयोग 'हरिऔधजी' के लिए किया था। इसके विरोध में पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने एक कड़ा लेख 'माधुरी' अगस्त, १९२२ ई० में प्रकाकित कराया था, जिसमें आपने लिखा था कि 'एक साहित्य-सेवी के मुख से, दूसरे साहित्य सेवियों के लिए ऐसे शब्दों का निकालना शोभा नहीं देता।'[2] इसी क्रम में आपने आगे लिखा था कि 'बंग-भाषियों से पूछिए क्या वे महाकवि 'माइकेल मधुसूदनदत्त' के 'मेघनाथ वध' जैसे महाकाव्य को अपने साहित्य से निकाल डालने को तैयार हैं? अँग्रेजी भाषा-भाषिओं से पूछिए, क्या वे अँग्रेजी साहित्य से 'मिल्टन', 'शेक्सपियर' तथा 'वर्ड्सवर्थ' जैसे महाकवियों के भिन्न-तुकान्त महाकाव्यों को पृथक कर देने के लिए तैयार हैं? संस्कृत-साहित्य से भिन्न-तुकान्त श्लोक निकाल डालिए, क्या रह जायगा? हिन्दी साहित्य प्रेमियों से पूछिए, क्या वे 'प्रियप्रवास' को भूल जाने के लिए तैयार हैं? मैं समझता हूँ, उत्तर में आपको नहीं के सिवा और कुछ नहीं मिलने का।'[3] इसी प्रकार 'मर्यादा' सन् १९१३ ई० में मन्नन द्विवेदी ने व्रजभाषा के कवियों को इस प्रकार उत्तर दिया था कि 'हमारे बाप-दादे बैलगाड़ी पर चढ़ते थे लेकिन हम लोग रेलवे ट्रेनों में घण्टे में कोसों का सफर तय करते हैं। इसी तरह हमारे पुराने कवि सोरठा और दोहा लिखते थे तो कोई वजह नहीं कि हम लोग भी सिर्फ 'शंकर चाप जहाज, सागर रघुवर बाहुबल' के वजन पर मिसरे बैठाएँ। देश-काल को देखकर हम जितने नये तरह के छन्द लिख सकें उतनी ही हम अपनी मातृभाषा की सेवा करेंगे।'[4]

---

१. द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० १७०

२. व ३. माधुरी, वर्ष १, खंड १, संख्या २, अगस्त, १९२२ ई०, पृ० १९१, १९२

४. मर्यादा, भाग ६, संख्या २, ३, जून, जुलाई, १९१३ ई०, पृ० १००

दोनों ओर से कटुता को अधिक बढ़ते देखकर उसके निवारण के लिए पं० लोचनप्रसाद पांडे ने खड़ीबोली में तुकान्त-हीन रचना के प्रयोग के सम्बन्ध में तत्कालीन विद्वानों से उनकी सम्मति चाही थी। विद्वानों से प्राप्त हुई सम्मतियाँ 'इन्दु' जुलाई, १६१५ ई० में 'हिन्दी में तुकान्त-हीन पद्य रचना' शीर्षक से उद्धृत हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

'खड़ीबोली में मात्रा-वृत्तों में तुकान्तहीन पद्य लिखे जाने चाहिए।'
—पं० श्यामविहारी मिश्र एवं पं० शुकदेवविहारी मिश्र

'मैं बेतुकी कविता का भी उतना ही आदर करने को प्रस्तुत हूँ, जितना तुकबन्दी का।'
—बाबू मैथिलीशरण गुप्त

'खड़ीबोली में मात्रावृत्तों में तुकान्तहीन पद्य लिखने का मैं भी पक्षपाती हूँ।'
—पं० रूपनारायण पांडे

'अभी बेतुकी कविताओं का यथेष्ट प्रचार नहीं हो रहा है। इसकी मैं आवश्यकता समझता हूँ।'
—पं० नर्मदाप्रसाद, सहकारी सम्पादक,
हितकारिणी, जबलपुर।

'मेरी यह अनुमति है कि गण-वृत्त और मात्रा-वृत्त दोनों में भिन्न-तुकान्त कविता होनी चाहिए।'
—हरिऔध

'भिन्न-तुकान्त के साथ-साथ कवि-समाज यदि अन्वय-क्रम-निबन्धन पर ध्यान दे तो सोने में सुगन्ध का मेल हो।'
—हरिवंश काव्यतीर्थ

इन सम्मतियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय खड़ीबोली में अतुकान्त कविता के पक्ष में लोग अधिक थे, और उसकी अनिवार्य पूर्ति चाह रहे थे। यही कारण है कि ब्रजभाषा के कवियों के विरोध करते रहने पर भी इन वृत्तों में रचनाएँ होती रहीं।

संस्कृत-वृत्तों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में भी रचनाएँ इस काल में हुई

हैं। प्रतिभावान कवि 'तुकान्त' छन्दों में भी कविताएँ लिखकर लब्ध-प्रतिष्ठ होते रहे। पं० श्रीधर पाठक ने 'सरस्वती' सितम्बर, १९०२ ई० में सत्तरह प्रकार के तुकान्त-छन्दों में खड़ीबोली की रचना प्रकाशित कराकर खड़ीबोली के विरोधियों को जो यह कह रहे थे कि 'वह तुकान्त-छन्दों के अयोग्य है, उसका खड़ापन उसको इस तरह के छन्दों में बैठने नहीं देगा' यह दिखला दिया था कि तुकान्त-छन्दों में भी पूर्ण सफलता के साथ रचनाएँ हो सकती हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० नाथूरामशंकर शर्मा, ठा० गोपालशरणसिंह ने ब्रजभाषा के छन्दों कवित्त, सवैया आदि में भी बड़ी सफलतापूर्वक रचनाएँ की हैं। छन्दों के त्याग और ग्रहण को लेकर जो वाद-विवाद इस युग में हुआ उससे इस क्षेत्र में कोलाहल-सा मच गया था।

सारांश

भारतेन्दुकाल में ब्रजभाषा और खड़ीबोली सम्बन्धी जो यह विवाद चला उसके फलस्वरूप यह देखा जा चुका है कि उस युग के समाप्त होते-होते खड़ी बोली ने बहुतों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। द्विवेदीकाल में 'सरस्वती' के प्रकाशन के पश्चात्, खड़ीबोली का प्रचार बढ़ता हुआ देख कर तो कितने ही ब्रजभाषा के उपासक, जैसे रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', हरिऔध, लाला भगवानदीन, पं० रामचरित उपाध्याय आदि इधर आ मिले थे। पं० गोकुलचन्द शर्मा, पं० लोचनप्रसाद पांडे, ठा० गोपालशरणसिंह आदि प्रारम्भ से ही खड़ीबोली के पुजारी थे। इनके अतिरिक्त, कुछ ऐसे भी कवि थे, जैसे पं० नाथूरामशंकर शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रूपनारायण पांडे आदि, जो दोनों भाषाओं में रचना कर रहे थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ये 'दोरंगी कवि' थे। इनके लिए शुक्ल जी लिखते हैं कि 'ये ब्रज-भाषा में तो शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त सवैयों या गेय पदों में करते आते थे और खड़ीबोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे।'[1] ब्रजभाषा में आद्योपान्त रचना करने वालों में केवल बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' दिखाई देते हैं। इस प्रकार इन दो-एक कवियों को छोड़कर प्रायः सभी कवि खड़ीबोली में रचना कर रहे थे। जो विद्वान इस काल में ब्रजभाषा का पक्ष-समर्थन कर भी

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ७५१

रहे थे, जैसे पं० कृष्णविहारी मिश्र, बाबू भगवन्नारायण भार्गव, पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० चन्द्रमनोहर मिश्र आदि वे भी अब यह नहीं कह रहे थे कि खड़ीबोली में रचना न की जाए, अथवा उसमें उत्तम कोटि की रचना हो ही नहीं सकती, बल्कि उनका विरोध यह था कि खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वानों को चाहिए कि वे ब्रजभाषा को पदच्युत करने का प्रयत्न न करें और जो ब्रजभाषा में कविता करना चाहते हैं उनको न रोकें। यथा,

'मेरा अभिप्राय कदापि नहीं है कि खड़ीबोली में उत्तम कविता हो ही नहीं सकती। जब अँग्रेजी, फारसी आदि संसार भर की भाषाओं में कवि की शक्ति के अनुसार उत्तम कविता हो सकती है, तो खड़ीबोली में भी हो सकती है। किन्तु अभिप्राय केवल इतना है कि यदि साहित्य-सेवियों का 'रेडिकल' दल पद्य-भाषा को पदच्युत करने का साहस न करेगा तो उसकी मातृभाषा पर बड़ी कृपा होगी।'[1]

—'रायदेवीप्रसाद' पूर्ण

'खड़ीबोली में खूब कविता हो। पर दूसरी भाषा में कविता होना मत रोको।'[2]

—पं० कृष्णविहारी मिश्र

'यह न समझा जाय कि मेरी मति में जो कुछ पुराना है शुद्ध है और उपयोगी है और जो कुछ आधुनिक है निंदनीय है।'[3]

—बाबू भगवन्नारायण भार्गव

इस विवाद में भाग लेने वाले कुछ ऐसे भी विद्वान थे, जैसे पं० रघुवीरप्रसाद द्विवेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, जो स्पष्ट रूप से मध्यमार्ग का अनुसरण कर रहे थे। वे दोनों भाषाओं में कविता करते रहने की अनुमति दे रहे थे, जैसे—

---

१. पं० कृष्णशंकर शुक्ल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७०, १७१

२. इन्दु, कला ६, खंड १, किरण १, जनवरी, १९१५, पृ० ११

३. षष्ठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० २६

'उन्हें (ब्रजभाषा के पक्षपातियों को) चाहिए कि खड़ीबोली के नये प्रवाह को रोकने का प्रयत्न न करें यह विकट प्रवाह उनके रोके रुक भी नहीं सकता, चाहे वे बुराई भले ही अपने सिर लाद लें। खड़ीबोली के पक्षपातियों को चाहिए कि वे ब्रजभाषा को बहिष्कृत करने के लिए न कहें और अपना काम करते जावें'[1]

—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

'ऐसी दशा में दोनों दलों के अनुयायियों को अपनी रुचि के अनुकूल कविता करते जाना चाहिए और इस परस्पर के विवाद को दूर कर देना चाहिए कि कविता किस बोली में अच्छी होती है।'[2]

— पं० रघुवीरप्रसाद द्विवेदी

इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ीबोली में कविता करने की सार्वभौम उपयोगिता अब उसके पक्षी एवं विपक्षी सबकी समझ में आ गई थी।

भारतेन्दु काल में जब खड़ीबोली को काव्यभाषा का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया गया था तो उसकी अपर्याप्त अभिव्यंजना शक्ति तथा संकुचित छंद-क्षेत्र को देखकर ब्रजभाषा के समर्थक विद्वानों को उस समय यह विश्वास नहीं हुआ था कि खड़ीबोली में सफल काव्य-रचना हो सकेगी। उनका यह विश्वास द्विवेदी युग के लगभग प्रथम दशक तक वैसा ही बना रहा। इस युग के कवियों ने उर्दू, हिन्दी तथा संस्कृत के छन्दों को अपनाकर शीघ्र ही छन्द के क्षेत्र को विस्तृत कर लिया। इसके साथ ही खड़ीबोली को परिमार्जित कर उसकी अभिव्यंजना शक्ति को भी विकसित किया, जिसके परिणामस्वरूप जयद्रथवध (१६१० ई०), प्रियप्रवास (१६१४ ई०), मिलन (१६१८ ई०), गांधीगौरव (१६१६ ई०), आदि सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित हुईं। यहाँ तक कि इस युग के अंतिम वर्षों में जैसा कि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि कविगण इसको 'कल्पना का नया रंग रूप देने तथा उसे और अधिक अभिव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडे, और बदरीनाथ

१. इन्दु, कला ४, खंड २, किरण २, पृ० १६६

२. षष्ठ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ६६

भट्ट'।[1] इस प्रकार की उनकी रचनाएँ 'नक्षत्र-निपात', 'अनुरोध', 'पुष्पांजलि', 'स्वयंआगत', 'आँसू', 'उदगार' आदि प्रकाश में आईं। इनमें रहस्यभावना के साथ-साथ सुन्दर पदावली तथा भावपूर्ण व्यंजना के भी दर्शन हुए। जैसे—

'मेरे जीवन की लघु तरणी
आँखों के पानी में तरजा।
मेरे उर का छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा।' (१६१७ ई०)
'मुकुटधर पांडे'

द्विवेदी युग की समाप्ति के तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व जब खड़ीबोली-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था तब 'हिन्दोस्थान' के सम्पादक ने ३ अप्रैल १८८८ ई० के सम्पादकीय टिप्पणी में खड़ीबोली के विरोधियों को सावधान करते हुए लिखा था कि 'जैसे हिन्दी का गुण और गौरव आपको थोड़े ही दिनों से ज्ञात हुआ है उसी तरह उसकी कविता का गौरव भी धीरे-धीरे समझ में आवेगा। जरा सबर कीजिए, उतावले न हूजिए।'[2] उनकी यह भविष्यवाणी इस युग में फलीभूत हुई। द्विवेदी काल के कवियों ने ब्रजभाषा के समर्थकों के सारे आक्षेपों को मिथ्या प्रमाणित कर दिया और खड़ीबोली काव्यभाषा के माध्यम के रूप में पूर्णतः स्वीकृत कर ली गई।

खड़ीबोली को काव्यभाषा के आसन पर इस छोटे से काल में प्रतिष्ठित कर देने का महत्व इस युग के कवियों को है। हम ज्यों-ज्यों इस युग से दूर हटते जाएँगे, त्यों-त्यों भविष्य में इस युग के महत्व को समझेंगे कि किस परिश्रम, लगन तथा योग्यता के साथ इस युग के कवियों ने खड़ीबोली में केवल अठारह-बीस वर्षों के ही भीतर वह सफाई, सुघराई तथा अर्थ-गम्भीरता ला दी जो ब्रजभाषा में शताब्दियों मँजने और घिसने के बाद आई थी। इस सम्बन्ध में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है—

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६६७ वि०, पृ० ७८१

२. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ५४

'खड़ीबोली के घट को साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मंत्रपाठ द्वारा देश के नवयुवक-समुदाय को एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और उस घट में कविता की प्राण प्रतिष्ठा की। हिन्दी साहित्य की वर्तमान धारा पूर्णज्ञान के महासागर की ओर जितना ही आगे बढ़ती जायगी, लोग उतना ही उसके महत्व को समझेंगे।'[1]

इस युग में इस आन्दोलन के भीतर कुछ व्यक्तिगत आक्षेप भी किए गए हैं जो भारतेन्दु काल में नहीं पाए जाते। भारतेन्दु काल के कवियों के लिए यह एक बड़े गौरव की बात थी। इस युग में खड़ीबोली में रचना करने वाले 'लंगूर' 'गीदड़' 'लम्बकर्ण' 'शाखामृग' आदि तो प्रायः सभी बनाए गए, पर महाकवि हरिऔध को 'बेतुके' कहना, राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त को 'खड़ीबोली का अप्रेंटिस' और 'तुकिया' बनाना तथा आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी को 'स्वार्थी' लिखना पूर्णतया अवांछनीय था। यह विवाद साहित्यिक था, परस्पर की आलोचना-प्रत्यालोचना से हिन्दी साहित्य को एक प्रकार से लाभ पहुँचा है। अतः व्यक्तिगत आक्षेप सर्वथा अनुचित थे।

---

[1] माधुरी, वर्ष ८, खंड १, संख्या १, सं० १९८६ वि०, पृ० ३७९

पाँचवाँ अध्याय

छायावादी युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद का ऐतिहासिक दिग्दर्शन

और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को भी शारदा से यह विनय करनी पड़ी थी—

'आत खड़ीबोली पै कोउ भयौ दिवानो।
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो॥
+ + +
हम इन लोगन हित सारद सौं चहत विनय करि
काहू विधि इनके हिय की दुर्मति दीजै दरि॥'

(समालोचनादर्श)

ब्रजभाषा के प्रबल समर्थक भी काव्य में खड़ीबोली के प्रयोग को सामयिक मानने लगे थे। यदि ब्रजभाषा के कुछ छोटे-मोटे प्रशंसक अब भी उसको काव्यभाषा में बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे थे, तो वह कठिन दिखलाई दे रहा था। ऐसे लोगों के लिए ही पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी पुस्तक 'चाबुक' में लिखा है कि 'हिन्दी-साहित्य की पृथ्वी पर अब ब्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवानसि वेदम्' के भक्तों की नजर में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम बेवक्त की शहनाई के और क्या अर्थ हैं?'[1] पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने भी 'पल्लव' की भूमिका में यही विचार प्रकट किया है। इससे यह व्यक्त होता है कि ब्रजभाषा का काल अब समाप्त हो चुका था, किन्तु ब्रजभाषा और खड़ीबोली सम्बन्धी यह विवाद तब तक चलता रहा जब तक कि इस युग की नई धारा (छायावाद) की कविता पर चल रही आलोचना-प्रत्यालोचना समाप्त नहीं हो गई।

खड़ीबोली के विरुद्ध आक्षेप और उनकी सार्थकता

इस काल में खड़ीबोली का विरोध पिछले युगों की भाँति यह कह कर नहीं किया गया कि वह काव्योपयुक्त भाषा नहीं है अथवा उसमें सफल काव्य-रचना नहीं हो सकती। इस समय उसका विरोध प्रधानतः उसके बाह्य और आन्तरिक रूपों—छन्द, अलंकार, रस, भाव आदि को लेकर हुआ। इस काल में खड़ीबोली को काव्योचित भाषा न मानने वालों में कुछ ही सज्जन

१. निराला—चाबुक, पृ० ३८

दिखाई देते हैं। इनमें से एक हैं ग्रियर्सन साहब। इस युग में जब कि खड़ीबोली उत्तरोत्तर प्रौढ़ होती जा रही थी उस समय भी वे अपने पूर्व विचार पर ही दृढ़ थे। लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, सन् १६२७ ई०, में आपने लिखा है कि परम्परा से प्राप्त कविता की 'स्पेशल' (विशेष) भाषा (ब्रजभाषा) ने जड़ पकड़ ली है और जब तक तुलसी आदि कवियों का प्रभाव पद्य-साहित्य पर बना है, तब तक उसका व्यवहार नहीं हटेगा।[1]

ग्रियर्सन महोदय की इस 'स्पेशल लंग्वेज' वाली बात का कोई ठोस आधार प्रतीत नहीं होता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वह भाषा जो किसी विशेषकाल में साहित्यिक भाषा रही है, दूसरे काल में सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक कारणों से किसी अन्य प्रगतिशील भाषा द्वारा हटाई गई है। किसी समय इंगलैंड में वेल्स की तथा फ्रांस में दक्षिणी फ्राँस की भाषाएँ प्रधान और प्रचलित थीं। पर क्या वहाँ आज भी वे ही भाषाएँ व्यवहार में हैं जो पहले थीं? यदि नहीं, तो फिर ब्रजभाषा के लिए उस समय, जब कि खड़ीबोली उसका स्थान ले चुकी थी, यह कहना कि उसकी जड़ें हिन्दी-साहित्य में इतनी दूर तक चली गई हैं कि उसका हटना सम्भव नहीं भाषाओं के वैज्ञानिक विकास एवं ह्रास के इतिहास की उपेक्षा करना

1—"Now-a-days no Hindu of Upper India dreams of writing in any Indian language except Urdu or Hindi when he is writing prose; but when he takes to verse, he instinctively adopts one of the old national dialects, such as Awadhi of Tulsidas or Brajbhakha of the blind-bard of Agra. Of late some attempts have been made to write poetry in literary Hindi, but I do not think that such attempts can have more than a small modicum of success. The tradition of a special language for poetry has taken deep root in India, and is well established. Such language is loved and easily understood by every one...so long as influence of such poets as Tulsidas prevails it will never fall into disuse."

Linguistic survey of India, vol. 1, part 1, 1927 page 166-67.

था। काव्य में खड़ीबोली की असफलता के सम्बन्ध में उन्होंने जो यह विचार यहाँ व्यक्त किया है, यही विचार सन् १८६० ई० में बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री को लिखे गए अपने पत्र में भी प्रकट किया था, जिसकी चर्चा तीसरे अध्याय में की जा चुकी है। वह समय काव्य-क्षेत्र में खड़ीबोली के प्रयोग का प्रस्तावना काल होने से क्षम्य भी हो सकता है, किन्तु सन् १६२७ ई० में जब खड़ीबोली में भावाभिव्यक्ति की पर्याप्त शक्ति आ गई थी, प्रकट किया गया उनका यह विचार, हिन्दी के विद्वानों को सन्देह में डालने वाला ही कहा जाएगा। सन् १६२५ ई० में ठा० गोपालशरणसिंह की इस प्रकार की रचनाएँ—

'कञ्ज-कलिका में नहीं सुषमा मयङ्क की है,
कोमलता कञ्ज की मयङ्क ने न पाई है।
चम्पक कली में न सुवर्ण की सुवर्णता है,
चम्पक की चारुता सुवर्ण में न आई है।
रत्न की रुचिरता में मणि की मनोज्ञता में,
एक दूसरे की प्रभा देती न दिखाई है।
सबकी निकाई सुघराई मोददाई महा,
ललित लुनाई उस 'छवि' में समाई है।'[1]

उनकी पुस्तक 'माधवी' में प्रकाशित हुई थीं। इसी पुस्तक की भूमिका में पं० गंगानाथ झा ने कवि की प्रशंसा खड़ीबोली में सफल काव्य-रचना करने के सम्बन्ध में की है।[2]

काव्य में खड़ीबोली का विस्तार और विकास किस प्रकार हो रहा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों की कतिपय उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'वह अज्ञात यौवना कलिका अब विकसित हो गई; प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दिया; चारो ओर

---

१. ठा० गोपालशरणसिंह—माधवी, १६३८ ई० पृ० ४२

2. It is creditable for the writer of these poems that he has adopted a language which is free from all the defects of what is fast becoming the literary language of Hindi writers.'

से भौंरे आकर उसे नव संदेश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायु-मंडल इधर उधर बहन करने लगा।....'[1]

(पल्लव—सुमित्रानन्दन पन्त)

'हिन्दी की बाटिका में खड़ीबोली की कविता की क्यारियाँ, जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागवानों के परिश्रम से लग चुकी थीं, आज धीरे-धीरे कलियाँ लेने लगी हैं। कहीं-कहीं किसी-किसी पेड़ के दो-चार सुमन पंखड़ियाँ भी खोलने लगे हैं। उनकी आनन्द सौरभ लोगों को खूब पसन्द आई है।'

'हिन्दी के हृदय पर खड़ीबोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।'[2]

('परिमल—'निराला')

प्रथम विचार, 'ग्रियर्सन साहब' के उक्त कथन के एक वर्ष पूर्व सन् १६२६ ई० में पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' के प्रवेश में तथा दूसरा विचार, उनके कथन के केवल दो वर्ष बाद सन् १६२६ ई० में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने 'परिमल' की भूमिका में प्रकट किया था। ये अवतरण ग्रियर्सन महोदय के उक्त कथन को कि 'खड़ीबोली में काव्य-रचना का प्रयत्न एक असफल प्रयोग है' अप्रमाणिक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। फुटकल रचनाओं को छोड़कर अब तक इस युग में 'अनाथ' (१६२२ ई०), 'वीर हमीर' (१६२३ ई०), 'अनामिका' (१६२३ ई०), 'पंचवटी' (१६२५ ई०), 'आँसू' (१६२५ ई०), 'पल्लव' (१६२६ ई०), 'वीणा' (१६२७ ई०), 'झरना' (१६२७ ई०), 'मानसी' (१६२७ ई०) आदि प्रमुख रचनाएँ पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो चुकी थीं। इनमें खड़ीबोली की भाव-व्यंजकता अपने उत्कर्ष की ओर पूर्ण रूप से अग्रसर पाई जाती है, जिनको देखते हुए किसी भी भाषा-मर्मज्ञ को यह कहने का साहस अब नहीं करना चाहिए था कि उसमें सफल सुन्दर रचनाएँ नहीं हो सकती हैं। आचार्य द्विवेदी ने तो सन् १६०७ ई० में ही ग्रियर्सन साहब को इस सम्बन्ध में अपनी राय बदल देने के लिए लिखा था कि 'अब उनको चाहिए कि अपनी राय बदल

१. पन्त—पल्लव, चतुर्थ वृत्ति, १६४२ ई०, पृ० २ (प्रवेश)

१. निराला—परिमल, पंचमावृत्ति, २००७ वि०, पृ० ६, ११ भूमिका

दें। बोलचाल की भाषा में कितनी ही अच्छी-अच्छी कविताएँ निकल चुकी हैं और बराबर निकल रही हैं।'[१]

ग्रियर्सन साहब के समान विचार रखने वाले एक दूसरे सज्जन हैं, प्रो० मुरलीधर। आपके विचार से खड़ीबोली में अभी कविता की भाषा का निर्माण ही नहीं हुआ है। आपने अपना विचार अप्रैल, १६४० ई० के 'माडर्न रिव्यू' में 'ए नेशनल लंग्वेज—हिन्दुस्तानी, उर्दू या हिन्दी?' शीर्षक से व्यक्त किया है। इसमें आपने लिखा है कि राष्ट्रभाषा में अभी कविता की भाषा बनानी है, क्योंकि कर्कश खड़ीबोली ने मधुर ब्रजभाषा को जिसे सूरादिक कवियों ने काव्य के लिए निर्मित किया था, पदच्युत कर दिया है।[२] इस सम्बन्ध में आपने 'निरालाजी' की एक कविता की इन—

भाव जो छलकें पदों पर
हों न हलके, हों न नश्वर
प्राण को निर्मल करे वह
ताप सब मेरे हरे वह।'[3] आदि

पंक्तियों का मजाक उड़ाते हुए इन्हें चूरन वालों के लटके के समान बताया है (These lines resembles very much the Churanwala bani).[४]

प्रोफेसर महोदय के इस लेख के उत्तर में 'वीणा' के सम्पादक श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' ने अपना विचार अपने पत्र के सम्पादकीय स्तम्भ से इस प्रकार व्यक्त किया है—

---

१. द्विवेदी—हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, सन् १६०७, पृ० ६३

२. Its poetic language has yet to be created, for with the acceptance of the head - splitting 'Khariboli' as the vehicle of its poetic expression it has thrown overboard the sweet speech of the muses which Surdas and others Brajbhakha poets have created.

(Modern Review, April, 1940, Page 441)

३. माडर्न रिव्यू, अप्रैल १६४० ई०, पृ० ४४१

४. वही

'हमें इस बात का खेद है कि प्रोफेसर मुरलीधरजी ने हिन्दी कविता के सम्बन्ध में एक गलत धारणा बना ली है। वे या तो हिन्दी कविता के वर्तमान प्रगति के मूल तत्त्व को नहीं समझते या उन्हें प्राचीनता से इतना प्रेम है कि वे इस युग की विशेषताओं को स्वीकार ही नहीं करना चाहते। जब वे कहते हैं कि खड़ीबोली अभी काव्य के उपयुक्त नहीं हुई है, तब हमें दूसरी बात ही पर अधिक विश्वास होता है। कोई भाषा कविता के अनुरूप कैसे बनती है? इस सिद्धान्त से तो प्रोफेसर महोदय को परिचित होना ही चाहिए। कविता के उपयुक्त भाषा का निर्माण कवि स्वयं करते हैं। तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा से भाषा को शक्ति प्रदान की और खड़ीबोली भी दिन पर दिन उसी शक्ति के निकट आ रही है।'[1]

यह स्पष्ट है कि प्रोफेसर महोदय ने कविता के नवीन क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रगति को ध्यान में नहीं रखा, इसीसे उसको उन्होंने 'चूरनवाला की बानी' कहा। हालाँकि, इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग छायावादी कविता के लिए कोई विरल नहीं था। उसको 'विवादवाद', 'प्रमादवाद', 'व्यर्थवाद', 'अज्ञातवाद', 'जड़वाद', 'मनचलावाद', 'लपोड़ों की कविता' आदि भी कहा गया है। पं० ज्वालाप्रसाद नागर 'विलक्षण' ने 'छायापथ' और पं० जगन्नारायणदेव शर्मा 'पुष्कर' ने 'पहली पकड़', 'ठहर तो नानी' आदि पुस्तकें छायावाद के विरोध में लिखी हैं। 'ठहर तो नानी' में कवि लिखता है—

'नियम रहित भाषा है तेरी
मानों कुली-कबाड़ों की
री निश्चरी! ठहर तो नानी
लौंडे और लपोड़ों की।'[2]

इससे ज्ञात होता है कि कतिपय साहित्यिकों के मतानुसार खड़ीबोली का विकास कविता के इस छायावादी-क्षेत्र में नहीं हो रहा था। पर, इन विद्वानों की यह धारणा यथार्थ नहीं थी। भले ही छायावादी कविता में कुछ

---

१. वीणा, जुलाई, १९४०, पृ० ७७८
२. पं० जगन्नारायणदेव शर्मा—ठहर तो नानी !!!, १९९३ वि० पृ० ४२

आन्तरिक दोष आ गए हों, लेकिन भाषा का रूप उसमें भली प्रकार निखरा और मँजा है। खड़ीबोली की भाषा सम्बन्धी वर्तमान उन्नति के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

'खड़ीबोली की कविता जिस रूखी-सूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ीबोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे, पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्दगति नहीं दिखाई देती थी। अभिव्यंजनावाद के कारण योरप के काव्य-क्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आई उससे खड़ीबोली की कविता की व्यंजना प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छन्दता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्यभाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है।'[1]

इसी प्रकार पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भी अपनी पुस्तक 'कवि और काव्य' में खड़ीबोली के वर्तमान उत्कर्ष को भलीभाँति दिखाया है। किसे मालूम नहीं है कि 'चित्ररेखा' (१९३५ ई०) देवपुरस्कार तथा 'सांध्यगीत' (१९३६ ई०) सेकसरिया पुरस्कार द्वारा सम्मानित की गई हैं। इसलिए अब भी यह कहना कि अभी उसमें कविता की भाषा का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ है, वस्तुस्थिति से आँख मूँद लेने के सदृश है।

काव्य-भाषा का विरोध खड़ीबोली के रूप में चल ही रहा था कि छाया-वादी कवियों की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ने कविता के भाव और छन्द में भी आमूल परिवर्तन उपस्थित किया। ब्रजभाषा के प्रशंसक विद्वानों को यह परि-वर्तन और भी क्रान्तिकारी दिखाई दिया। नवीन कवियों की इस प्रवृत्ति को वे उच्छृंखलता समझने लगे। उनका यह कहना था कि यदि इस प्रकार की कविता की बाढ़ शीघ्र न रोकी गई तो इससे हिन्दी साहित्य का महान अहित होगा। एक ही साँस में इन लोगों ने बहुत-सी बातें कहीं जो आलोचना की दृष्टि से पठनीय हैं। कतिपय विद्वानों के कथन यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

'जैसे अनेक आधिव्याधि के होते हुए भी संसार की जनसंख्या बढ़ती

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, भाग २, २००२ वि०, पृ० २३२, २३३

चली जा रही है, ठीक उसी प्रकार कविता का बाजार दिन दूना रात चौगुना गर्म होता चला जा रहा है। जिस पत्र-पत्रिकाओं में देखिए कविता जरूर मिलेगी। कहीं-कहीं तो मनमानी घरजानी भरमार रहती है। कविता के रणांगण में नित्य नये आशुकवि कमर कसे कूदते चले आ रहे हैं। भाषा भवानी ने अद्भुत और विकराल रूप धारण कर लिया है। भावों की भीषण हत्या हो रही है। उपमा और उक्तियों में बीभत्स रस नजर आ रहा है। तुक का हिसाब तो कभी का चुक गया। कविता कामिनी का कोमल कलेवर कैसे कल्पना-कंटकाकीर्ण-कुमार्ग में घसीटा गया है! हा! यह दुर्गति देखकर आँखों में आँसू भर आते हैं।'[1]

'कविता इधर से उधर लतियाई जा रही है।''' चट से कविता लिखी और पट से पत्रों में छपा दी। चारो ओर से 'धन्य-धन्य' की ध्वनि गूँज उठी और कविराज भी फूलकर कुप्पा हो गए।'[2]

''मन गढ़ंत साँचो में ढले हुए इन रँगरूटों की बाढ़ समय पर यदि न रोकी जायगी तो हमारा साहित्य न केवल गंदा ही वरन् मृतप्राय हो जायगा।...ये साहित्य-हत्यारे हिन्दी का जैसा गला घोंट रहे हैं, वह किसी से छिपा नहीं है। क्या शब्दों के उपयोग में, क्या शैली के गढ़न्त में क्या विषय के विचार में दिन दहाड़े घरजानी मरजानी हो रही है।'[3]

—श्री वियोगीहरि

एक सज्जन, जिन्होंने अपना पूरा नाम न देकर केवल 'त्रि०' लिखा है, 'सरस्वती' जुलाई १६२६ में लिखते हैं—

'पद्य-रचना के क्षेत्र में जब तक ब्रजभाषा का आधिपत्य था, तब तक छन्दशास्त्र भी था, व्याकरण, रस और अलंकार भी थे। किन्तु खड़ी-बोली का प्राधान्य होते ही एक गदर सा मच गया, एक तूफान सा आ

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अंक ६, सं० १६७८, पृ० १२५
२. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६ अंक ६ संवत् १६७८, पृ० १३८
३. सम्मेलन पत्रिका, भाग १०, अंक १, संवत् १६७६ वि०, पृ० १४

गया, न व्याकरण की कदर रह गई न छन्दशास्त्र और अलंकारशास्त्र की जरूरत ही समझी गई।

'अब जिसका जैसा बोलने का जी चाहता है वह वैसा ही बोल उठता है। बरसात के दिनों में किसी सरोवर में मण्डूक-मण्डली जैसा कोलाहल मचाती है, ठीक वैसी ही दशा इस समय हिन्दी-कविता में हो रही है। जिसे न व्याकरण का बोध है, न छन्दशास्त्र का ज्ञान है, न रस और रीति से परिचय है और न भाषा पर जिसका अधिकार है, वह भी कवि-शिरोमणि, कविरत्न, कविसम्राट्, कविवर आदि उपाधियों से लदा हुआ अपनी टूटी-फूटी तुकबन्दी के बेसुरे आलाप से आसमान सिर पर उठाये हुए हैं। सैकड़ों हजारों कवि सम्राट् एक साथ बोल रहे हैं, कोई किसी की सुनता नहीं।....कहने का तात्पर्य यह कि आजकल हिन्दी की कविता में जो उच्छृंखलता फैल रही है उसकी कुछ रोक होनी चाहिए।'[1]

इन्हीं भावनाओं को श्री पद्मसिंह शर्मा ने भी षष्ठ 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन', मुरादाबाद, सम्वत् १९८६ वि० में सभापति की हैसियत से दिए गए अपने भाषण में प्रकट किया है। निष्कर्ष रूप में उन्होंने कहा है कि 'कविता के नाम से जो बहुत सा कूड़ा-करकट हिन्दी में इकट्ठा होता जा रहा है, इसकी बाढ़ को रोकने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।'[2] इस सम्बन्ध में हास्याचार्य पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'हिन्दी-कविता' पर अपनी एक रचना 'वीणा' अप्रैल, १९३४ में प्रकाशित कराई है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'कहा कहौं, कैसे कहौं, समुझि परत कछु नाहिं।
मौन रहे हू बनत नहिं, असमंजस मन माँहि॥
टूटी-टाटी बीन है फूटो सो है ढोल।
बजत बाँसुरी बेसुरी अन्तस्तल में पोल॥
कोयल को सो कंठ नहिं नहीं सुरीली तान।

---

१. सरस्वती, भाग २७, खंड २, संख्या १, जुलाई १९२६, पृ० ८१-८४

२. पं० पद्मसिंह शर्मा—पद्मपराग, भाग १, सम्वत् १९८६ वि०, पृ० ३२५

ज्ञात नहीं सुरताल है नाच कूद औ गान ॥
व्याकरनहु बन्दी बन्यो छन्द गयो है छूट ।
पिंगल की नहिं पूछ है, अलंकार सों फूट ॥
'कंज', 'मंजु,' 'मंजुल', 'रसिक', नहिं 'मधुकर' को चाव ।
अब तो कवि 'कंटक' बने हैं 'बेढव' 'बेताव' ॥
कलपति कविता कामिनी भूसन-वसन-विहीन ।
कविगन कल्पित-कष्ट तें बनत दुखी अति दीन ॥'[1]

इतना ही नहीं, खड़ीबोली का विरोध कभी-कभी 'विज्ञापनों' में भी देखने को मिलता है । इस प्रकार का एक विज्ञापन 'माधुरी' २४ मार्च, १६२३ ई० में इस प्रकार छपा था—

'......खड़ीबोली की कविता की टोली में अब तो ठठोली-सी होती मालूम पड़ती है । अतः यदि ब्रजभाषा की सरस, सुमधुर सालंकार कविता सुनने का शौक है तो नीचे लिखे ग्रंथ मँगाइए—

१. कविप्रिया—केशवदास
२. रसिक प्रिया—केशवदास
३. रसराज—मतिराम
४. छन्दार्णव पिंगल—भिखारीदास

मिलने का पता—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ।'[2]

ऊपर की इन पँक्तियों में प्रधान रूप से दो बातें दिखाई देती हैं (१) खड़ीबोली के कवियों की कुत्सा तथा (२) प्राचीनता के प्रति मोह और नवीनता से विरोध की भावना । इन दोनों बातों पर थोड़ा विचार यहाँ उचित है ।

खड़ीबोली काव्य-भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी, इसलिए भली हो या बुरी अब वह हमारी काव्य-भाषा थी । उसी को उन्नत और पुष्ट करना हमारा कर्तव्य था । पक्षपात के कारण दूसरों की प्रतिभा को न

---

१. वीणा, वर्ष ७, अंक ६, अप्रैल १६३४, पृ० ४५०
२. माधुरी, वर्ष १, खंड २, संख्या ३, २४ मार्च, १६२३
[अंक के पीठ पर उद्धृत]

देखने वाले, एवं समालोचना के नाम पर खड़ीबोली में रचना करने वालों की कुत्सा करने वाले स्वयं निन्दा के पात्र थे। इस प्रकार के आक्षेपों को खड़ीबोली की आलोचना न कहकर उनको उसके विरोधियों के आवेशपूर्ण कथन कहना ही विशेष उपयुक्त होगा। श्री वियोगीहरि जी का यह कथन कि 'ये साहित्य-हत्यारे हिन्दी का जैसा गला घोंट रहे हैं, वह किसी से छिपा नहीं हैं', तथा 'त्रि०' महोदय का खड़ीबोली के कवियों की 'मंडूक-मंडली' से उपमा देना कहाँ तक संगत और मर्यादित था? इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि खड़ीबोली में उस समय असुन्दर रचनाएँ हो रही थीं। खड़ीबोली में रचना करने वाले सब कवि काव्य-मर्मज्ञ भी न थे। पर, इस प्रकार के अपवाद से कोई भाषा किसी भी काल में बचती नहीं। इसी सत्य की ओर खड़ीबोली के विरोधियों का ध्यान आकर्षित करते हुए बाबू गोवर्द्धन लाल एम० ए० ने लिखा था कि 'आज ब्रजभाषा में भी जितनी रचनाएँ हुआ करती हैं, जितनी कविताएँ कवि-सम्मेलनों में पढ़ी जाती हैं और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करती हैं, उनमें से फी सैकड़े कितनी वस्तुतः कविता कहलाने के योग्य हैं?'[1] यह सर्वमान्य नियम है कि अच्छी व बुरी कविता प्रत्येक भाषा में पाई जाती है। इसके लिए खड़ीबोली अपवाद स्वरूप नहीं थी। फिर उसके कवियों की इस प्रकार बुराई करना उचित नहीं था।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि इस प्रकार के अमर्यादित शब्दों का प्रयोग केवल ब्रजभाषा के प्रशंसकों द्वारा ही हुआ है। खड़ीबोली के प्रशंसकों ने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया है। जैसे बाबू गोवर्द्धनलाल, एम० ए० ने 'सुधा' अप्रैल, १९२९ ई० में ब्रजभाषा तथा उसके कवियों के लिए लिखा कि—

> 'जो भाषा मूर्खता और तुच्छता को छिपाकर विद्वान बनने में सहायता करे, वह अवश्य प्रशंसनीय है! जिस भाषा के द्वारा सहज ही जनता ठगी जा सके, और जिसके द्वारा सहज ही कवि होने का सर्टिफिकेट हासिल किया जा सके, उसके लिए जरूर ही जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। एक बात और। हिन्दी में कविता करने के लिए किंचित मौलिकता की आवश्यकता होती है। परन्तु ब्रजभाषा में तो इसकी कोई जरूरत ही नहीं। वहाँ तो पुराने कवियों के अपरिमित भाव मौजूद हैं

---

१. सुधा, वर्ष २, खंड २, संख्या ३, अप्रैल १९२९ ई०, पृ० २६६

उनको वहाँ से लेकर उसमें अपना पैवंद साँटकर या उनका रूप विकृत कर जनता के सामने उपस्थित कर दो, और महाकवि की उपाधि हासिल कर लो।"[1]

दूसरी बात जो खड़ीबोली के विरोधियों के उन कथनों में पाई जाती है, वह है उनका प्राचीनता के प्रति मोह तथा नवीनता के प्रति विरोध की भावना। यहाँ जो विशेष ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि इस काल में यह विरोध एकमात्र काव्यभाषा (खड़ीबोली) के प्रति नहीं रह गया था। असल में अब यह विरोध अधिकाँशतः छायावादी कविता को लेकर हुआ। यदि यह छायावादी कविता उस समय खड़ीबोली में न होकर किसी अन्य भाषा में हुई होती तब उस भाषा का विरोध भी उतना ही तीव्र होता जितना कि खड़ीबोली का हुआ। इसे तो एक संयोग ही कहना चाहिए कि जिस काव्यभाषा (खड़ीबोली) के लिए विरोध पहले से ही चला आ रहा था उसी भाषा में व्यक्त अब इस नवीन काव्य-शैली (छायावाद) का विरोध भी सम्मिलित हो गया।

नवीनता की ओर आकर्षित होना मनुष्य का सहज स्वभाव है, पर समाज में उसके विरोधियों की कमी भी नहीं होती। यही कारण है कि समाज में दो दल देखे जाते हैं। एक दल तो नवीनता का विशेष पोषक होता है, और दूसरा उसका आंशिक अनुमोदन करता हुआ भी प्राचीन परम्परा और संस्कृति आदि की दुहाई देकर उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने का विरोधी। यह दल नवीनता की ओर बढ़ने वालों की उपेक्षा करता और उसे विद्रोही घोषित करता है। भाषा और साहित्य भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं हैं। हिन्दी साहित्य में भी 'नवीनता' का विरोध समय-समय पर किया गया है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं कि 'एक दिन ब्रजभाषा के समर्थकों ने द्विवेदी युग (खड़ीबोली) का विरोध किया था, द्विवेदी युग ने छायावाद का और आज छायावाद प्रगति को दुर्गति समझ रहा है।'[2] इसलिए यदि हम उक्त विरोधों में प्राचीनता के प्रेमियों को यह कहते हुए पाते हैं कि 'कविता इधर से उधर लतियाई जा रही है' अथवा 'कविता के नाम से जो बहुत सा कूड़ा-करकट हिन्दी में इकट्ठा होता जा रहा है, इसकी बाढ़

१. सुधा, वर्ष २, खंड २, संख्या ३, अप्रैल १६२६, पृ० २६३
२. शांतिप्रिय द्विवेदी—युग और साहित्य, १६४१ ई०, पृ० १६८

को रोकने में प्रयत्नशील होना चाहिए' आदि तो आश्चर्य नहीं होता। प्रगतिशील वर्ग इन्हीं विरोधों के बीच से उनकी रंचमात्र भी परवाह न करता हुआ आगे बढ़ता है और अपना मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

यदि इस छायावादी युग में केवल भाव के ही क्षेत्र में परिवर्तन हुआ होता तो इन अपरिवर्तनवादियों को यह बात उतनी न खटकती और न इतना शोर-गुल ही मचता। इस समय तो भाषा, भाव, छन्द, रस, रीति, अलंकार आदि सब में परिवर्तन दिखलाई दे रहा था। हिन्दी-कविता के इसी कायाकल्प को देखकर वे कह रहे थे कि उसमें तो 'गदर-सा मच गया है', 'दिन-दहाड़े घरजानी-मरजानी हो रही है' और वह 'कल्पना-कंटकाकीर्ण-कुमार्ग' में घसीटी जा रही है। इन लोगों के विचार से कविता के भाव और रूप दोनों में एक साथ परिवर्तन होना अनुचित था। इस सम्बन्ध में पं० पद्मसिंह शर्मा ने मौलाना हाली के विचार[1] की ओर संकेत करते हुए कहा था कि 'हमारे हिन्दी के कवियों की मति गति बिलकुल निराली है, वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिये भी बदल रहे हैं। अपने अद्‌भुत छकड़े में पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गन्तव्य पथ पर पहुँचना चाहते हैं।···भाषा, भाव और रीति में एकदम अराजकता की घोषणा की जा रही है। इससे कविता का सुधार नहीं संहार हो रहा है।'[2]

किन्तु, नवीनतावादी कवियों के मतानुसार नूतन विचारों के साथ खड़ी-बोली का प्रयोग आवश्यक होगया था। पं० रामनारायण चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'ब्रजभाषा की आशा' में लिखा कि—

१. मौलाना हाली का विचार, जिसे उन्होंने 'दिवान-हाली' की भूमिका में प्रकट किया है—

'यह मुमकिन है कि किसी कौम के ख्यालात में दफातन् एक नुमायां तरक्की और वसअत (विचारों में सहसा परिवर्तन और विकास) पैदा हो जाय मगर ज़बान में (भाषा में) दफातन् वसअत पैदा नहीं हो सकती, बल्कि नामालूम तौर पर बयान के उसलूब (कहने के ढंग) आहिस्ता-आहिस्ता इजाफा किये जाते हैं।'

पद्मपराग, भाग १, सं० १९८६ वि०, पृ० ३३८, ३३९

२. पद्मसिंह शर्मा—पद्मपराग, भाग १, सं० १९८६ वि०, पृ० ३४१, ३४२

'ज्यों-ज्यों लोग ज्ञान और सभ्यता में उन्नति करते हैं, उनके विचारों और भावों में नूतनता आती है। इन भावों को प्रकट करने वाले शब्दों में भी नवीनता अनिवार्य हो जाती है। इसी कारण परिवर्तित परिस्थितियों में एक शब्द का अनादर और दूसरे का आदर होने लगता है। अंग्रेज़ी सम्पर्क के बाद हमारे समाज में जिन नूतन विचारों और भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी वे ब्रजभाषा की क्रियाओं और शब्दों के अनुकूल न होकर अधिकांश में खड़ीबोली के अनुकूल हुए। ऐसी अवस्था में हमें खड़ीबोली का विरोध करने की आवश्यकता नहीं।'[1]

इसी विचार को पंतजी ने 'पल्लव' की भूमिका में यह कह कर प्रकट किया कि 'नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी'[2] ले आता है। इसी प्रकार इन प्राचीनता के पोषकों के लिए, जो पुरानी भाषा और परिपाटी को सदैव अक्षुण्ण देखना चाहते हैं, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने लिखा कि 'चिरकाल से एक ही समाज के चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गई है, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रखी जाती है तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दोहाई देकर उसे देश निकालने पर तुल जाते हैं।'[3] अतः काव्य में भाव और भाषा का यह मेल वांछनीय था। अब जब कि वह राष्ट्रभाषा के उच्च पद पर बैठने जा रही थी और देश-जाति की अनन्त वाणी उसमें मुखरित होती तब ऐसे समय में उसको व्यर्थ के वितंडावाद से नीचा दिखाने का विद्वानों का प्रयत्न हानिकर था। यह सहज सत्य भी है कि हमारी विचारधारा के परिवर्तन के साथ-साथ उसको प्रभावित करने वाले साधनों में भी हेर-फेर होता है। दूसरे हमारी उन्नति भी अब उसी पर निर्भर थी। 'हरिऔधजी' ने ठीक लिखा था कि 'खड़ीबोली के पद्यों में कवितागत कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, किन्तु वह इसलिए आदरणीय है कि उसने देश और जाति के रोग को पहिचाना है और उसकी चिकित्सा में लग्न है।'[4]

१. पं० रामनारायण चतुर्वेदी—ब्रजभाषा की आशा, १९३५ ई०, पृ० ४२
२. पंत—पल्लव, १९४२ ई०, पृ० १६ (प्रवेश)
३. निराला—चाबुक, पृ० ४६
४. हरिऔध—संदर्भ-सर्वस्व, १९४३ ई०, पृ० १६०

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने भी उसकी सामयिक आवश्यकता पर एक पद्य-बद्ध रचना 'माधुरी', १६८२ वि० में प्रकाशित कराई थी, जिसकी कुछ पँक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'तो अब आजा, अरी खड़ीबोली, तू आ जा,
कड़ी क्यों न हो—नहीं, पड़ीबोली, तू आ जा।
कठिन काल में हमें कठिन ही होना होगा,
रगड़-रगड़ कर मैल मोह का धोना होगा।

\+ + + +

है सचमुच तू खड़ी आप, तो हमें खड़ाकर,
व्यापक है, तो हमें बढ़ा तू और बड़ा कर।

\+ + + +

है तेरा कर्तव्य कठिन, यह भूल न जाना,
करना तोड़-मरोड़ न तू, निज नियम निभाना।
तुझे पद्य-रचना न कपोलों पर करनी है,
जीवन-रण में आज यहाँ तेरी बरनी है।
तेरे चित्रित चारु चित्र में चरित्रता हो,
नायक हो मनुजत्व, नायिका पवित्रता हो।
समझ झोपड़ों को न कभी कम राजभवन से,
कृषकों का हित सिद्ध किया कर तन से मन से।

\+ + + +

शुचि, स्निग्ध, गम्भीर गान सुनकर, हाँ तेरा,
आत्मभाव जग उठे, मोह का मिटे अँधेरा।।'[1]

हमारा गौरव, अब प्राचीनता के प्रति मोह तथा अहंकार को छोड़कर खड़ीबोली में रचना करके उसकी श्रीवृद्धि करने में था। ब्रजभाषा के समर्थकों की इस भाँति पक्षपातपूर्ण मनमानी आलोचना, उस अवस्था में जब कि हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता के लिए 'उर्दू' भी उसके दरवाजे पर खड़ी थी, उचित और सार्थक नहीं थी।

---

१. माधुरी, वर्ष ४, खंड १, संख्या ५, सम्वत् १६८२ वि०, पृ० ६०३

ब्रजभाषा का विरोध

ब्रजभाषा का विरोध जो इस काल में किया गया उसमें न तो कोई नवीन दृष्टिकोण ही था, और न उसका कोई साहित्यिक महत्व ही ! ब्रजभाषा के कुछ इने-गिने प्रशंसक अवश्य थे जो उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे और अब भी काव्यभाषा के लिए वे उसी को उपयुक्त घोषित कर रहे थे। परन्तु उनका प्रभाव नगण्य था। ऐसे काव्य-मर्मज्ञ जो अब भी उसके सच्चे पुजारी थे, और उसके कोष को अपनी रचनाओं द्वारा भर रहे थे, जैसे 'रत्नाकर', श्री दुलारेलाल भार्गव आदि वे अपने को खड़ीबोली का विरोधी नहीं स्वीकार कर रहे थे। उनका यह स्पष्ट कथन था कि 'भविष्य में इस कविता का ही सौभाग्योदय होने वाला है। जगन्नियन्ता जगदीश्वर ने हमारे भविष्य जीवन के लिए जो पथ निर्धारित कर दिया है उसी पर हमको चलना पड़ेगा और उसी में हमारा कल्याण भी है'[1]—'रत्नाकर'। इसलिए ब्रजभाषा के विरोध तथा बहिष्कार की आवश्यकता सचमुच अब नहीं रह गई थी। यदि कुछ कवि उसमें अब भी रचना कर रहे थे तो उससे खड़ीबोली की किसी प्रकार की हानि भी नहीं थी। ब्रजभाषा की बुराई किए बिना भी खड़ीबोली अपनी अच्छाई तथा प्रगतिशील भावना को प्रकट कर सकती थी, किन्तु ब्रजभाषा की आलोचना ने नाम पर खड़ीबोली के विद्वानों ने जिस प्रकार उस पर कीचड़ उछाला तथा उसके प्राचीन कवियों की निन्दा की वह उचित नहीं था। निम्नलिखित उनके विरोध मर्यादित नहीं कहे जा सकते—

> 'इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुन्डेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता है।'[2]
>
> —मार्कण्डे वाजपेयी, एम० ए०

> 'इन कवियों के पास शब्दों और अलंकारों के अतिरिक्त कुछ नहीं। ......इनका सारा संसार बाजीगर का खेल है। ऐसी कविताओं को

---

१. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, २० वाँ अधिवेशन, कार्य विवरण, सन् १९३१ ई०, पृ० २९

२. वीणा, वर्ष ८, अङ्क ११, सितम्बर १९३५ ई०, पृ० ८९२

कविता न कहकर 'भटैती' कहना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।'[1]

—कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर'
(सम्पादक—वीणा)

'……दुर्भाग्य देखिए कि उनकी कूप-मण्डूकता कितनी लम्बी अवधि तक बनी रही।…सभी की प्रतिभा केवल कच-कुच-कटाक्षों तक ही सीमित रही। सूरदास तक ने अपने समस्त ज्ञान का सदुपयोग अधिकांशतः राधा और कृष्ण की जोड़ी का वर्णन करने में ही कर डाला।… बात खलेगी, ब्रजभाषा के हिमायतियों को, परन्तु सच्ची बात है यह कि ब्रजभाषा में आज जो कुछ भी है, उसका अधिकाँश है कविताबद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।'[2]

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र
(सम्पादक—'विश्वमित्र')

ब्रजभाषा तथा उसके प्राचीन कवियों को इस प्रकार कलंकित करना अवश्य बड़े दुख की बात थी। इस निन्दात्मक प्रवृत्ति के विरोध में 'हरिऔध' ने 'सन्दर्भ-सर्वस्व' में खड़ीबोली के अनुरागियों से बड़े मार्मिक शब्दों में निवेदन करते हुए इस प्रकार लिखा है कि 'उनके गुरुपद पर प्रहार न करें… बिना उनकी अयोग्यता प्रकट किए भी हम योग्य और बिना किसी माननी की अवमानना किए भी हम मान्य हो सकते हैं।'[3] इसी प्रकार पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' में एक काल्पनिक वार्तालाप रीतिकाव्य पर 'मतिराम ग्रन्थावली' को लेकर वृद्ध पण्डितों और नवीन साहित्यिकों में कराया है। इसमें वृद्ध पण्डितों द्वारा यह प्रार्थना कराई गई है कि नवीन साहित्यिक ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों का अदब करना सीखें—

'मगर एक इल्तमश इन नौजवानों से मैं करता हूँ।
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गों का अदब सीखें।'[4]

---

१. वीणा, वर्ष ४, अङ्क १, नवम्बर, १९३०, पृ० ७४
२. विश्वमित्र, वर्ष ५, खण्ड ६, अङ्क १, अक्टूबर, १९३६ ई०, पृ० ११०, १११
३. हरिऔध—संदर्भ सर्वस्व, १९४२ ई०, पृ० १६६, १६७
४. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हमारी साहित्यिक समस्याएँ, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२

निःसन्देह प्राचीन कवि हमारे श्रद्धा के पात्र हैं। ब्रजभाषा के अर्वाचीन कवियों की तो हम उल्टी-सीधी आलोचना कर भी सकते हैं, पर प्राचीन-कवियों की कुत्सा करना उनकी कविता को 'भटैती' और 'कविताबद्ध-कोक-शास्त्र' कहना अपनी ही साहित्यिक अनभिज्ञता को प्रकट करना है। ब्रजभाषा देवी के समान हमारी आराध्य है। यह सत्य है कि आज के कार्य-कलाप का समावेश उसमें नहीं हो सकता और उसको काव्य में बनाए रखने का प्रयास समय की गति के विपरीत है। पर क्या उसके लिए ब्रजभाषा के प्राचीन कवि ही दोषी हैं? यदि नहीं, तो उसके सामयिक उपयोग की आवश्यकता न होते हुए भी वह पूजनीया है। यदि प्राचीन ब्रजभाषा की कविता में शृंगारिकता का आधिक्य है तो यह भी जानना जरूरी है कि इसमें ब्रजभाषा तथा उसके कवियों का कितना दोष है? वियोगी हरि के शब्दों में 'दोष तो है उस बेफिक्री के जमाने की' जिसमें इस प्रकार की कविता को प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला 'आज जैसे डंडे पड़ते तो हाय-हाय की कविता लिखने में वे भी दक्षता दिखाते।'[1] पं० सुमित्रानंदन पन्त ने भी 'पल्लव' की भूमिका में इसी विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'वह सुख सम्पन्न भारत के हृदतंत्री की झंकार है''''देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक शान्ति ही ब्रजभाषा के रूप में बदल गई है।'[2] साहित्यिक तथा जातीय जीवन के लिए भी प्राचीनता का अपमान वांछित नहीं होता, वरन् उसकी रक्षा और उसका गौरव ही किसी साहित्य और जाति को दीर्घकाल तक जीवित रख सकता है। इसीलिए 'प्राचीन साहित्य का अर्वाचीन साहित्य से कहीं अधिक आदर होता है। 'चासर', 'फिरदौसी', अवज्ञा के नहीं अपितु पूजा के पात्र समझे जाते हैं'[3]—'रत्नाकर'।

द्विवेदी युग तक, ब्रजभाषा का विरोध प्रधान रूप से उसकी असामयिकता, दुरूहता और बोलचाल की प्रचलित भाषा से पृथकता के कारण होता रहा। इससे विशेष साहित्यिक हानि नहीं थी। छायावादी युग में जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है उस पर हीनता, संकीर्णता, अश्लीलता, अशुद्धता आदि का भी दोषारोपण किया गया और उसके कवियों को 'कूपमंडूक' 'भांट' आदि भी

---

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, सम्वत् १९७८, पृ० १२६

२. पन्त—पल्लव, १९४२ ई०, पृ० ३ (प्रवेश)

३. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, २० वें अधिवेशन का कार्य विवरण, १९३१ ई०, पृ० २८

बनाया गया। यदि खड़ीबोली के विद्वानों ने, ब्रजभाषा को सर्वथा घृणित बताने तथा उसके कवियों को गाली देने के अतिरिक्त, अपने घर का कूड़ा-कचरा और तत्परता से साफ किया होता तो हिन्दी-साहित्य को अधिक लाभ पहुँचता, क्योंकि खड़ीबोली के प्रचार में ब्रजभाषा अब बाधक नहीं थी। समय खड़ीबोली के अनुकूल था। उसकी प्रगति को रोकना ब्रजभाषा के इन गिने-चुने प्रशंसकों की शक्ति के बाहर की बात थी। जहाँ ब्रजभाषा का विरोध आवश्यक होता, वहाँ बिना किसी का हृदय व्यथित किए उसका संयत विरोध इस प्रकार हो सकता था—

'बजत नाहिं अब और चैन की बंशी घर-घर,
भय-विषाद सों भरो हियो काँपत है थर-थर।
वह पराग को पुंज, मदन-ध्वज-पट न उड़त है,
धुआँधार यह देख कौन को जीव जुड़त है?
× × ×
तेरो कोमल कंठ सहैगो यह सब कैसे?
× × ×
रूखी-सूखी तोहिं रुचेगी का ये बातें?
या असान्ति, या क्रान्तिकाल की घन-सी घातें!
× × ×
जो तेरी या बहन खड़ी है तेरे आगे,
दै याको आसीस और का अब हम माँगें?
× × ×
तैं सिंगारी गई सुकवियन ते है जैसे,
अब याहू को भाग-भगवती जागैं तैसें।'[1]

—बाबू मैथिलीशरण गुप्त

इसके उपरान्त ब्रजभाषा की भाषा-शैली, विषय, शृंगारिकता, वीर रस तथा नवीन-प्रकाशनों पर जो आक्षेप किए गए हैं, उन पर भी अलग-अलग प्रकाश डालना उचित है।

[क] भाषा-शैली

खड़ीबोली की व्यापकता तथा सामयिक उपयोगिता सबकी समझ में आ

---

१. माधुरी, वर्ष ४, खंड १, संख्या ५, सं० १९८२ वि०, पृ० ६०२, ६०३

गई थी। उत्तरोत्तर उसमें काव्यत्व का अच्छा विकास भी होने लगा था। परन्तु, ब्रजभाषा के समर्थक विद्वान कला की दृष्टि से अब भी ब्रजभाषा को खड़ीबोली से श्रेष्ठ समझ रहे थे। इसीसे वे काव्यक्षेत्र से ब्रजभाषा के निष्कासन से यह डर रहे थे कि कहीं ऐसा न हो कि इस क्रान्ति के आवेश में 'शताब्दियों के साहित्यिक परिशीलन से हमने ब्रजभाषा या अवधी में जो मधुरता, प्रसाद, ओजस्विता आदि गुणों का संग्रह किया है····उसे नष्ट कर दें'[1]—'रत्नाकर'। जहाँ तक काव्य-भाषा में माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुण लाने का उनका आग्रह था, वहाँ तक तो यह ठीक था, किन्तु जब वे प्राचीन परिपाटी के अनुसार उसको अलंकार से युक्त भी देखने का हठ करते थे और उसके विपरीत खड़ीबोली के कवियों का यह विचार सुनते थे कि—

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।'[2]

तब वे खड़ीबोली के नवयुवक कवियों को कहते थे कि 'ये कविता-कामिनी के भूषणों और अलंकारों का अपहरण करने वाले डाकू हैं। ये उसके शोभा-सौंदर्य को नष्ट करने वाले निर्बुद्ध-हत्यारे हैं ।.. ये निर्दय-अत्याचारी उसको वस्त्र-विहीन (ब्रजभाषा से रहित) तक कर डालने पर तुले हुए हैं।...कविता-कामिनी के कोमल अंगों पर आघात करने वाले हृदय-हीन व्याध हैं'[3]—'गोवर्द्धनलाल'।

ब्रजभाषा के कवियों का इस प्रकार का विरोध अनुदार था। उनकी दृष्टि संकुचित थी। जिस काव्य-कला तथा अलंकार प्रस्फुटन को वे प्रश्रय देना चाह रहे थे, उन्हीं गुणों ने ब्रजभाषा को साहित्य के संकीर्ण और परिमित क्षेत्र में जकड़ दिया था। इसीसे उसके विकास में गतिशून्यता आ गई थी। उसके कितने अलंकार और प्रतीक समय के आवर्त में पड़कर निष्प्राण बन चुके थे। उनमें हृदय को प्रभावित करने की शक्ति भी अब नहीं रह गई थी। इसलिए अलंकारों की रूढ़ियों से दबी भाषा की, जिसमें हमारी स्वस्थ वाणी सुनाई न पड़े, अब आवश्यकता नहीं थी। अब तो हमें आवश्यकता ऐसी आडम्बर रहित भाषा और शैली की थी, जो 'हमारे हर्ष-रुदन, विजय-परा-

१. बीसवाँ साहित्य सम्मेलन, कार्य विवरण, १९३१, पृ० २८
२. सुमित्रानंदन पंत-आधुनिक कवि, भाग २, २००१ वि०, पृ० १०१
३. सुधा, वर्ष २, खंड २, संख्या ४, मई १९२९ ई०, पृ० ३६४

भव, चीत्कार-किलकार, सन्धि-संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके'[१] —'पन्त'। लेकिन ब्रजभाषा के कवि उसके वाह्य रूप-राशि पर इस भाँति मुग्ध थे कि समय की परिवर्तित रुचि की ओर उनका ध्यान ही न था। कोई भी विद्वान समय की रुचि की अवज्ञा तथा उपेक्षा नहीं कर सकता। हमारे साहित्य पर अंग्रेज़ी तथा बंगला का खूब प्रभाव पड़ रहा था। अतः प्राचीन काव्य-कला का आदर्श आधुनिक कवियों को बंधन सा दिखाई दिया। उन्होंने अंग्रेजी काव्य-साहित्य के काव्यालंकारों—मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय तथा ध्वन्यर्थ-व्यजना को जिसके द्वारा काव्य में बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना की उद्‌भावना हुई ग्रहण किया। दूसरे, भगवती वीणापाणि की वीणा से वही पुराना राग सुनते-सुनते लोगों के कान थक भी गए थे। उनको यह नवीन झंकार बड़ी सुखद मालूम हुई। अतः उसका स्वागत किया। ब्रजभाषा के विद्वान इसका कुछ उल्टा ही अर्थ लगा रहे थे। उनका कहना था कि 'अब खड़ीबोली की खड़खड़ाहट में परुषावृत्ति के अधीन अलंकार न जम सके, तो उनका अड्डा हिन्दी-क्षेत्र से ही निकालना चाहिए....ये तो खट्टे अंगूर हैं'[२]—चतुर्वेदी उमरावसिंह।

खड़ीबोली के कवि उनकी इस प्रकार की युक्ति को 'औंधी' और परख को 'उल्टी' बता रहे थे। श्री गोवर्द्धनलाल ने ब्रजभाषा के कवियों की इस बाह्य साज-सज्जा वाली प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखा कि 'नटों की तरह उनके शब्द रूपी रस्सी पर झूलने की शक्ति, तथा नटों की तरह उनके भाँति-भाँति के बुद्धि को चक्कर में डालने वाले खेल को देखकर आश्चर्य प्रकट कर सकते हैं, परन्तु वे हमारे हृदय को काबू नहीं कर सकते।.... सदा अलंकार पूर्ण भाषा का सहारा लेने से कविता भी बीमार पड़ जाती है ...उसमें कोई सार और स्वाभाविकता, सन्तप्त प्राणों को त्राण देने की शक्ति-शेष नहीं रह जाती।'[३] इसी भावना को श्रीकालिकाप्रसाद दीक्षित ने 'वीणा' मार्च १६३२ ई० में तथा पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने 'सरस्वती' दिसम्बर, १६३३ ई० में व्यक्त किया।

ब्रजभाषा के कवि जिस रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति आदि को काव्य-कला की कसौटी मान रहे थे, उस पर यदि उन्हीं की रचनाओं को कसा

१. सुमित्रानंदन पंत—पल्लव, १६४२ ई०, पृ० १२, १३ (प्रवेश)
२. माधुरी, वर्ष ८, खंड २, संख्या ६, स० १६८७ वि०, पृ० ७६७
३. सुधा, वर्ष २, खंड २, संख्या ४, मई १६२६ ई० पृ० ५०३, ५०४

जाए, तो इस वर्तमान काल की सौ वर्ष की अवधि में केवल दो तीन कवियों—'भारतेंदु', 'रत्नाकर', सत्यनारायण 'कविरत्न' की रचनाएँ ही खरी उतर सकती हैं। अन्यथा उसमें काव्य-कला का पूर्व सौन्दर्य लाना अब साधारण अध्यवसायी कवि के बस की बात नहीं रह गई है। इसका कारण यह है कि भाषा और शैली का भी जीवन और आदर्श होता है जो परिवर्तनशील है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के विचार से भाषाओं के भी आत्मा होती है जो ठोंक-पीटकर सब समय काम में नहीं लाई जा सकती।[1] काव्य-कला का भी आदर्श, भाषा और समय की रुचि के साथ बदलता रहता है। इसलिए ब्रजभाषा के कवियों का यह भय कि यदि खड़ीबोली में प्राचीन परिपाटी के अनुसार रस, अलंकार, वक्रोक्ति आदि की उपेक्षा की गई तो हिन्दी के हित की हानि होगी, ठीक नहीं था। हित तो अब नूतनता की ओर झुकने और नई काव्य-कला को ग्रहण करने में ही था, जिसे खड़ीबोली के कवि कर रहे थे।

[ख] विषय

ब्रजभाषा के भाव-पक्ष को लेकर जो विरोध प्रकट किया गया, उसमें प्रधानरूप से यही कहा गया कि ब्रजभाषा का क्षेत्र संकुचित है; 'उसका वक्ष-स्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पच्छिमी गोलार्द्ध सब कुछ समा सके'[2]—'पन्त', तथा 'आज भी विश्व-विज्ञान तथा राष्ट्र की मैत्री के लिए वह तैयार नहीं'[3]—'निराला'। निःसंदेह, आज २० वीं शताब्दी में जब कि मध्यकालीन सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचा टूट चुका है और हम एक क्रान्तिकाल से निकल रहे हैं, तब भी उसमें वही पुराना राग सुनाई देता है। कहने के लिए तो चतुर्वेदी उमरावसिंह पांडे ब्रजभाषा का पक्ष लेते हुए लिखते हैं कि 'किसी भी भाषा में रचे गए एक ही समाज की एक समय की परिस्थिति का चित्र एक ही सा होगा, चाहे वह वेदवाणी हो या देववाणी या ब्रजवाणी चाहे खड़ी, पड़ी, या गढ़ी बोली हो;'[4] किन्तु

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य, २० वीं शताब्दी, १९९९ वि०, पृ० २४

२. सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव, १९४२ ई० पृ० ११

३. माधुरी, वर्ष ८, खंड १, संख्या १, सं० १९८६ वि०, पृ० ३८०

४. माधुरी, वर्ष ८, खंड २, संख्या ६, सम्वत् १९८७ वि०, पृ० ७६२

ब्रजभाषा की कविता में आज के जनवर्ग की फटी हालत कहाँ है ? श्री रामकृष्णदास की ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह, 'ब्रज-रज' के नाम से सन् १६३६ ई० में प्रकाशित हुआ है, उसकी रचना का एक नमूना देखिए—

'प्यारे ! तिहारे बिछोह के लूकनि,
हाय के हूकनि मैं मरी जात हौं।
जाहि सुधा करिके अँचयो, सोइ
रूप की ज्वालनि सों जली जात हौं।'[1]

यह ब्रजभाषा के एक मार्मिक कलाविद की कविता है। इसी प्रकार बाबू अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य' की 'दिव्य दोहावली' जो सम्वत् १६६३ वि० में प्रकाशित हुई है उसकी रचना देखिए—

'लखि विरहिन के प्रान सखि, मीचहु नाहिं दिखात।
फिर-फिर आवत लैन पै, मुओ समुझि फिरि जात।'[2]

'नित प्रति पावस ही रहत, बरसत आठौ याम।
ये नैना 'घनश्याम' बिनु, आप भये घनश्याम।'[3]

इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं और उनके बल पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक ब्रजभाषा की कविता में तत्कालीन समाज का चित्र नहीं के बराबर है।

दो-एक ऐसी भी रचनाएँ इस काल में अवश्य हुई हैं, जिनमें नवीन विषयों के प्रवेश से कवि ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि नवीन भावों को व्यक्त करने की ब्रजभाषा में पर्याप्त शक्ति है। इस प्रकार की रचनाओं में उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' की रचना 'ब्रजभारती' का नाम उल्लेखनीय है। इस पुस्तक के दो खंड हैं। प्रथम खंड में कवि ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि ब्रजभाषा के स्वाभाविक स्वरूप और गुणों की रक्षा करते हुए भी नवीन भावों का प्रवेश उसमें किया जा सकता है। 'निशा'

---

१. विश्वमित्र, वर्ष ५, खंड ६, अङ्क ५, १६३७ ई०, पृ० ५६३
२. बाबू अम्बिकाप्रसाद वर्मा—दिव्य दोहावली, संवत् १६६३ वि०, दोहा नं० १३
३. वही, दोहा नं० १७०

पर उनकी यह कविता कितनी सुन्दर है—

'वह नील-सिखर तैं उतरी—
अनुरागमयी निसि—बाला,
स्वागत कौं अवनि खड़ी लै
सुठि साँझ-सुमन की माला।
सुभ साँवल तन, पै सोहत
तारक-जुत मृदु तिमिरांचल,
मंजुल-ग्रीवा पै बिथुरे
घुघरारे-कारे कुंतल।'[1]

जिस ब्रजभाषा में 'निशा' का वर्णन अभिसार आदि के लिए ही उपयुक्त समझा जाता रहा हो, उसमें 'उमेश जी' का यह उद्योग अवश्य प्रशंसनीय है। सामयिक समस्या पर भी उनकी यह कविता द्रष्टव्य है—

'दीन'

"वह कौन निबल अति सिथिल गात,
कंपित पग डगमग चल्यौ जात?
मुख पै बहु दुख की खचीं रेख,
सत-सत जुग की साँसति अनेक।"[2]

पुस्तक के दूसरे खण्ड में कवि ने ब्रजभाषा-काव्य की प्राचीन परम्परा का पालन किया है, परन्तु जिस अश्लीलता के कलंक का टीका ब्रजभाषा के माथे लगाया जाता है, वह इसमें नहीं पाया जाता। काव्य और सामाजिक भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने का 'उमेशजी' का उद्योग सराहनीय होते हुए भी इतना कहते संकोच नहीं होता कि उसमें आधुनिकता का वह व्यापक उभार, जो खड़ीबोली की रचनाओं में देखने को मिलता है, नहीं है। इससे प्रकट होता है कि जहाँ तक किसी भाषा में कविता करने का सम्बन्ध है, वह किसी भी भाषा में, किसी भी काल में, किसी भी भाव को लेकर किया जा सकता है, लेकिन यदि किसी भाषा विशेष की प्रकृति का विश्लेषण करें तो यह कह सकते हैं कि वह किसी युग-विशेष के लिए ही उपयुक्त होती है।

---

१. उमाशंकर वाजपेयी—ब्रजभारती, सम्वत् १९९३ वि० पृ० २९, ३०
२. उमाशंकर वाजपेयी—ब्रजभारती, सम्वत् १९९३ वि०, पृ० ४९

अतः बाबा भिखारीदास की 'भाषा ब्रजभाषा रुचिर' अब इस काल के लिए 'रुचिर' नहीं रह गई थी।

इसी सत्य को खड़ीबोली के समर्थकों के इस प्रकार प्रकट करने पर कि वह जिस काल की भाषा है उसी काल को 'अलंकृत' करती है, तथा उसकी अभिव्यंजना शक्ति सीमित होने से सभी नवीन भावों का उसमें समावेश नहीं हो सकता, पं० किशोरीदास वाजपेयी ने बड़े आवेश में चैलेंज देते हुए 'सुधा' जनवरी १६३७ ई०, में लिखा कि—

> 'मैं उन कवि महोदयों से पूछता हूँ, कृपाकर उन भावों का नाम निर्देश तो कर दें जिनका अभिव्यंजन ब्रजभाषा में नहीं हो सकता। जरा बात स्पष्ट तो हो जाय। हम लोग भी तो कुछ समझ लें।...मैं समझता हूँ इसकी परीक्षा हो जानी चाहिए।...यदि सफलतापूर्वक इस भाषा में उन भावों का अभिव्यंजन हो जाय, तब तो ठीक अन्यथा फिर ब्रजभाषा आंशिक गूँगी सिद्ध हो जायगी।
>
> मैं समझता हूँ कि मेरा उपर्युक्त निवेदन चैलेंज करके स्वीकार किया जाय मैं दावे के साथ उस धारणा का खंडन करता हूँ।[1]

इस प्रकार की 'चुनौती' एक संस्कृत एवं अपभ्रंश का विद्यार्थी किसी भी समय दे सकता है। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह थी कि ब्रजभाषा में देशकाल को व्यक्त करने की वह तत्परता तथा व्यापकता नहीं थी जो खड़ी-बोली में दिखलाई दे रही थी। इसके सिवा, ब्रजभाषा सिकुड़-सिकुड़ाकर एक प्रादेशिक बोली बनती जा रही थी। अतः वाजपेयीजी की इस चुनौती में कोई विशेष तथ्य नहीं था। इसीसे ऐसा मालूम होता है कि किसी ने उनके इस 'चैलेंज' को स्वीकार नहीं किया।

यहाँ थोड़ा इस पर भी विचार करना अप्रसांगिक न होगा कि छायावादी कविता के 'वायवी ताने-बाने' में देशगत, जातिगत विचारों की अभिव्यक्ति कहाँ तक होरही थी? क्योंकि ब्रजभाषा के कवि यह कह रहे थे कि खड़ीबोली में 'नक्कालों' की एक बहुत बड़ी सेना 'छायावादी कविता' के नाम से अंट-संट जो चाहती है लिख मार रही है। 'वे कुछ कह रहे हैं ऐसा तो मालूम होता है, पर क्या कह रहे हैं यह समझ में नहीं आता'[2]—'पद्मसिंह शर्मा'।

१. सुधा, वर्ष १०, खंड १, संख्या ६, जन० १६३७, पृ० ५०६, ५१०
२. पद्मसिंह शर्मा—पद्मपराग, भाग १, १६८६ वि०, पृ० ३५२

छायावादी युग का प्रारम्भ १६२० ई० से माना जाता है। हमारे सक्रिय राष्ट्रीय आन्दोलन का भी यही काल है। जन-जीवन अनेक प्रकार के संघर्षों से आच्छादित था। किसान-आन्दोलन, मजदूर-आन्दोलन, अछूत-आन्दोलन, धार्मिक आन्दोलन आदि चल रहे थे। ऐसे समय में हमारे अधिकांश छायावादी कवियों के 'हृदतन्त्री' और 'वीणा' के तार टूटे हुए हैं। वे 'मूक-वेदना' से व्यथित हैं। उनकी कविताएँ 'निराशावाद' और 'दुखवाद' की ही व्यंजना करती हैं। उनमें सौन्दर्य और अदृश्य के प्रति सूक्ष्म कल्पनाओं की सृष्टि है, जिनमें कभी-कभी अस्पष्टता का भी दर्शन होता है। इस प्रकार का वर्णन सामयिक परिस्थिति को देखते हुए विरोधाभास-सा दिखाई देता है। उन लोगों ने एक अनोखे संसार की तो कल्पना की—

'चाहता है यह पागल प्यार
अनोखा एक नया संसार।' (महादेवी वर्मा)

पर, उसमें तत्कालीन संघर्षों और विषमताओं का पूर्ण समाधान न था। बहुत कुछ वह शून्य, नीरव, निरजन जगत की वस्तु बनी हुई थी।

यही कारण है कि छायावाद की कविता का विरोध केवल ब्रजभाषा के ही कवि नहीं, बल्कि खड़ीबोली के कवि भी कर रहे थे। आश्चर्य तो अवश्य होता है कि इस यांत्रिक युग में छायावादी कविता का आविर्भाव और प्रसार कैसे हो गया, किन्तु यह आश्चर्य इसलिए होता है कि हमारे यहाँ छायावाद का विकास अनैसर्गिक ढङ्ग से हुआ। विदेशों में प्रधानतः इंगलैंड में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई तो वहाँ उसने सामन्तवाद का अन्त करके मनुष्य को मनुष्य की गुलामी से बहुत कुछ मुक्त कर दिया। इसका प्रभाव वहाँ के कवियों पर भी पड़ा और काव्य में एक नई प्रवृत्ति (स्वच्छन्दतावाद) का जन्म हुआ, जिसमें आशावादिता, स्वप्नदर्शिता और प्रगतिशीलता थी। इसके विपरीत, पूँजीवाद का प्रवेश भारतवर्ष में एक क्रान्तिपूर्ण ढंग से नहीं होता। उसके आने पर भी यहाँ सामन्ती वैभव बना रहा। अब दोनों–पूँजीवाद और सामन्तवाद अथवा साम्राज्यवाद के शोषण से यहाँ की जनता दुख-दौर्बल्य से पीड़ित हो उठी। इधर अँग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हमारे काव्य-साहित्य पर उसके 'स्वच्छन्दतावाद' का प्रभाव पड़ा। इसके परिणामस्वरूप हमारे कवियों ने एक नवीन सौन्दर्य-सृष्टि की कल्पना तो अवश्य की, किन्तु उसमें हमारा देशीय राग यदि रहस्यवाद को भारतीय 'अद्वैतवाद' की भित्ति पर खड़ा न

देखें तो, बहुत कम है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसमें हमारी सामाजिक अवस्था से प्रेरणा उनको बहुत कम मिली है। अधिकतर उनको विदेशी कवियों के अध्ययन से ही स्फुरणा मिलती रही। इसीसे हमारा काव्य-साहित्य और समाज बहुत कुछ अंश में सामंजस्य स्थापित न कर सका, और हमें विरोधाभास दिखलाई देता है। आज वह पतनोन्मुख है। छायावादी कवि अब कह रहा है—

'आओ अपनी लघुता जानें
अपनी निर्बलता पहचानें
जैसे जग रहता है, उसी तरह से रहना होगा,

किन्तु, छायावाद के सम्बन्ध में सब कुछ विचार यही नहीं है। भारत-वर्ष में छायावाद मूलतः साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की प्रतिक्रिया है, इसीसे उसमें कहीं-कहीं देशभक्ति, नारी की समानता, व्यक्तिगत स्वाधीनता, नायिकाभेद का विरोध आदि भी मिलते हैं। छायावादी-कवि सामन्त युग के (रीतिकालीन) कवियों की संकीर्णता, रूढ़िवादिता आदि को नष्ट कर एक व्यापक दृष्टिकोण तथा नूतन सौन्दर्यानुभूति प्रदान करते हैं। इसके अति-रिक्त खड़ीबोली को ललित-पदावली से युक्त करने तथा उसके शब्द-भंडार को सम्पन्न करने में छायावादी कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कवियों ने प्रतीक-विधान, साम्य-योजना और लाक्षणिक प्रयोग द्वारा भाषा की शक्ति को विकसित करके उसे सूक्ष्म भावों के प्रदर्शन के योग्य बनाया। इनके हाथों में पड़कर खड़ीबोली सशक्त, व्यंजक और प्राञ्जल हो गई। इसीसे श्री शान्ति-प्रिय द्विवेदी ने लिखा है—

'रीतिकाल ब्रजभाषा की कविता का कलायुग था, छायावादकाल खड़ी-बोली की कविता का कलायुग।'[1]

दूसरा आक्षेप जो ब्रजभाषा की कविता के भाव-पक्ष पर किया गया, वह यह था कि अब भी वह मनोरंजन और वाग्विलास की वस्तु बनी हुई है। उसके अधिकाँश कवि, काव्य को ललित कला का एक मुख्य अंग मान कर उसको आनन्द प्राप्ति की वस्तु समझे हुए हैं। उनका कहना है कि 'मनुष्य

---

१. शांतिप्रिय द्विवेदी—युग और साहित्य, १९४१ ई०, पृ० १६८

जीवन का ध्येय आनन्द प्राप्ति करना माना गया है, उसीकी प्राप्ति के लिए हमारे महर्षियों ने ललित कलाओं को जन्म दिया था। काव्य ललित कला ही का एक मुख्य अँग है।'[1]

यही कारण है कि हमें उनकी रचनाओं में कोई उत्तरदायित्व नहीं दिखाई देता। इस काल में हुई रचनाओं—'रसकलस', 'दुलारे-दोहावली', 'ब्रजरज', 'दिव्य - दोहावली' आदि में उन्हीं चिर-परिचित बातों—षड्ऋतु वर्णन, नायिका-भेद आदि का पिष्टपेषण मिलता है। सारांश यह कि आज भी ब्रजभाषा की रचनाओं में जीवन का वही स्पन्दन सुनाई पड़ता है जो दो-तीन सौ वर्ष पहले था। इसीसे पं० कृष्णविहारी मिश्र ने जो ब्रजभाषा पक्ष के प्रबल समर्थकों में से थे, 'माधुरी' अगस्त-सितम्बर १६२८ ई० में 'ब्रजभाषा के कवि और पुराने भावों की पुनरावृत्ति' शीर्षक लेख में ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों को सामयिक चेतावनी देते हुए लिखा था कि 'ब्रजभाषा के अधिकांश भाव ऐसे होते हैं जो मुगल राजत्व काल के समय में होने वाले ब्रजभाषा के कवि लिख चुके हैं। शृंगार, षड्ऋतु, नखशिख और नायिका-भेद से सम्बन्ध रखने वाली उन्हीं भावों की प्रतिध्वनि सुनते-सुनते जी ऊब गया है। यदि ब्रजभाषा के पक्षपाती चाहते हैं कि हिन्दी में, ब्रजभाषा में भी कविता होती रहे, तो यह परमावश्यक है कि उसी चर्वित-चर्वण को छोड़कर ब्रजभाषा के कवि समयानुकूल नये भावों को अपनावें अन्यथा ब्रजभाषा का भविष्य अन्धकारमय है।'[2]

काव्य-साहित्य मनोरंजन की वस्तु होते हुए भी उसमें हमारा मानव-जीवन लिपटा हुआ है। उसमें हमारी उन्नति-अवनति का इतिहास छिपा हुआ है और हमारी समस्याएँ उलझी हुई हैं। इसलिए कवि, यदि हमारे जीवन से हटकर केवल लोक-रंजन ही काव्य का उद्देश्य बनाता है, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने कर्तव्य को कम समझता है। इस प्रकार का साहित्य हमें शक्तिशाली नहीं बना सकता। अज्ञान और निर्बलता से बचाकर जो हममें आत्मबल का संचार न करे, वह भी क्या जातीय साहित्य कहा जा सकता है?

---

१. अम्बिकाप्रसाद वर्मा—दिव्य दोहावली, १६६३ वि०, पृ० २ (भूमिका)

१. माधुरी, वर्ष ७, खंड १, संख्या १, अगस्त, सितम्बर १६२८, पृ० ४०१, ४०२

'जाति दुख लिखे जो न लेखनी ललक।
तो कहूँगा रही, मुखलालिमा ही नहीं ॥
वह लेवे बार-बार भले ही किलक।
कालिमामयी की गई कालिमा नहीं ॥'[१]

—हरिऔध

कविता आनंददायिनी अवश्य है। फिर भी, जैसा कि श्री सत्यप्रियजी ने लिखा है कि 'निम्नकोटि की उत्पत्ति के लिए कला और बुद्धि को घसीटना अपनी शक्तियों के दुरुपयोग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है,'[२] बिलकुल सत्य है। इसलिए ब्रजभाषा की कविता का उद्देश्य केवल लोकरंजन नहीं होना चाहिए। जिस पर कोई देश या जाति गर्व कर सकती है वह उसकी सत्-कविता ही है।

[ग] शृंगारिकता

भारतेंदु युग में ब्रजभाषा का विरोध हुआ था; किन्तु रीतिकालीन प्रेम-काव्य की परम्परा का विरोध उस समय नहीं किया गया। द्विवेदी युग में जब खड़ीबोली के कवियों ने कविता का उद्देश्य मनोरंजन के साथ लोकहित-साधन भी बताया—

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म्म होना चाहिए ॥'

—मैथिलीशरण गुप्त

तब, ब्रजभाषा का विरोध उसकी शृंगारी प्रवृत्ति के कारण भी हुआ। छायावादी काल में कवियों ने ब्रजभाषा की इस शृंगारी प्रवृत्ति के साथ-साथ उसके प्राचीन 'कवियों और काव्य' की भी खूब निन्दा इन शब्दों में की—

'उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं!

---

१. हरिऔध—पद्य प्रसून, सं० १९८२ वि०, पृ० १३७
२. विश्वमित्र, वर्ष ६, खंड ११, अंक २, १९३७ ई०, पृ० २२९

'इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास वाटिका में भी आप प्रवेश करें...सबकी बावड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों में फूट रहा है...कुंजों में उद्दाम यौवन की दुर्गन्धि आ रही है। 'इन तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि पुङ्गव नहीं जा सके।'[1]

('पल्लव'–पन्त)

'ब्रजभाषा की अधिकाँश कविता इसलिए सोने के कटोरे में हलाहल है कि वह आत्मा का नाश और पुरुषत्व का ह्रास करती है। स्त्री का जितना घोर अपमान उसमें है, उतना हिन्दी के अन्य साहित्य में मुश्किल से मिलेगा।'[2]

(पं० वकटेशनारायण तिवारी)

शृंगार भी कायदे का नहीं रह गया। एक कवि के बाद दूसरा आता है और अश्लीलता के कीचड़ में लोटने को कविता का स्वरूप और अपनी प्रतिभा का दिग्दर्शन समझता है।'[3]

(मार्कण्डे वाजपेयी)

इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा पर इस काल में कुछ गुरुतर अभियोग भी लगाए गए। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'हिन्दी कविता और उसका भविष्य' शीर्षक एक लेख साहित्य संघ, कटरा, प्रयाग में पढ़ा था। वही लेख बाद में सम्मेलन पत्रिका,' संवत् १९८७ वि० में भी प्रकाशित हुआ। इसमें त्रिपाठी जी ने लिखा कि 'ब्रजभाषा देश को जगाना नहीं जानती, बल्कि सुख की नींद सुलाना जानती है और उसने अब तक देश को सुला भी रखा है।.... मैं जोरदार शब्दों में सर्वसाधारण के सामने यदि आवश्यकता हो तो कुतुब-मीनार पर खड़े होकर भी कह सकता हूँ कि हिन्दू-समाज में व्यभिचार फैलाने, बेकारी, कायरता और आलस्य बढ़ाने की मिथ्यावादिता से जनता के हृदय का तेज घटाने के अपराधी (ब्रजभाषा के) कविगण हैं, ऐसे कवियों की कविताओं का विष हिन्दू-जाति के नस-नस में घुस गया है।'[4] इस कथन

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त-पल्लव, १९४२ ई०, पृ० ७, ९, १०

२. सरस्वती, दिसम्बर, १९३३, पृ० ४९१

३. वीणा, सितम्बर, १९३५, पृ० ८९२

४. सम्मेलन पत्रिका, भाग २, अंक २, संवत् १९८७ वि०, (नवीन संस्करण) पृ० ५५-६४

के लगभग ६ मास पूर्व त्रिपाठी जी ने एक प्रहसन 'दिमागी ऐयाशी' शीर्षक से 'विशाल भारत' अक्टूबर १९२९ में प्रकाशित कराया था।[1] इसमें भी त्रिपाठी जी ने ब्रजभाषा के विरोध में करीब-करीब उक्त कथित बातें ही दिखलाई थीं। उन्होंने ब्रजभाषा की कविता को नवयुवकों के नैतिक-पतन का कारण बताते हुए प्रहसन के एक पात्र 'अरुण' महोदय से कहलाया था कि ब्रजभाषा की कविता से 'नौजवानों की दिमागी ऐयाशी बढ़ेगी। सब लोग घर के जरूरी काम काज छोड़कर मानसिक व्यभिचार में प्रवृत्त होंगे। विषयी बनेंगे। निर्बल होंगे। स्त्रियों को कुलटा बनाएँगे'।

त्रिपाठी जी द्वारा ब्रजभाषा पर लगाए गए इन गम्भीर अभियोगों का कड़ा विरोध हुआ। उक्त प्रहसन के उत्तर में श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'दिमागी दिवाला' नाम का एक दूसरा प्रहसन 'विशाल भारत' फरवरी १९३० में प्रकाशित कराया।[2] इसमें चतुर्वेदी जी ने स्वामी 'मूसलानन्द' और 'अरुण' के सम्वाद द्वारा ब्रजभाषा पर लगाए गए आक्षेपों का खंडन किया। स्वामी मूसलानन्द के मुख से चतुर्वेदी जी ने कहलाया कि 'आपकी (त्रिपाठी जी की) मनगढ़न्त बातें सुन भोले भाले नवयुवक ब्रजभाषा से घृणा करने लगेंगे। नतीजा यह होगा कि गम्भीर साहित्य लोप होगा और टुच्चू साहित्य बढ़ेगा'।

एक 'व्यंग्य चित्र' द्वारा भी त्रिपाठी जी की अच्छी चुटकी ली गई है। यह व्यंग्यचित्र भी 'विशाल भारत' फरवरी, १९३० के अङ्क में पृष्ठ २५५ पर बना हुआ है। चित्र पर लिखा है 'हिन्दी-मन्दिर के प्रख्यात पुजारी पं० रामनरेश त्रिपाठी और ब्रजभाषा'। इस व्यंग्य चित्र में त्रिपाठी जी हिन्दी साहित्य मन्दिर में बैठे हुए 'कविता कौमुदी'[3] पहला भाग हाथ में लिए हुए हैं। उनकी बगल में एक तिजोरी में रुपयों की थैलियाँ रखी हुई हैं और तिजोरी पर लिखा है a/c (हिसाब) ब्रजभाषा। चित्रकार का यह मन्तव्य कि एक ओर तो त्रिपाठी जी ब्रजभाषा को सारे पतन और व्यभिचार का कारण बताते हैं, पर दूसरी ओर उसीकी कविता का संग्रह 'कविता कौमुदी' के रूप में प्रका-

१. इस प्रहसन का सारांश इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट 'ब' में दिया हुआ है।
२. इसका भी सारांश परिशिष्ट 'स' में दिया हुआ है।
३. पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित ब्रजभाषा की रचनाओं का संग्रह।

शित करके धन पैदा करते हैं, स्पष्ट है। चित्र में वीणा लिए हुए भक्तिमती 'मीरा' तथा भक्तवर 'सूर' उदासीन चित्त से हिन्दी-साहित्य-मन्दिर को छोड़ते हुए दिखलाए गए हैं। चित्रकार का यह भाव भी कि अब 'हिन्दी-साहित्य-मन्दिर' में उनकी मधुर पदावली का कोई आदर नहीं, स्पष्ट है। चित्र में 'मीरा' मौन हैं, किन्तु त्रिपाठीजी और 'सूर' कुछ कहते-सुनते दिखाई देते हैं। उनकी बातचीत उसी चित्र के नीचे इस प्रकार उद्धृत है—

त्रिपाठी जी— 'जाओ भागो, तुम्हारी दो सौ कोस दूर की विचित्र भाषा हमारी समझ में नहीं आती। हमारे हिन्दी-मंदिर में तुम्हारी भाषा को कोई स्थान नहीं।'

सूरदास— 'तो फिर आप हमारी ब्रजभाषा के पदों का उपयोग अपनी पुस्तकों में क्यों करते हैं?'

त्रिपाठी जी— 'वाह! वह बात दूसरी है। मैं व्यापार में ब्रजभाषा के उपयोग करने के पक्ष में हूँ, काव्य में नहीं।'

इस प्रकार, त्रिपाठी जी तथा खड़ीबोली के अन्य विद्वानों के आक्षेपों का उत्तर, ब्रजभाषा के पक्ष-समर्थक बहुत से विद्वानों ने बड़े विस्तार से दिया है। प्राचीन ब्रजभाषा के कवि और काव्य को कलंकित करना उन लोगों को सह्य नही था। 'माधुरी' के सम्पादक पं० कृष्णविहारी मिश्र ने अक्टूबर, १९२८ में लिखा कि 'ब्रजभाषा के कवि पापियों के सरदार माने जायँ हमें कोई आपत्ति नहीं...यदि ये पापी भी उस समय न होते तो क्या इस बात की सम्भावना न थी कि उस समय के हिन्दू-समाज के हृदय में जो सरस लता थी, वह बिल्कुल सूख जाती।'[1] चतुर्वेदी उमरावसिंह पांडे ने 'माधुरी' अषाढ़, १९८७ वि० में लिखा कि 'यह कलंक की कालिमा उनके द्वारा पोती जाती है जो उससे ही बने हैं, जो उस शीरीं-शकुन शीरीं के फरहाद थे और जो उस ललित लैला के मजनू थे।'[2] 'वीणा' के सम्पादक कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' ने जनवरी, १९३४ के अङ्क में 'प्राचीन हिन्दी कविता पर विद्वानों का कोप' शीर्षक लेख में दिखलाया कि 'कविता जीवन का प्रति-

१. माधुरी, वर्ष ७, खंड १, संख्या २, सन् १९२८, पृ० ५१७, ५१८
२. माधुरी, अषाढ़, संवत् १९८७ वि०, पृ० ७५८

बिम्ब है इसलिए उसमें अश्लीलता की झलक आ सकती है।···सभी कविताएँ वेदमंत्र की ऋचाएँ नहीं हो सकतीं।'[1] पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी पुस्तक 'प्रबन्ध-पद्म' में लिखा कि 'ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं।···ब्रजभाषा के कवियों ने सौंदर्य को इतनी दृष्टि से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो।'[2] पं० किशोरीदास वाजपेयी ने 'तरंगिणी' में लिखा कि 'इधर पद्यों में प्रेयसि, प्रियतम, तड़पन, आलिंगन, यही सब दिखाई देने लगा है और ये क्रान्तिकारी कवि भी ब्रजभाषा-कवियों को कोस लेते हैं। मानों बड़े कवि बनने के लिए यह जरूरी है कि ब्रजभाषा के कवियों को गालियाँ सुनाई जायँ! यह छिछोरापन है।'[3] पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपनी पुस्तक 'विभूतिमती ब्रजभाषा' में लिखा कि 'कलंक दिखाकर मयंक की महत्ता से मुँह मोड़ना संगत नहीं। ···यदि कहा जाता है कि ब्रजभाषा ने देश को विलासी और लम्पट बनाया जिससे उसका पतन हुआ, तो इसको प्रमाद छोड़ और क्या कहें! ब्रजभाषा काल में हिन्दू जाति की तलवार बराबर निकली ही रही, वह जाति, देश और धर्म के लिए लगातार लड़ती रही। फिर वह विलासी कब बनी और कैसे उसके द्वारा पतन हुआ।'[4]

ब्रजभाषा में शृंगाररस का दुरुपयोग हुआ है; परन्तु उसका अतिरंजित वर्णन करके उसको सारी व्यवस्था और सदाचार का संहारक बताना तथा हिन्दू समाज में उपलब्ध सारी बुराइयों की जिम्मेदारी ब्रजभाषा के मत्थे मढ़ना यह खड़ीबोली के विद्वानों की केवल सहानुभूति की कमी को प्रदर्शित करता है। वह युग और परिस्थिति ही ऐसी थी, जिसमें अनुचित शृंगार का कुछ आधिक्य हो गया है। न केवल ब्रजभाषा में बल्कि उस काल की 'सीतल' आदि की खड़ीबोली की रचनाओं में भी वही शृंगार दिखाई देता है। दूसरे, उस समय जो शृंगार और नायिकादि का वर्णन हुआ उसका अधिकांश आधार संस्कृत साहित्य था। ब्रजभाषा द्वारा उसकी उद्भावना

१. वीणा, जनवरी, १६३४, पृ० २३६
२. निराला—प्रबन्ध पद्म, संवत् १६६१ वि०, पृ० १०८, ११६
३. किशोरीदास वाजपेयी—तरंगिणी, संवत् १६६३ वि०, पृ० ४, भूमिका
४. हरिऔध—विभूतिमयी ब्रजभाषा, १६६७ वि०, पृ० २४, ६३

नहीं हुई। अतः ब्रजभाषा अपने प्राचीन शृङ्गार-साहित्य के लिए नितांत दोषी नहीं ठहरती।

ब्रजभाषा जिसके लिए कलंकित और बहिष्कृत हुई, वह था उसमें प्रगतिशीलता का अभाव। अब हमारी परिस्थिति वह नहीं थी जो मध्यकाल में थी। हमारा दृष्टिकोण बदल चुका था। ऐसे समय ब्रजभाषा को भी बदलने की आवश्यकता थी। नायिकादि के निरूपण का अन्धानुकरण करने तथा प्रेमगीत गाने का अब यह उपयुक्त समय नहीं था। ब्रजभाषा इसे छोड़ सकती थी। यही उससे नहीं हुआ। इसीसे उसको कलंकित और बहिष्कृत होना पड़ा; क्योंकि कोई भाषा सामयिकता की अवहेलना कर साहित्यिक जीवन नहीं प्राप्त कर सकती। जब समाज मुमुर्षु हो, तब वासना की आग भड़काना कवि-कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। आनन्द और मनोरंजन के लिए हमारा प्राचीन साहित्य ही पर्याप्त है। उससे और अधिक लिखने की आवश्यकता अब नहीं थी, लेकिन ब्रजभाषा के कवि उसी प्राचीन प्रणाली पर चलते रहे। इसीसे ब्रजभाषा का पतन हुआ।

खड़ीबोली में यत्र-तत्र जैसे 'बच्चन' की 'मधुशाला' 'मधुबाला' और 'अंचल' की 'मधूलिका'[1] आदि में नारी-सौंदर्य का नग्न-चित्र खींचा गया है। किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ खड़ीबोली में अपवादस्वरूप हैं। इसके विपरीत खड़ीबोली-काव्य में नवयुग-चेतना की अभिव्यक्ति ही प्रधान रूप से दिखाई देती है। इसीसे वह आगे बढ़ सकी है।

[घ] वीर रस

ब्रजभाषा को 'जनानी बोली' बताकर उस पर यह दोषारोपण भी किया गया कि वह शृंगारातिरिक्त अन्य रसों के भली भाँति प्रतिपादन में अनुपयुक्त है। इसमें वीर-रस के कड़खे तो समा ही नहीं सकते। वीर भाव के प्रकाशन के लिए जहाँ द्वित्ववर्ण वाली पदावली का उसमें प्रवेश हुआ है, जैसे—

> 'अति घोर मार जहाँ घुरी।
> दसहू दिसा भई धुंधरी॥
> धरधद्धरं धरधद्धरं।
> भड़भम्भरं भड़भम्भरं॥

---

१. 'मधूलिका' में तो कवि की कामुकता पाशविकता तक पहुँच गई है जब वह कहता है 'आज सुहाग हरूँ मैं किसका लूटूँ किसका यौवन।'

तड़तत्तरं तड़तत्तरं ।
घड़घघ्घरं घड़घघ्घरं ॥'१
('सुजान चरित'—सूदन)

वहाँ शब्दों का प्रयोग वर्णन के अनुकूल होते हुए भी भावों के विपरीत है । उसके पढ़ जाने पर भी हृदय में कोई उत्साह नहीं पैदा होता । श्री आनन्दकुमार ने अपनी पुस्तक 'समाज और साहित्य' भाग १ में लिखा है कि 'सारी कविता पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है, जैसे कोई मशीन बिगड़ गई है, उसी की आवाज आ रही है ।'२ पं० सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में 'वीर तथा रौद्र रस की कविता लिखने के समय तो ब्रजभाषा की लेखनी भय के मारे हकलाने लगती है ।'३

इस प्रकार की धारणा कि कोमलकान्त-पदावलीयुक्त भाषा वीररसोत्पादक नहीं हो सकती, तर्क संगत नहीं दिखलाई देता । संसार की अन्य कोमल भाषाओं में वीर रस की रचना भी बड़ी सफलता के साथ हुई है । इस सम्बन्ध में पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

'शृंगार रस की कविता (इश्किया ग़ज़लों) के लिए फ़ारसी बेतरह बदनाम है, पर उसी में महाकवि 'फिरदौसी' का 'शाहनामा' भी है, जो वीररस का एक उमड़ता हुआ दरिया है । .... यूरोपियन भाषओं में फ्रेंच भाषा सबसे अधिक मधुर कही जाती है, उसमें भी वीररस के काव्यों की कमी नहीं ।...संस्कृत भाषा का इतिहास शृंगार रस से भरा पड़ा है....मधुरिमा भी इसकी अतुलनीय है, पर रामायण और महाभारत के जोड़ के वीर रस के काव्य किस कड़वी और कठोर भाषा में हैं ।'४

कोई भाषा हो, यदि वह समृद्धिशाली भाषा है, तो उसके लिए यह अपवाद नहीं हो सकता कि वह किसी एक विशेष रस के निर्वाह की ही क्षमता रखती है । ऐसी भाषा में समान रूप से सब रसों का निर्वाह

---

१. आनन्दकुमार-समाज और साहित्य, भाग १, १९३८ ई०, पृ० ३७
२. ,, ,, ,, ,, पृ० ३७, ३८
३. पन्त—पल्लव, १९४२ ई०, पृ० १० (प्रवेश)
४. पद्मसिंह शर्मा—पद्म पराग, भाग १, १९८६ वि०, पृ० ३५३, ३५४

हो सकता है। यह दूसरी बात है कि किसी कारणवश उसमें किसी एक रस का ही परिशीलन अधिक हुआ हो। ब्रजभाषा की रीझ शृंगार रस से अधिक रही है, यह ठीक है। जब जिस जिन्स की माँग और खपत होती है तब वही जिन्स बाजार में अधिक आती है। मध्ययुग की लोकरुचि के कारण ही उसमें शृङ्गार रस का आतिशय्य हुआ है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रजभाषा वीर रस की रचनाओं से बिलकुल शून्य है। अनेक प्राचीन कवियों ने ब्रजभाषा में वीर-रस की रचनाएँ की हैं, जैसे, कुलपति मिश्र का 'द्रोणपर्व' रघुनाथ बंदीजन का 'महाभारत', लालकवि का 'छत्रप्रकाश', चन्द्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर-हठ', पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरदावली', भूषण का 'शिवराज-भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' आदि। वर्तमान काल में वियोगी हरिजी की 'वीरसतसई' पर मंगला पारितोषिक मिला है। यह ब्रजभाषा में वीर-रस पर एक सफल रचना है। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'वीराष्टक' तथा 'गङ्गावतरण' (कुछ अंश) वीर-रस की रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश काल की संयुक्त तथा द्वित्ववर्ण वाली पदावली का आश्रय ब्रजभाषा में अवश्य ग्रहण किया गया है। इस दोष की झाँकी वर्तमान काल में भी पाई जाती है, जैसे—

'रणसुभट्ट वै भुट्ट-लौं, गहि असि कट्टत मुण्ड।
उठि कवन्ध जुट्टत कहूँ, कहुँ लुट्टत रिपु रुण्ड॥'[1]
(वीर सतसई)

ब्रजभाषा में वीर रस की ओजपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक रचनाएँ भी हैं। उनकी शब्दावली सीधी-सादी शुद्ध ब्रजभाषा में हैं। वहाँ न 'मशीन के बिगड़ने जैसी आवाज' है और न 'कम्पज्वर की बड़बड़ाहट', जैसे—

'औचक ही खमकि खमंडल प्रकंपि जैहै,
गमकि गनीमन के सीस गिरि जैहै गाज,
लुत्थन के जुत्थन तें भूमि ढँकि जैहै, तिमि
कलि के ललाट कौ तड़कि टूटि जैहै ताज।
ह्वै है नष्ट भ्रष्ट सब काज देस-द्रोहिन के,
जुद्ध अस्त्र-सस्त्र कौ धरोई रहि जैहै साज,

१. वियोगी हरि—वीर सतसई, संवत् १६२६ वि०, पृ० ११

चारौं ओर प्रलय प्रचंड मचि जैहै एक,
तेरी जदि म्यान तैं कृपान कढ़ि जैहै आज।' [१]
(ब्रजभारती)

अतः ब्रजभाषा में वीर रस का निर्वाह हुआ है और हो सकता है। बद-नाम तो इसलिए हो रही थी कि वह प्राचीन रूढ़ियों को काव्य में बनाए चल रही थी।

[च] ब्रजभाषा के प्रकाशन

ऊपर कई स्थलों पर यह दिखलाया गया है कि इस काल में भी ब्रजभाषा में कुछ उत्तम रचनाएँ हुई हैं। उनमें से कई एक, उच्च संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत तथा सम्मानित भी की गई हैं। कभी-कभी ऐसा होता था कि ब्रजभाषा की किसी नवीन कृति को लेकर खड़ीबोली और ब्रजभाषा के समर्थकों में आलोचना- प्रत्यालोचना होने लगती थी। इस प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचना का लक्ष्य प्रायः रचना न होकर रचयिता होता था, जिस पर व्यक्तिगत आक्षेप किए जाते थे। यहाँ ऐसी ही दो रचनाओं 'रसकलस' तथा 'दुलारे दोहावली' को लेकर जो विवाद हुआ उसको दिखलाना है।

रसकलस

इस कृति के कृतिकार हैं पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। 'हरिऔध' ने अपने जीवन में वर्तमान साहित्य के तीनों काल—भारतेन्दुकाल, द्विवेदीकाल तथा छायावादीकाल देखे थे। भारतेन्दुकाल में जब ब्रजभाषा का बोलबाला था, तब आप ब्रजवाणी के उपासक थे। द्विवेदीकाल के अभ्युदय के कुछ वर्ष पूर्व से ही आप खड़ीबोली में रचना करने लगे थे, और खड़ी-बोली में रचना करने को समय की माँग तथा देश-जाति के लिए हितकर मानते थे। फिर भी आप ब्रजभाषा के विरोधियों में से नहीं थे। सन् १९३१ ई० में उन्होंने 'रसकलस' की रचना ब्रजभाषा में की। एक लम्बे समय के उपरान्त 'हरिऔध' का ब्रजभाषा में रस-नायिकादि ऐसे विषय पर, जिसको कि इस नव-जागरण के युग में मान्यता प्राप्त नहीं थी लिखना खड़ीबोली के समर्थकों को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने इसका विरोध किया।

श्रीयुत पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने हिन्दी की मासिक पत्रिका

---

१. उमाशङ्कर वाजपेयी 'उमेश'—ब्रजभारती, १९९३ वि० पृ० ११२

'सरस्वती' १६३३-३४ ई० में कई लेख 'ब्रजभाषा साहित्य' तथा 'साहित्य सेवियों की आलोचना' शीर्षक से प्रकाशित कराए थे। इनमें उन्होंने आलोचना की ओट में ब्रजभाषा के कवियों को खूब खरी-खोटी सुनाई थी। इन्हीं में उन्होंने 'हरिऔध का बुढ़भस' नामक एक लेख भी लिखा था। इसमें आपने लिखा कि "वास्तव में 'रसकलस' उनके बुढ़भस का प्रसाद है।...उनका बुढ़ापे में ब्रजगोरी की तरफ झुकाव देखकर उसके पुराने प्रेमी फूले न समाए।" इसके उत्तर में पं० लोकनाथ द्विवेदी ने 'सुधा' १६३५ ई० में लिखा कि 'जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों के हजारों काव्य-ग्रन्थ हों उस ब्रजभाषा का ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे आलोचकों की वितण्डावादी आलोचनाओं से बिगड़ता ही क्या है? ब्रजभाषा को 'ब्रजगोरी' लिखकर उस पर व्यंग्य कसने की जो कुप्रवृत्ति तिवारीजी ने दिखाई है उससे उनके हृदय का ओछापन ही प्रकट होता है।...भैया तिवारीजी, स्मरण रखो कि क्या पिद्दी क्या पिद्दी का शोरवा?'[1]

इस प्रकार की आलोचनाएँ दलबन्दी के अच्छे उदाहरण हैं। 'रसकलस' को जन्म देना सामयिक था या नहीं इस पर यदि 'हरिऔध' के ही विचार को जो उन्होंने 'रसकलस' के अपने विशेष वक्तव्य में प्रकट किया है देखें तो सब सन्देह दूर हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना यह मत प्रकट किया है कि 'आज तक जितने रसग्रन्थ बने हैं, उनमें शृङ्गार रस का ही अन्यथा विस्तार है, और रसों का वर्णन नाम-मात्र है, इसके अतिरिक्त संचारी भावों के उदाहरण भी प्रायः शृङ्गार रस के ही दिए गए हैं ऐसा न करके अन्य विषयों का उदाहरण भी उनमें होना चाहिए था। 'रसकलस' में इन सब बातों का आदर्श उपस्थित किया गया है।....ब्रजभाषा में 'रसविलास', 'रसराज' और 'जगद्विनोद' आदि ऐसे बड़े अपूर्व रसग्रन्थों के होते 'रसकलस' की रचना की कोई आवश्यकता नहीं थी, और न मैं ऐसा करता, यदि इन उद्देश्यों से मैं प्रेरित न होता, और यदि प्राचीन प्रणाली के कवियों की दृष्टि को सामयिकता और देश-प्रेम की ओर आकृष्ट करना इष्ट न होता।'[2]

इसमें सन्देह नहीं कि 'रसकलस' रस-सिद्धान्त पर एक विस्तृत ग्रन्थ है। रस-सिद्धान्त के विवेचन के नाम पर अब तक काव्याचार्यों ने अधिकतर नख-

१. 'सुधा', फरवरी, १६३५ ई०, पृ० २०, २१

२. हरिऔध—रसकलस, २००८ वि०, पृ० २, ३ (वक्तव्य)

शिख और नायक-नायिका का ही वर्णन किया है। 'हरिऔध' ने शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का भी इसमें निरूपण किया है, और जहाँ तक हो सका है, उन्हें सामयिकता से अनुप्राणित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को सम्पूर्ण बनाने का उनका प्रयत्न स्तुत्य है। नायिका-भेद पर रचना करते हुए भी उनमें अश्लीलता नहीं आने दी है। ग्रन्थ में सामयिकता, जातीयता तथा देश-प्रेम आदि के भाव सर्वत्र पाए जाते हैं। जैसे,

सामयिकता—

'हरिऔध, कूरन की कूरता कहाँ लौं कहै,
चित्त ना कसहिं काम करहिं कसाई के।
पेरि-पेरि औरो पीर देहिं पीरवारन को,
पिसे काँहिं पीसि पैसे माँगहि पिसाई के।'[१]

जातीयता—

'लाज गँवावति जाति की नेक न आई लाज।
गजब गुजारत दीन पै सिर पै गिरी न गाज॥'[२]

इस ग्रन्थ के प्रणयन से 'हरिऔध' का यह विचार कभी नहीं था कि ब्रज भाषा को पुनः काव्यभाषा के स्थान पर मनोनीत किया जाए, जिससे खड़ीबोली के समर्थक विद्वानों को उसके विरोध की आश्यकता पड़ी। इस रचना द्वारा उन्होंने केवल यह पथ-प्रदर्शन किया है कि हमें ब्रजभाषा की कविता के लिए भी उपादान-सामग्री अपने तत्कालीन समाज और अवस्था से ही चुननी चाहिए, क्योंकि अब भी उसमें रस-सिद्धान्त के नाम पर प्रायः शृङ्गार रस का ही प्रतिपादन हो रहा है। 'रसकलस' में इसी अभाव की पूर्ति हुई है। अतः प्राचीन रस-सिद्धान्त को नवीन दृष्टिकोण से समझने के लिए यह एक अनूठा ग्रन्थ है। इसकी रचना 'हरिऔध' ने किसी दलबन्दी में पड़कर नहीं की है। वे एक साहित्य-मर्मज्ञ थे, जब जहाँ साहित्य में कोई कमी उनको दिखलाई दी, उसको दूर करने का उन्होंने प्रयत्न किया है। 'रसकलस' उनके एक ऐसे ही प्रयत्न का फल है।

१. हरिऔध—रसकलश, २००८ वि०, पृ० ५४ (मूलग्रन्थ)
२.   वही   पृ० ५३ (मूलग्रन्थ)

दुलारे दोहावली

यह बाबू दुलारेलाल भार्गव की ब्रजभाषा में एक रचना है। प्रथम, 'देवपुरस्कार' इसी कृति पर सन् १९३५ ई० में मिला था। सन् १९३४ ई० में जब पुरस्कार के लिए विचाराधीन ग्रन्थों में यह 'दोहावली' भी रखी गई, तब इसी ग्रन्थ को दृष्टि में रखकर 'विशालभारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने इसी पत्र के अक्टूबर १९३४ के अङ्क में लिखा कि 'जो महानुभाव उस अप्सरा (खड़ीबोली की कविता) के बजाय हमें अलंकारों से लदी, प्राचीन पर्दे में बन्द, क्षयरोग से पीड़ित नायिका ब्रजभाषा के दर्शन कराने के लिए उत्सुक हैं, वे अपनी अकल के दिवालिएपन का तो प्रदर्शन कर ही रहे हैं, साथ ही साथ हमारी सहज बुद्धि का अपमान भी कर रहे हैं। ... देव-पुरस्कार निर्णायकों के सम्मुख बड़ी जिम्मेदारी का काम है। हमें दृढ़ विश्वास है कि वे बिना किसी संकोच के अपनी निष्पक्ष सम्मति प्रदान करेंगे।'[1]

इस प्रकार विरोध होते रहने पर भी जब वह १९३५ ई० में पुरस्कृत की गई और उसकी प्रशंसा में विद्वानों की अनेकानेक सम्मतियाँ इस प्रकार प्रकाशित होने लगीं—

१. ब्रजभाषा को मृतप्राय समझने वालों की आँखें अब खुलेंगी। खड़ीबोली के इस युग में ब्रजभाषा की इतनी उच्च कोटि की कविता हो सकती है, यह बात बहुत कम लोगों की समझ में आती है। ... देश-प्रेम, देशोद्धार, समाज-सुधार, राजनीति, वेदान्त, भक्ति, वीर आदि रस तथा समकालीन इतिहास पर आपने अनुपम दोहे लिखे हैं।'[2]

—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव

२. जब खड़ीबोली के मेघाच्छन्न, अन्धकारावृत्त नभोमण्डल में विरल नक्षत्र की भाँति ब्रजभाषा काव्य लुप्तप्राय हो रहा है, ऐसे समय में दुलारे-दोहावली की भावपूर्ण, रमणीय, चित्ताकर्षक रचना वस्तुतः चन्द्रोदय के समान है।'[3]

—कन्हैयालाल पोद्दार

---

१. 'विशाल भारत', अक्टूबर, १९३४ ई०, पृ० ३९३, ३९४
२. 'सुधा', फरवरी, ३९३५ ई०, मुखपृष्ठ पर उद्धृत
३. वही पिछले टाइटिल पेज पर उद्धृत

३. 'यह आधुनिक ब्रजभाषा में सर्वोत्कृष्ट रचना है।'[1]

—रामकुमार वर्मा

तब उसका विरोध पुनः किया गया। प्रो० कृपानाथ मिश्र ने 'गंगा' चैत्र, १९९२ वि० में 'दुलारे दोहावली' की एक विस्तृत आलोचना प्रकाशित की। इसमें आपने लिखा कि 'मैंने इस पुस्तक को कई बार पढ़ा। मैंने अपने को बहुत समझाया कि जिस पुस्तक के सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वानों ने इतनी बड़ी-बड़ी बात कही है, उस पुस्तक को यदि मैं पसन्द न कर सका तो शायद दोष मेरा ही होगा। इसी दोष को दूर करने के लिए मैंने पुस्तक को कई बार ध्यानपूर्वक पढ़ा। दुःख की बात है कि मेरा प्रथम विचार नहीं बदला। मैं इस पुस्तक को असामयिक, असुन्दर और अश्लील समझता हूँ।...कोई भी सच्चा कवि आज की भाषा अर्थात् खड़ीबोली को छोड़कर ब्रजभाषा में कविता नहीं करेगा। .... इस 'दुलारे-दोहावली' के कोट-पेंट-नेकटाई-कालर-धारी कवि .... लखनऊ में रहकर खड़ीबोली छोड़कर इस युग में ब्रजभाषा में कविता करते हैं!! मैं ब्रजभाषा को बुरा नहीं समझता। लेकिन यदि आज ब्रजभाषा में तुकबन्दी करने वाला उद्धत और वयस्क लेखक यह दावा करे कि वह कवि है तो मैं कहूँगा कि उससे कहीं बड़ा कवि वह है, जो शिशु-जन्म के उपलक्ष में बधाइयाँ गाता है।.... प्रथम पृष्ठ पर जो भाव प्रकट किया गया है (सुमिरहु वा विघनेस कौं)[2] वह भाव लेकर बाबा आदम के वक्त से न मालूम कितने मेंढक टर्राये हैं!....जो कवि आज भी स्त्रियों को केवल घूँघट और नयन और भ्रू की राशि समझता है, वह घोर जड़वादी है।'[3]

१. सुधा, फरवरी, १९३५, पिछले टाइटिल पेज पर प्रकाशित

२. 'सुमिरहु वा विघनेस कौं, तेज सदन मुख सोम।
जासु रदन-दुति-किरन इक, हरत विघन तम तोम॥'
(दुलारे दोहावली)

'निराला' जी ने इस दोहे के छः अर्थ किये थे। उनके इस बुद्धिप्रकाश को 'बौड़मपन' बतलाते हुए श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' अक्टूबर, १९३४ ई० में इस प्रकार लिखा था—

'इस प्रकार के 'बौड़मपन' को सन् १९३४ ई० में जब हिन्दी की कविता अपने प्राचीन शाब्दिक खिलवाड़ों को छोड़कर भाव-जगत में विचरण करने लगी है, हम हास्यास्पद ही समझेंगे।'

३. गंगा, चैत्र, १९९२ वि०, पृ० ३७५, ३७६, ३७७

इसके उत्तर में पं० किशोरीदास वाजपेयी ने 'गंगा' जेष्ठ, १९९२ वि०, में लिखा कि 'ब्रजभाषा हिन्दी है, तब उसमें कोई सच्चा कवि क्यों न कविता करे। लखनऊ में रहकर ब्रजभाषा में कविता करना भी क्यों खलता है? लखनऊ के लिए जैसी ब्रजभाषा दूर की बोली है, वैसी ही खड़ीबोली। खड़ीबोली लखनऊ की नहीं मेरठ डिवीज़न की बोली है, यह आपको विदित होना चाहिए।'[1]

'दुलारे-दोहावली' ब्रजभाषा में इस युग की अवश्य उल्लेखनीय रचना है। इसमें नवीन सामयिक भावों का प्रदर्शन भी सुन्दर रीति से किया गया है। पर इसका कला-पक्ष विशेष उभरा हुआ है जिसमें यमक, उपमा, अलंकार, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि की योजना प्राचीन प्रणाली पर की गई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'आधुनिक काव्य-क्षेत्र में दुलारेलाल जी ने ब्रजभाषा-काव्य-चमत्कार-पद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया है।'[2] कहीं-कहीं कवि की क्लिष्ट कल्पना भी दिखाई देती है। 'बिहारी' जी के समान कवि की गागर में सागर भरने की लालसा सर्वत्र पाई जाती है।

खड़ीबोली के समर्थकों द्वारा व्यक्तिगत निंद्य आक्षेप सुनने पर भी स्वयं दुलारेलालजी ने न तो खड़ीबोली का कभी विरोध किया और न उसके कवियों पर फबतियाँ ही कसीं, बल्कि 'संयुक्त प्रान्तीय सप्तम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के अपने सभापति के वक्तव्य में कहा कि 'मेरी समझ में नहीं आता, अगर उर्दू में सरस कविता हो सकती है तो खड़ीबोली में क्यों नहीं हो सकती? मेरी राय में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में कविता की जा सकती है, कवि में प्रतिभा और शक्ति होनी चाहिए।'[3]

इस प्रकार इस काल में खड़ीबोली के विद्वानों द्वारा ब्रजभाषा का विरोध अनेक दृष्टियों से किया गया है।

ब्रजभाषा की माधुरी

खड़ीबोली के लिए भारतेंदु काल प्रस्तावना काल था। द्विवेदी काल में उसका प्रसार और परिष्कार हुआ, किन्तु उस युग की विश्लेषणात्मक और

---

१. गंगा, जेष्ठ, १९९२ वि०, पृ० ५४१

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ७०८

३. दुलारेलाल भार्गव—सम्भाषण, सं० १९८५ वि०, पृ० १८

वर्णनात्मक प्रवृत्ति ने उसको गद्यवत् रूखा बना दिया। कल्पना का विशेष रंग उस पर न चढ़ पाया। इसीसे ब्रजभाषा की ललित पदावली के सम्मुख खड़ीबोली की कविता उस युग में नीरस लग रही थी। इसके लिए पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने लिखा था कि 'गरियार बैल से हल चलवाने की चेष्टा की तरह ही खड़ीबोली के शब्दों से कविता की जमीन पर संसरण का गुरुकार्य कराया गया है।'[1]

छायावादी युग में वह काव्योचित गुण से युक्त होकर सरस और प्रौढ़ बनी। वर्तमान काल के इस उत्थान में खड़ीबोली-कविता की दो धाराएँ प्रवाहित हुईं। एक में प्रचलित प्रणाली का अनुसरण किया गया। इसमें जो रचनाएँ हुईं वे प्रधानतः हिन्दी तथा संस्कृत के ही वृत्तों में हुईं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'भाषा का...स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है।'[2] इस धारा के प्रमुख कवि हैं डा० गोपालशरणसिंह, श्री अनूप शर्मा, श्री जगदम्बाप्रसाद हितैषी, श्री श्याम-नारायण पांडे आदि। श्री अनूप शर्मा का यह कवित्त कितना सरस है—

'आदिम वसन्त का प्रभात काल सुन्दर था,
आशा की उषा से भूरि भासित गगन था।
दिव्य रमणीयता से भासमान रोदसी में,
स्वच्छ समालोकित दिगंगना सदन था॥
उच्छल तरंगों से तरंगित पयोनिधि था,
सारा व्योम मंडल समुज्ज्वल अघन था।
आईं तुम दाहिने अमृत बाएँ कालकूट,
आगे था मदन पीछे त्रिविध पवन था॥'[3]

खड़ीबोली-रचना की दूसरी प्रबल धारा छायावादी कविता की है। इसे हम स्वच्छन्द-नूतन-पद्धति भी कह सकते हैं। इसमें कवियों ने शब्दों के सुन्दर चयन तथा नवीन प्रतीकों के प्रयोग द्वारा खड़ीबोली-काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय, मधुर और भावव्यंजक बनाया है। इस धारा के प्रधान

१. 'सुधा', मार्च १९२८ पृ० १८९, १९०
२. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ७९७
३. नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, १९९९ वि० पृ० २८

कवि हैं 'प्रसाद' 'पन्त' 'निराला' तथा 'महादेवी'। इनकी रचनाओं की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'कभी उर में अगणित मृदु-भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय!
अरुण कलियों-से कोमल-घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय!'[1]

—'पन्त'

'विजन-बन-बल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी
स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु-तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किए, शिथिल, पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।'[2]

—'निराला'

उक्त उदाहरणों से यह प्रकट है कि इस युग में दोनों धाराओं के भीतर खड़ीबोली कोमलकान्त-पदावली से युक्त हो गई और साथ ही थोड़े में बहुत कुछ प्रभावोत्पादक ढंग से कहने की उसमें पर्याप्त शक्ति भी आ गई। खड़ीबोली के लिए जो यह प्रवाद था कि उसकी 'खड़खड़ाहट' में ब्रजभाषा जैसा माधुर्य नहीं आ सकता वह दूर हो गया।

इस प्रकार जब छायावादी कवियों द्वारा उसकी 'खुरदुराहट' दूर की जाकर वह सरस और स्निग्ध बनाई जा रही थी, और जब वह किसी प्रकार ब्रजमाधुरी से घटकर अब प्रमाणित नहीं हो रही थी, तब भी ब्रजभाषा के समर्थक कुछ विद्वान खड़ीबोली की निन्दा ही किए जा रहे थे। प० पद्मसिंह शर्मा ने कहा कि 'जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका! यह सहृदय

१. पन्त—पल्लव, १९४२ ई० पृ० १२
२. निराला—परिमल, २००७ वि०, पृ० १६१

समाज के हृदयों में घर कर चुकी ! यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र में बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी।'[1] आपकी यह विचार धारा सन् १९२९ ई० की है जब अनेक सुन्दर, सरस और प्रौढ़ रचनाएँ जैसे, कवि पन्त का 'उच्छ्वास', 'पल्लव', 'वीणा,' निराला की 'अनामिका', बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'शकुन्तला', 'पत्रावली', 'पंचवटी', 'अनघ', 'हिन्दू', 'गुरुकुल', 'विकटभट', 'त्रिपथगा', 'शक्ति', प्रसाद जी का 'आँसू', 'झरना' (द्वितीय संस्करण), पं० रामनरेश त्रिपाटी की 'मानसी', 'स्वप्न', सियारामशरण गुप्त का 'अनाथ', 'दुर्वादल', ठा० गोपालशरण सिंह की 'माधवी', रामकुमार वर्मा का 'वीर-हमीर', सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी', आदि प्रकाश में आ चुकी थीं। इनको देखते हुए पं० पद्मसिंह शर्मा का उक्त कथन पक्षपात से रहित नहीं दिखाई देता।

आगे चलकर खड़ीबोली में और भी प्रौढ़ तथा मधुर-पदावली से युक्त रचनाएँ हुईं। जैसे 'नीहार','रश्मि','नीरजा','सांध्यगीत','यामा','दीपशिखा' (महादेवी वर्मा), 'ग्रंथि','गुंजन','युगान्त','युगवाणी','ग्राम्या' (पन्त),'परिमल','गीतिका' (निराला),'साकेत' (मैथिलीशरण गुप्त,) 'चित्ररेखा' (रामकुमार वर्मा), 'मानवी','संचिता' (गोपालशरणसिंह), 'मधुशाला', 'मधुबाला' (बच्चन), 'कामायनी' (प्रसाद), 'नूरजहाँ' (गुरुभक्तसिंह) आदि। इस युग के छायावादी कवियों ने खड़ीबोली को माधुर्य गुण से युक्त करने के लिए शब्दों की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न किया। पं० सुमित्रानन्दन पन्त लिखते हैं कि 'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों ... जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें।'[2] इसलिए इन लोगों ने भावानुकूल ऐसे ध्वन्यर्थव्यञ्जक शब्दों[3] का प्रयोग किया जो पाठकों के हृत्पट पर उसी प्रकार के भावचित्र खींच सकें या ऐसी झंकार पैदा कर सकें जो कवि का अभिप्रेय है। नादसौन्दर्य के ये दो अनुपम उदाहरण जिसमें भाव और भाषा का सामंजस्य कवि ने बड़े सुन्दर ढँग से स्थापित किया है, द्रष्टव्य हैं–

१. पद्मसिंह शर्मा—बिहारी सतसई, भाग १, सं० १९८१ वि०, पृ० ६
२. पन्त – पल्लव, १९४२ ई०, पृ० २० (प्रवेश)
३. ध्वन्यर्थव्यञ्जक शब्द—सस्मित, स्पन्दन, निर्झर, हिलोर, झंकार, कलकल, मर्मर, गुंजन, कंपन, फूत्कार, फेनिल, झरझर, अलसित, हसित, उर्मिल, स्फीत आदि।

'गरजो, हे मन्द्र, वज्र-स्वर
थर्राये भूधर-भूधर
झरझर झरझर धारा झर
पल्लव-पल्लव पर जीवन'[1]

—'निराला'

'अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत-वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त कञ्चुक-कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुण्डल
दिङ्-मण्डल !'[2]

—'पन्त'

इसके अतिरिक्त इन कवियों ने भाषा को मधुर बनाने के लिए उसको लय, ताल और संगीत से भी युक्त किया--

'जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने सन्देश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार,
अनुराग-भरा उन्माद राग;
आँसू लेते वे पद पखार !
हँस उठते पल में आर्द्र-नयन,
धुल जाता ओंठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त—

---

१. निराला—अपरा, २००३ वि०, पृ० ३०
२. पन्त—पल्लव, १९४२ ई०, पृ० ८०

लुट जाता चिर-संचित विराग,
आँखें देतीं सर्वस्व वार !'[1]
—'महादेवी'

इसलिए यह कहना पड़ता है कि छायावादी कविता की भावधारा को लेकर विद्वानों में चाहे भले ही मत-पार्थक्य हो, पर जहाँ तक भाषा की सरसता, कोमलता और लालित्य का प्रश्न है उसका उसमें अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। छायावाद से अप्रसन्न पं० रामचन्द्र शुक्ल भी लिखते हैं कि 'उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पदविन्यास इत्यादि का स्वरूप संघटित करने वाली मधुर सामग्री दिखाई पड़ी।'[2] अतः ब्रजभाषा के माधुर्य पर मुग्ध उसके कवि द्विवेदी काल तक की खड़ीबोली की कविता पर यदि चाहें तो नीरसता और कर्णकटुता के दोष लगा सकते हैं, परन्तु इस काल में उस पर ये आक्षेप व्यर्थ हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध लिखते हैं कि 'मैं मुक्त कंठ से कहता हूँ कि छायावादी कवियों ने खड़ी बोलचाल की कर्कशता और क्लिष्टता को बहुत कम कर दिया है। जैसे प्राचीन खड़ीबोली की रचनाओं का यह गुण है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और शुद्ध बना दिया, उसी प्रकार छायावादी कविता का यह गुण है कि उसने कोमलकान्त पदावली ग्रहण कर खड़ीबोली की कविता के उस दोष को दूर कर दिया, जो सहृदय-जनों को काँटों की तरह खटक रहा था।'[3]

जहाँ तक ब्रजभाषा की कोमलता एवं माधुरी का प्रश्न है यह निर्विवाद है कि उस जैसी स्निग्धता, कान्तता तथा सरसता अन्यत्र अवश्य दुर्लभ है। लेकिन ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि खड़ीबोली में अब भाव-व्यंजकता संगीतात्मकता, माधुर्य आदि की उतनी कमी नहीं रह गई थी जितना कि कुछ विद्वान उस पर नाक-भौं सिकोड़ रहे थे।

ब्रजभाषा को परम्परा से कुछ सुविधा-मूलक काव्यगत विशेषाधिकार

१. महादेवी वर्मा—यामा, १९४७ ई०, पृ० ६५
२. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि० पृ० ८९०
३. हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास; १९९७ वि०, पृ० ५९८

जिसे 'तसर्रुफात शायरी' (Poetical license) कहते हैं, प्राप्त हैं। उनके अनुसार ब्रजभाषा के कवि यथावसर रचना में पदलालित्य लाने के लिए उसके शब्दों के रूप में इच्छित परिवर्तन कर लेते हैं। खड़ीबोली के कवियों को इस प्रकार की स्वच्छन्दता न तो प्राप्त है और न उन्हें वांछनीय ही। खड़ीबोली की रचना में सदा शब्दों का शुद्ध प्रयोग ही अनुमोदनीय होता है। व्याकरण की इसी कड़ाई के कारण उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं कर्कश शब्द आ जाते हैं जो ब्रजभाषा के प्रेमियों को खटकते हैं, किन्तु भाषा का शुद्ध प्रयोग उपेक्षणीय नहीं होता। यदि खड़ीबोली का कवि अपनी रचना में भावानुभूति की सचाई को, बिना काव्यगत विशेषाधिकार का प्रयोग किए (जो उसे प्राप्त भी नहीं है) सजीव शब्दों तथा शुद्ध व्याकरण सम्मत भाषा में व्यक्त करे तो यह उसके लिए कम महत्व की बात भी नहीं है। आज की अधिकाँश खड़ीबोली की रचनाओं में हम यही देखते हैं कि उसमें ओज की विशेषता है, भावानुभूति की सचाई है, भाषा की शुद्धता और शब्दों की स्वाभाविक झंकार है। इन खड़ीबोली के कवियों में भाव और भाषा की ऐसी सुन्दर मैत्री है कि उसके शब्दों से स्वतः संगीत और माधुर्य का स्फुरण होता है। यदि कहीं श्रुतिकटु-शब्द आ भी गए हैं तो भावाभिव्यक्ति के प्रबल प्रवाह में पड़कर वे भी गतिशील हो गए हैं और उनकी कर्कशता का पता भी नहीं चलता। जैसा कि 'अहे वासुकि' का पद, जो पृ० २११ पर पीछे उद्धृत है, देखा जा सकता है। अतः पं० पद्मसिंह शर्मा के इन शब्दों का कि 'जिस भाव-हीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्ण-कटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका' अब कोई मूल्य नहीं। खड़ीबोली माधुरी में ब्रजभाषा से हेठ नहीं रह गई है।

पर, ब्रजभाषा के कवि यदि उस भाषा को जिसमें कि 'हरि ने किलकारी भरी'[1] तथा जिसकी 'माधुरी पर बनवारी बलिहारी होते हैं' आज भी हरी-

---

१. ब्रजमाधुरी

'तामैं सुर वींधि-वींधि हरि किलकारी भरी,
धारी गयी सुरुचि बिसद बंसवारी री;
गोपी-गोपगन के पुनीत-पनरोपन की,
सुरति-संगोपन की धृति मति न्यारी री।
'सुकवि नरेश' कलकल वाहिनी सी, कल—

भरी देखना चाहते हैं तो उनको उचित है कि उसमें अन्य काव्य-गुणों का भी समावेश करें अन्यथा केवल सुधावर्षी होने से ही कोई भाषा अपने अस्तित्व को सदा के लिए काव्य में बनाए नहीं रख सकती।

छन्द

खड़ीबोली के समक्ष छन्दों के चुनाव की समस्या प्रारम्भ से ही है। भारतेन्दु काल में वह लोक-गीतों तथा उर्दू की बहरों के सहारे खड़ी हुई थी। द्विवेदीकाल में छन्दों का क्षेत्र विस्तृत हुआ और उसमें ब्रजभाषा के छन्द—कवित्त, सवैया आदि तथा संस्कृत के छन्द—शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा आदि सफलतापूर्वक प्रयुक्त किए गए।

यद्यपि संस्कृत-वृत्तों और उर्दू के बहरों में खड़ीबोली की रचनाएँ सफलता पूर्वक हो रही थीं, फिर भी वे खड़ीबोली के प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ रहे थे। हिन्दी में उनका अजनवीपन दूर नहीं हो रहा था। ब्रजभाषा के छन्दों में आज दिन भी उत्तम रचनाएँ हो रही हैं, किन्तु छायावादी कवि उनको आधुनिक काल के स्वच्छन्द मनोदशा की भावाभिव्यक्ति के पूर्णतया अनुकूल नहीं पाते। अतः खड़ीबोली में ऐसे छन्दों की अब भी आवश्यकता बनी हुई थी, जिसमें उसके स्वाभाविक स्वरूप का विकास होता।

इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर छायावादी कवियों ने छन्दों में एक नवीन विधान उपस्थित किया। उनके छन्द—१. सान्त्यानुप्रास, २. भिन्नतुकान्त, तथा ३. मुक्तक-छन्द की श्रेणी में लिखे गए विविध प्रकार के हैं। सान्त्यानुप्रास की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—(क) सममात्रिक, (ख) विषममात्रिक।[1] सान्त्यानुप्रास छन्दों का विरोध प्राचीनता के प्रेमी विद्वानों ने अधिक नहीं किया है, परन्तु जब भिन्नतुकान्त छन्दों में रचनाएँ होने लगीं,

---

हस कलाधरन की कीरति-कुमारी री;
गुनन गुनागरी सुभाग अनुराग भरी,
तेरी माधुरी पै बलिहारी वनवारी री॥'

(माधुरी वर्ष ११, खंड २, संख्या १, संवत् १९८९, पृ० १)
रचियता : मातादीन शुक्ल, सुकवि नरेश।

१. सममात्रिक सान्त्यानुप्रास का उदाहरण—
'यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का,

तब इन विद्वानों को उसी प्रकार कुढ़न पैदा हुई जिस प्रकार संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में रचनाएँ होते रहने से हो रही थी। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों से भिन्न, ये भिन्नतुकान्त छन्द 'शून्य-वृत' के आधार पर हैं। इसके दो भेद हैं (क) भिन्नतुकान्त मात्रिकछन्द, (ख) भिन्नतुकान्त वर्णात्मकछन्द ।[1] भिन्न-तुकान्त रचना का विरोध द्विवेदीकाल से ही चल रहा था। इस काल में इस प्रकार के वृत्तों का प्रचार बढ़ने पर भी अभी बहुतों की रुचि इनके विपरीत थी। एक बार पं० छबिनाथ पांडे के यह कहने पर कि 'कोई कारण नहीं कि हम वही पुरानी लीक पीटते जायँ और नये-नये छन्दों का समावेश

चिर - हास अश्रुमय आनन,
रे इस मानव जीवन का।'

(सुखदुख—'पन्त')

विषममात्रिक सान्त्यानुप्रास का उदाहरण—

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।'

(भिक्षुक—'निराला')

१. भिन्नतुकान्त मात्रिकछन्द का उदाहरण—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं।'

(प्रेम पथिक—'प्रसाद')

भिन्नतुकान्त वर्णात्मक छन्द का उदाहरण—

'आह भर बोला तब लंका सुरथी—
मेट सकता है कौन विधि के विधान को ?
अमरों-मरों को कर विमुख समर में
मारा जिस शत्रु को था मैंने बाहुबल से,
बच गया देव-बल से है वह ! काल भी
भूल गया कर्म्म निज मेरे भाग्य-दोष से।'

(मेघनाथ वध—अनु० मैथिलीशरण गुप्त)

कर क्षेत्र को और भी विस्तीर्ण न करें',[1] श्री वियोगी हरि बहुत नाराज़ हुए और उत्तर में लिखा कि 'माना कि पुरानी लकीर न पीटनी चाहिए पर नई लकीर का भी कोई ठीक-ठिकाना होना चाहिए······अप्रत्यक्षरूप से आप लोग भारतीय साहित्य को योरोपीय लिबास पहनाना चाहते हैं। क्या हमारे यहाँ छन्दों की कमी है, जो नई गढ़न्त की जाय ? बेतुकी हाँकनी है तो गद्य में हाँकते जाइए। क्यों खाँमुखाँ पद्य की बदनामी उड़ा रहे हैं।'[2] इस सम्बन्ध में पं० लोचनप्रसाद पाँडे ने अपने लेख 'हिन्दी में अतुकान्त कविता' में, जो नवम 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन', बम्बई के अधिवेशन में पढ़ा गया था, लिखा था कि 'तुकान्तहीन रचना हिन्दी के प्राचीन साहित्य में भी पाई जाती है, जैसे—

१. 'हिन्दू कहौं तो मारिए, मुसलमान भी नाहिं।
पाँच तत्व का पूतरा, नानक मेरा नाम ॥'[3]
(सरस्वती, १६०१, पृ० ३२६)

२. 'मदनलाल की छोंहरी, दो टौंगन के बीच।
जमा गड़ी नौ लाख की, दो सोने की ईंट ॥'[4]
(हितकारिणी, मार्च १६१७, पृ० ४८६)

इसके अतिरिक्त आपने अतुकान्त रचना का सबसे बड़ा नमूना 'आल्हा' को बताया है, जिसके अनेक अंशों में तुकहीनता पाई जाती है, जैसे—

'बड़े लड़ैया कंचनपुर के रास्ता चलत बढ़ावैं रार।
हियाँ की बातें हियई रहि गई, अब आगे की सुनो हवाल ॥
आय गई बिरिया मड़ये की, अब भैया रे रचो विवाह।
लै-लै फौज लड़ैया धाये, उमहे बड़े-बड़े सरदार ॥'[5]

इसलिए अतुकान्त रचनाएँ जैसा वियोगीहरि जी का ख्याल था, बिल-

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग १०, अङ्क १ संवत् १६७६, पृ० १४
२. वही पृ० १५
३. नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बम्बई, कार्य विवरण, दूसरा भाग, संवत् १६७६, पृ० ६१
४. वही
५. वही

कुल 'नईगढ़न्त' नहीं थीं। यह सत्य है कि अतुकान्त रचनाएँ इस समय हिन्दी में अंग्रेजी के 'शून्यवृत्त' (Blank Verse) तथा बंगला के 'अमित्राक्षर छन्दों की देखा-देखी खड़ीबोली में गृहीत हुईं, क्योंकि खड़ीबोली के कवियों को ऐसे छन्दों की आवश्यकता बनी हुई थी जिसमें शब्दों के रूप को विकृत किए बिना भाव और भाषा का सामंजस्य सुन्दर रीति से स्थापित किया जा सके। इसीसे तुक का बन्धन इन लोगों को कृत्रिम लगा। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'मेघनाथ वध' में 'मित्राक्षर-छन्द' के सम्बन्ध में इस प्रकार निवेदन किया है—

'मैं तो उसे भाषे, क्रूर मानता हूँ सर्वथा
दुख तुम्हें देने के लिए है गढ़ी जिसने
मित्राक्षर-बेड़ी। हाय! पहनने से इसने
दी है सदा कोमल पदों में कितनी व्यथा!

जल उठता है यह सोच मेरा जी प्रिये,
भाव-रत्न-हीन था क्या दीन उसका हिया,
झूठे ही सुहाग में भुलाने भर के लिए
उसने तुम्हें जो यह तुच्छ गहना दिया?

रँगने से लाभ क्या है फुल्ल शतदल के?
चन्द्रकला उज्वला है आप नीलाकाश में।
मन्त्रपूत करने से लाभ गंगा-जल के?
गंध ढालना है व्यर्थ पारिजात-वास में।

प्रतिमा प्रकृति की-सी कविता असल के
नीना वधू-तुल्य पद क्यों हो लौह-पाश में?'[1]

जहाँ हिन्दी में अभी 'विषममात्रिक सानुप्रास' छन्द में लिखी हुई कविताएँ ही क्षम्य नहीं थीं, वहाँ अमित्र-रचना का जो गण, मात्रा और वर्ण तीनों वृत्तों में लिखी जा रही थीं, विरोध होना स्वाभाविक था। पं० पद्मसिंह शर्मा 'संयुक्त प्रान्तीय षष्ठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के सभापति मनोनीत किए गए थे। आप अपने भाषण में कहते हैं कि 'आजकल छन्दशास्त्र की पूरी

१. मैथिलीशरण गुप्त—मेघनाथ वध, १९२७ ई०, (पुस्तक के प्रारम्भ में)

छीछालेदर हो रही है। किसी को 'सुथराशाही' छन्द पसन्द है तो वह उसी काँटे में सब रसों को बैठा तोल रहा है, किसी को 'शार्दूल-विक्रीड़ित' की चाल भा गई है तो वह उसी से सब विषयों का शिकार खेलता फिरता है। हिन्दी के पूरे पाँच छन्दों पर तो अधिकार नहीं और संस्कृत के 'अनुष्टुप' और 'आर्या' छन्दों के अकबरी गज से हिन्दी कविता की गर्दन नापी जा रही है। कोई फारसी बहरों की लहरों में पड़ा बह रहा है, कहीं बँगला से 'पयाल' और मराठी से 'अभंग' माँगा जा रहा है! मानो हिन्दी छन्दों का दिवाला निकल गया है। वेद की ऋचाओं का अनुवाद दादरे और ठुमरी-टप्पों में हो रहा है, अजब तमाशा है!···तुक न मिली, काफ़िया तंग हो गया तो इस झंझट में पड़ने की भी क्या जरूरत, बेतुकी उड़ाने लगे! जब संस्कृत में बेतुकी कविता होती है, अँग्रेजी में 'ब्लैंकवर्स' हैं तो फिर हिन्दी में बेतुकी वह क्यों न हो।'[1]

इसी प्रकार का विरोध बंगला साहित्य में भी अभिन्नाक्षर छन्दों के सम्बन्ध में हुआ था। 'माइकेल मधुसूदनदत्त' के 'मेघनाथ वध' को, जो इस समय बंग भाषा का 'मुकुटमणि' माना जाता है, अपदस्थ करने के लिए 'छछूँदरवध' काव्य तक लिखा गया था—

> 'एकदा चतुष्पदी छछूँदर थी घूमती
> पत्ते खड़काती हुई। पीछे पुष्प गुच्छ-सी
> पुच्छ हिलाती थी अहा! सुश्यामांग बंग में'[2]

इसीसे पं० पद्मसिंह शर्मा का भी उक्त विरोध देखकर आश्चर्य नहीं होता।

तीसरे प्रकार का छन्द जो इस उत्थान काल में गृहीत हुआ, वह है 'स्वच्छन्द' या 'मुक्तछन्द'। इसके उद्भावक हैं श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' उनके मतानुसार 'मुक्तछन्द वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त हो। ···मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियमन राहित्य उसकी मुक्ति।'[3] 'निरालाजी' 'प्रगल्भ प्रेम'

१. पद्मसिंह शर्मा—पद्मपराग, भाग १, सं० १९८६ वि०, पृ० ३२३, ३२४
२. मैथिलीशरण गुप्त—मेघनाथ वध, १९२७ ई०, पृ० ७ (भूमिका)
३. निराला—परिमल, २००७ वि०, पृ० २१ (भूमिका)

शीर्षक एक कविता में अपनी कविता-प्रेयसी से निवेदन करते हैं—

'आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्ध-विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !
गजगामिनि, यह पथ तेरा संकीर्ण
कण्टकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार !
काँटों में अञ्चल के तेरे तार निकल जायेंगे
और उलझ जायेगा तेरा हार
मैंने अभी-अभी पहनाना
किन्तु नज़र भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया ।'[1]

छायावादी कवियों को उनकी उन्मुक्त भावना की अभिव्यक्ति के लिए 'बन्धनमय छन्दों की राह छोटी' दिखाई दी । उनको छन्दों के नियम-बद्धता के काँटों में कविता देवी के अञ्चल उलझ जाने का डर था । इसीलिए छन्दबन्ध भंग किया गया । हिन्दी काव्य में अतुकान्त कविता (संस्कृत छन्दों) के प्रवेश से परम्परागत छन्द-बन्धन ढीले पड़ ही रहे थे कि 'मुक्तछन्द' और भी क्रान्तिकारी प्रतीत हुए ।

'निराला' एक युगप्रवर्तक विद्रोही के रूप में हिन्दी-काव्य संसार के सामने आए । श्री नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं कि 'निराला अन्तःपुर के समस्त वैभव और उसकी सारी परतन्त्रता से मुक्त कर कवितादेवी को खुली हवा में लाए । उन्होंने कविता-नारी के बुरके या परदे को दूर कर दिया । परदा-प्रथा के समर्थकों के लिए यह एक अनहोनी और असह्य बात थी ।'[2] प्रारम्भ में इसका कड़ा विरोध हुआ । कुछ लोगों ने उसकी असमान पँक्तियों को देखकर उसको 'केंचुआ', 'रबर', 'कंगारू' आदि नामों से विकृत किया । इनके उत्तर में 'निरालाजी' अपनी पुस्तक 'परिमल' की भूमिका में 'यजुर्वेद' से यह मंत्र उद्धृत करते हुए—

---

१. निराला—अनामिका, २००५ वि०, पृ० ३४
१. नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, २००७ वि०, पृ० २६

'सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण—
मस्नाविरग्वंशुद्धमयापविद्धम्;
कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भू—
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।'

लिखा है कि 'चौथी पंक्ति को देखिए, कहाँ तक फैलती चली गई है। फिर भी किसी ने आज तक आपत्ति नहीं की। शायद इसके लिए सोच लिया है कि साक्षात् परमात्मा आकर लिख गए हैं। अजी, परमात्मा स्वयं आकर 'रबर छन्द' और 'केंचुआ छन्द' लिख सकते हैं, तो मैंने कौन-सा कसूर कर डाला !'[1] इसी प्रकार पं० अवध उपाध्याय भी छंद और कविता के सम्बन्ध को अन्योन्याश्रित नहीं बताते। आपका कहना है कि 'जब किसी कवि के हृदय में भाव की प्रबल तरंगें उठेंगी,...तब उसके मुँह से कविता स्वयं निकल पड़ेगी ... ऐसी दशा में यदि कवि छन्दों की मात्राओं और अक्षरों को गिन-गिन कर न रखे तो इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है।'[2] किन्तु, छन्द कविता का एक अनिवार्य अङ्ग है या नहीं ? यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। 'लय' और 'ध्वनि' जो मुक्त-छन्द की कविता का प्राण है वह भी पं० रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध आदि विद्वानों द्वारा बन्धन ही माना गया है।

इस पर चल रहा विरोध शीघ्र शान्त न हुआ। पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' ने 'सुधा' जुलाई, १९३४ई० में लिखा कि 'वह (खड़ीबोली) तो गठियावाई-पीड़ित मनुष्य की तरह शब्दों को ज्यों का त्यों रखने में विवश है। छन्द की ध्वनि गति चाहती है कि वह अमुक स्थान पर लघु स्वर ही के साथ गमन करे, पर खड़ीबोली के पास दीर्घ स्वर—'थे', 'था', 'ने', 'हूँ'—हैं, उसे इन छकड़ों की घरघराहट में अपनी गति को भूल जाना पड़ता है, खास-कर पूर्णवृत्त छन्दों में।....जब खड़ीबोली ने अपनी इस कमजोरी की ओर ध्यान दिया तो उनका एक भाग छन्द मर्यादा का उलंघन कर, उसके विरुद्ध बागी बन गया और लगा दौड़ाने 'मोठर' और 'हवाई जहाज़' छन्द।'[3] पं० रामेश्वर शर्मा ने अपने मत के समर्थन में अंग्रेज़ी के विद्वान मि० 'काड-

१. निराला—परिमल, २००७ वि०, पृ० २३ (भूमिका)
२. अवध उपाध्याय—हिन्दी साहित्य, १९३० ई०, पृ० ५८, ५९
३. सुधा, जुलाई, १९३४ ई०, पृ० ५३४, ५३५

वेल' के विचार[1] को उद्धृत करते हुए अपने लेख 'मुक्तछन्द और हिन्दी की कविता' में एक नई युक्ति दी। आपने मुक्तछन्द की उद्भावना को बुर्जुआई-विद्रोह का परिणाम बताते हुए लिखा कि 'मुक्तछन्द के मूल में यही बुर्जुआई विद्रोह है...निराला जी के व्यक्तित्व के नाते ही कोई इसे प्रगतिशील मान ले फिर बात ही दूसरी है। यह एक अराजकतावादी प्रवृत्ति थी।'[2]...

इस प्रकार विरोध होते रहने पर भी वह लोक-प्रिय होता जा रहा है और कथात्मक काव्य के लिए बहुत ही उत्तम समझा जाने लगा है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि खड़ीबोली को अब ब्रजभाषा, उर्दू तथा संस्कृत के छन्दों के सहारे खड़ी होने की आवश्यकता नहीं रह गई है। वैसे इन छन्दों में भी पर्याप्त रचनाएँ हो रही हैं, किन्तु खड़ीबोली का छन्द-क्षेत्र इस समय विस्तृत है। यदि विरासत में मिले ब्रजभाषा के छन्दों का उससे कहीं मेल नहीं खाता, तो अब इसका पश्चाताप उसको नहीं है। इसलिए पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' का पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को सम्बोधन करके बड़े गर्व से इस प्रकार चुनौती देना 'यदि चौबे जी खड़ीबोली को सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं तो कृपा करके 'आपीड़' नामक छन्द में खड़ीबोली की रचना कर दिखावें अथवा किसी खड़ीबोली के सिद्धकवि से कहें कि वह अपनी काव्यकला की परीक्षा दे',[3] अर्थहीन था। खड़ीबोली परमुखापेक्षी नहीं रह गई है। छन्दों की कमी अब उसे नहीं खटकती। उसकी वाणी आज मुक्त है।

सारांश

काव्य-माध्यम के लिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली का यह विवाद द्विवेदी-

---

१. 'काडवेल' का विचार—

'We have already studied in outlines these changes in attitude towards the matrical technique during the movement of Bourgeois English poetry and it is obvious that the final movement towards Free-Verses reflects the final anarchic bourgeois attempt to abandon all social relations in a blind negation of them because man has completely lost control of his social relationships.'

२. वीणा, नवम्बर १९५१, पृ० ५२

३. सुधा, मई १९३५, पृ० ३०६

युग के उपरान्त धीमा पड़ ही रहा था कि छायावाद पर होने वाली आलोचना-प्रत्यालोचना ने उसमें पुनः तेजी ला दी। छायावाद की कविता के विरोध में यदि एक दल ने आधुनिक नवीन प्रवृत्ति के कवियों की काव्य-प्रतिभा पर बुरी तरह से आक्रमण किया कि 'हाँक दो, न घूम-घूम खेती काव्य की चरें' (पाखंड परिच्छेद-रामचन्द्र शुक्ल)[1], तो दूसरे दल ने ब्रजभाषा का विरोध करते हुए केवल उसके शृंगारी काव्य पर ही ध्यान रखा, और प्रातः स्मरणीय 'सूर' तक को कलंकित करने और यह लिखने में कि 'उन्होंने अपने समस्त ज्ञान का सदुपयोग अधिकांशतः राधा और कृष्ण की जोड़ी का वर्णन करने में ही कर डाला।[2]' (जगन्नाथप्रसाद मिश्र, सम्पादक, विश्वमित्र)' रंचमात्र भी संकोच नहीं किया। 'पल्लव' की भूमिका इसी दलबन्दी का परिणाम है। १८ वें 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' में साहित्यिक विषयक 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' के लिए निर्णायक समिति के समक्ष जो पुस्तकें उपस्थित थीं, उनमें 'पल्लव' भी था। पुरस्कार 'पल्लव' पर न दिया जाकर श्री वियोगी हरि की 'वीर सतसई' पर दिया गया। जब कि उन निर्णायकों में पं० शुकदेवविहारी मिश्र का विचार था कि 'मैं हिन्दी में केवल नवरत्नों को ही महाकवि मानता आया हूँ, किन्तु 'पल्लव' को पढ़कर मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि यह बालक महाकवि है।'[3] इस प्रकार दलबन्दी के चक्कर में कवि और काव्य पर जो पक्षपातपूर्ण विचार हो रहे थे, वे साहित्य के लिए हितकर नहीं थे। इस दलबन्दी का अन्त छायावाद पर होरहे विवाद की समाप्ति के साथ हुआ और तभी काव्य-भाषा के इस आन्दोलन को भी विश्राम मिला।

इस काल में ब्रजभाषा का पक्ष समर्थन करने वाले प्रमुख विद्वानों में श्री वियोगीहरि, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० किशोरीदास वाजपेयी, श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० कृष्णविहारी मिश्र, श्री दुलारेलाल भार्गव, चतुर्वेदी उमरावसिंह पांडे, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि हैं। पर इन लोगों ने इस बात का प्रयत्न नहीं किया है कि खड़ीबोली काव्य-साहित्य की व्यापक भाषा न हो। उनके विरोध में केवल दो बातें परिलक्षित होती हैं। प्रथम, उनका विरोध कविता की नवीन काव्य-धारा से था। दूसरे, खड़ीबोली के पक्ष-

---

१. रामधारीसिंह दिनकर—मिट्टी की ओर, १९४६ ई०, पृ० ५

२. विश्वमित्र, अक्टूबर, १९३६, पृ० ११०, १११

३. रामधारीसिंह दिनकर—मिट्टी की ओर, १९४६ ई०, पृ० ६

समर्थक विद्वानों के ब्रजभाषा के काव्य-साहित्य तथा उसके प्राचीन कवियों की कुत्सा करने पर, इन लोगों ने भी खड़ीबोली की कविता तथा कवियों की कटु आलोचना की है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इस युग में इस विवाद में केवल इसलिए भाग लिया है कि वे यह नहीं चाहते थे कि आलोचना तथा साहित्यिक विवाद के नाम पर अनर्गल बातें कही जाएँ। उन्होंने 'विभूतिमयी ब्रजभाषा' नामक एक विस्तृत लेख लिखकर ब्रजभाषा के पक्ष का बड़ी विद्वता के साथ समर्थन किया है। इसी प्रकार 'सन्दर्भ सर्वस्व' में खड़ीबोली का पक्ष लेते हुए नवीनता की निन्दा करने वालों से उदार होने के लिए अनुरोध किया है। इस काल के महान् कलाकारों में से 'प्रसाद' इस विवाद में भाग लेते नहीं दिखलाई देते। बाबू मैथिलीशरण गुप्त बहुत कम बोले हैं। जहाँ बोले भी हैं वहाँ उनकी वाणी बहुत संयत है। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने खड़ीबोली का पक्ष समर्थन करते हुए भी ब्रजभाषा के प्राचीन कवि और कविता पर व्यर्थ का कीचड़ नहीं उछाला है। यह इनकी बहुत बड़ी विशेषता रही है; बल्कि 'पन्त' के 'पल्लव' के प्रवेश का जो ब्रज-भाषा-काव्य की एक कटु आलोचना है, अपनी पुस्तक 'प्रबन्ध पद्म' में उत्तर देते हुए ब्रजभाषा को निन्द्य नहीं बतलाया है। ब्रजभाषा पर तीव्र आलोचना करने वालों में से पं० सुमित्रानन्दन पन्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० वेंकटेश-नारायण तिवारी, श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर', पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक, विश्वमित्र), श्री गोवर्द्धलाल आदि हैं। इनके अतिरिक्त खड़ीबोली का पक्ष समर्थन करने वालों में से श्री रामनारायण चतुर्वेदी, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री अवध उपाध्याय, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, श्री सोहनलाल द्विवेदी आदि उल्लेखनीय हैं।

इस विवाद में भाव-पक्ष को लेकर जो विरोध हुआ वह महत्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि विरोध तो उस अन्तर को दूर करने के लिए था जो एक ही साहित्य में दो भाषाओं के प्रयोग से उत्पन्न हो गया था। यदि, भावपक्ष को लेकर विवाद न हुआ होता तो इतनी कटूक्तियों का प्रयोग न होता। इन लोगों ने कहीं-कहीं तो उस जड़ पर ही आघात किया है जो हिन्दी काव्य-साहित्य की आधार-भित्ति है।

अब भी इस युग में जो कभी-कभी किसी को हम यह कहते हुए सुनते हैं कि—

'सुजन सरस घनश्याम अब, दीजे रसु बरसाय।
जासों ब्रजभाषा लता, हरी भरी लहराय॥'[1]

तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह काव्यभाषा के आसन पर पुनः ब्रजभाषा को स्थापित करना चाहता है। ब्रजभाषा अब भी एक प्रादेशिक बोली है, यदि वह उसकी लता को हरी-भरी रखना चाहता है, तो इसमें न तो खड़ीबोली की किसी प्रकार की हानि है और न उससे प्रतिद्वन्द्विता ही। इसके अतिरिक्त किसी युग की समाप्ति के साथ उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ शीघ्र समाप्त नहीं हो जातीं। ब्रजभाषा के कवि यदि उसमें अब भी रचनाएँ करते हैं, तो उसके विरोध की आवश्यकता नहीं रह गई है।

इसी प्रकार, ब्रजभाषा के कवि जो उसकी साहित्यिक-गरिमा दिखलाकर खड़ीबोली की अब भी निन्दा किए जा रहे हैं वह भी उचित नहीं है। क्योंकि, यह जैसा पं० श्रीराम शर्मा, सम्पादक 'विशालभारत' लिखते हैं कि 'पिदरेमन सुल्ता बूद तुरा चोस्त' (मेरा बाप बादशाह था पर तू क्या है?)[2] वाली बात है। ब्रजभाषा आधुनिक युग की माँग को पूरी नहीं कर सकी है। ब्रजभाषा की आधुनिक रचनाएँ 'बुद्धचरित', 'वीर सतसई', 'दैत्यवंश', 'प्रताप-चरित', 'दुलारे दोहावली', 'ब्रजभारती', 'रावण महाकाव्य' आदि को देखने से पता चलता है कि उसमें वह प्रगतिशीलता और सामयिकता नहीं है जो अपेक्षित है, अथवा जो खड़ीबोली में है। यही कारण है कि वह प्रभावहीन होती जा रही है और अब खड़ीबोली का स्थान नहीं ले सकती।

———

१. विशाल भारत, फ़रवरी, १९४८, पृ० १०२
२. विशालभारत, फरवरी, १९४८, पृ० १०४ (नोट)

छठा अध्याय

भाषा की दृष्टि से काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली का मूल्याङ्कन

व्याकरण की दृष्टि से ब्रजभाषा और खड़ीबोली में अन्तर

शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न दोनों—ब्रजभाषा और खड़ीबोली—हिन्दी-प्रदेश के पश्चिमी भाग की एक ही काल की भाषाएँ हैं। दोनों का उद्गम एक होने पर भी स्थान-भेद के कारण व्याकरण की दृष्टि से उनमें बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर वर्ण, रूप, वचन, कारक, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय आदि सब में विद्यमान है, जो हिन्दीभाषा-विशेषज्ञों द्वारा संक्षेप में इस प्रकार निर्धारित किया गया है।[1]

वर्ण-भेद

१. बहुधा खड़ीबोली के ड़, ण, य, ल, व तथा आदिगत श, क्ष और 'ऋ' के स्थान पर ब्रजभाषा में क्रमशः र, न, ज, र, ब, स, छ और 'रि' हो जाते हैं ; जैसे, पड़ा-परयो, गुण-गुन, यमुना-जमुना, पीपल—पीपर, विशेष—बिसेख, शरण—सरन, शिक्षक—सिच्छक तथा ऋतु—रितु।

२. व्यञ्जनों का पञ्चम-वर्ण ब्रजभाषा में अनुस्वार बन जाता है ; जैसे, पङ्कज—पंकज, गुञ्जन—गुंजन, सन्त—संत, सम्वत्—संवत्।

३. उर्ध्वगामी 'रकार' ब्रजभाषा में सस्वर हो जाते हैं ; जैसे, कर्म—करम, धर्म—धरम। इसी प्रकार हलन्त वर्णों का भी ब्रजभाषा में सस्वर प्रयोग किया जाता है; जैसे, विद्वान्—विद्वान, वृहत्—वृहत आदि।

१. यहाँ ब्रजभाषा और खड़ीबोली की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ दिखलाने में 'हिन्दी व्याकरण'—कामताप्रसाद गुरु, 'ब्रजभाषा का व्याकरण'—किशोरीदास वाजपेयी, 'बुद्ध चरित्र' (भूमिका)—पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'ब्रजभाषा व्याकरण'-डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दीभाषा और साहित्य का विकास'—हरिऔध, 'हिन्दी भाषा'—बाबू श्यामसुन्दरदास, बी० ए० आदि पुस्तकों से सहायता ली गई है।

४. कुछ शब्दों के मध्य का 'व' और 'य' ब्रजभाषा में क्रमशः 'औ' और 'ए' हो जाते हैं; जैसे, पवन—पौन, नयन—नैन आदि।

रूप-भेद

खड़ीबोली की अधिकाँश आकारान्त संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण, भूत-कृदन्त तथा कहीं-कहीं वर्तमान कृदन्त भी ब्रजभाषा में ओकारान्त होते हैं; जैसे,

संज्ञा : सपना—सपनो, तमासा—तमासो आदि।
सर्वनाम : तेरा—तेरो, अपना—अपनो आदि
विशेषण : काला—कारो, बड़ा—बड़ो आदि
क्रिया : आया—आयो, किया—कियो आदि।

बचन-भेद

ब्रजभाषा के कारक-चिह्नग्राही बहुवचन के रूपों में खड़ीबोली के समान 'ओं' का प्रयोग न होकर 'न', 'नि' और 'नु' का प्रयोग होता है; जैसे, बालकों को—बालकन को, कटाक्षों से—कटाछनि सों, दृगों से—दृगनु सों आदि। ईकारान्त शब्दों में पूर्ववर्ती वर्ण को ह्रस्व करके 'याँ' और अकारान्त व आकारान्त में क्रमशः 'ऐ', 'ए' का प्रयोग करते हैं; जैसे, नदरानी—नदरनियाँ, आँख—आँखैं, घोड़ा—घोड़े आदि।

कारक-भेद

ब्रजभाषा के कारक चिन्ह खड़ीबोली से भिन्न हैं; जैसे,

	खड़ीबोली	ब्रजभाषा
कर्ता	ने (विकारी)	ने (विकारी)
कर्म	को	को, कौ, कों, कौं, कूं, कुं, हिँ, कहँ
करण	से	से, सों, सौं, ते, तैं
सम्प्रदान	को	को, कों, कौ, कौं, कूं, कुं, हिँ
अपादान	से	से, सों, सौं, ते, तैं
सम्बन्ध	का, के, की	को, कौं, कै, कें, कै, कैं, की
अधिकरण	में, पर	में, मैं, मो, पै, पर, माँहि, माँझ, मंहँ, मधि

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ब्रजभाषा और खड़ीबोली की विभक्तियों के सम्बन्ध में एक स्थल पर लिखते हैं कि 'खड़ीबोली की विभक्तियाँ—'को,' 'के', 'लिए', 'से,' 'का', 'के', आदि ब्रजभाषा की 'हिं', 'कों', 'से', 'सों', 'कहँ' आदि से समता की स्पर्द्धा नहीं कर सकतीं। खड़ीबोली में एक ही विभक्ति मधुर है—'में', परन्तु वह भी ब्रजभाषा की 'मँहँ' की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है।'[1]

सर्वनाम-भेद

खड़ीबोली की अपेक्षा ब्रजभाषा के सर्वनामों में अधिक रूपान्तर होता है; जैसे—

	खड़ीबोली	ब्रजभाषा
१. पुरुषवाचक		
उत्तम—	मैं, हम	मैं, हों, हौं, हुँ, मो, मौं, हम
मध्यम-	तू, तुम	तू, तूँ, तैं, तें, तो, तुम
२. अन्यपुरुष तथा	यह, ये	यह, एहि, या, ये, इन
निश्चयवाचक	वह, वे	वह, सो, वा, ता, तेहि, वे, ते, उन, तिन
३. निजवाचक	आप	आप, आपु, आपुन
४. सम्बन्धवाचक	जो	जो, जौन, जा, जे, जिन
५. प्रश्नवाचक	कौन, क्या	कौन, को, का, किन
६. अनिश्चयवाचक	कोई	कोऊ, कोय, काहू, कोई
	कुछ	कछु, कछू, कछूक
	एक, सब	एक, एकनि, सब, सबन
	और	और, औरन

क्रिया-भेद

खड़ीबोली की साधारण क्रियाएँ केवल 'ना' से अन्त होने वाली होती हैं; जैसे, लिखना, पढ़ना, आना, जाना आदि। परन्तु ब्रजभाषा की क्रियाएँ प्रायः 'नो' 'न' और 'बो' से अन्त होने वाली होती हैं; जैसे,

---

१. निराला—प्रबन्धपद्म, १९९१ वि०, पृ० १०१, १०२

'नो' से अन्त होने वाली—दीनो, लीनो, करनो आदि

'न' से अन्त होने वाली—आवन, गवन, लेन, देन आदि

'बो' से अन्त होने वाली—निहारिबो, बिगारिबो, झिझकारिबो आदि

ब्रजभाषा की क्रियाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यय लगाकर एक ही अर्थ को सूचित करने वाले अनेक शब्द बनाए जाते हैं। भूतकालिक कृदन्त बनाने के लिए पुलिंग एकवचन में चार प्रत्यय 'ओ', 'औ', 'यो', 'यौ' का प्रयोग होता है; जैसे, कीनो, कीनौ, कियो, कियौ जब कि खड़ीबोली में केवल 'किया' का व्यवहार पाया जाता है। खड़ीबोली में आशार्थ क्रियाएँ जहाँ अपने मूलरूप में आती हैं; जैसे, 'तुम जाना' वहाँ ब्रजभाषा में 'इयो' प्रत्यय लगता है; जैसे, 'तू जइयो' आदि।

ब्रजभाषा की सहायक-क्रियाओं में भी अनेक रूप भेद होते हैं, जैसे,

	खड़ीबोली	ब्रजभाषा
वर्तमान काल—		
उत्तम पुरुष	हूँ, हैं	हौं, हों, हूँ, हैं
मध्यम पुरुष	है, हो	है, हौ
अन्यपुरुष	है, हैं	है, अहै, अहहि, हैं, अहैं, अहहिं
भूत काल		
उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष	था, थे	हो, हे, हतो, हुतो, हुतौ, हतौ, हते, हुते
	थी, थीं	ही, हुती, हती, हीं, हुतीं
भविष्य काल—		
उत्तम पुरुष—	होऊँगा, होंगे, होवेंगे	ह्वैहौं, होइहौं, ह्वैहैं, होइहैं
मध्यम पुरुष—	होवेगा, होओगे, होगे	ह्वैहै, होइहै, ह्वैहौ
अन्य पुरुष—	होगा, होवेगा, होंगे, होवेंगे, होऊँगी, होगी, होवेगी, होवेंगी	ह्वैहै, होइहैं, होयगो, ह्वैयगो, होहुगे, होहिंगे, होंयगे, होयगी, ह्वैहैं

अव्यय-भेद

सर्वनाम और क्रिया की भाँति ब्रजभाषा के कुछ अव्ययों में भी अधिक रूपान्तर होते हैं, जैसे

खड़ीबोली	ब्रजभाषा
यहाँ	इहाँ, इत, इतै, ह्याँ
वहाँ	तित, तितै, तहाँ, उहाँ, उत, ह्याँ
जहाँ	जहाँ, जित, जितै, जहँ, जहवाँ
कहाँ	कहाँ, कित, कितै, कहँ, कतहूँ, कहूँ
जब	जब, जबै, जबहिं
ऐसा, ऐसी	ऐसौ, ऐसी, अस, यों, इमि, ऐसे

जब तक (१८ वीं शताब्दी तक) हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा का प्राधान्य था और खड़ीबोली साहित्य-क्षेत्र से उपेक्षणीय थी, तब तक एक ही साहित्य में दोनों भाषाओं—ब्रजभाषा और खड़ीबोली—के व्याकरण का यह अन्तर लोगों को खटका नहीं था। खड़ीबोली के व्याकरण के सीखने की किसी को आवश्यकता प्रतीत न हुई। 'अवधी' ने थोड़ा शिर १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में उठाया अवश्य था, परन्तु वह ब्रजभाषा से अधिक काल तक स्पर्धा न कर सकी। एक-दो रचनाओं जैसे, जायसीकृत 'पद्मावत' तथा तुलसीकृत 'रामचरितमानस', को छोड़कर उसमें पुनः अन्य उत्तम रचनाएँ नहीं हुई। इसीसे 'अवधी' का भी एक अलग से व्याकरण सीखने की किसी को आज तक विशेष आवश्यकता न पड़ी। १८वीं शताब्दी के उपरान्त जब खड़ीबोली-गद्य का प्रवर्द्धन प्रारम्भ हुआ और भारतेन्दु युग के कवियों ने उसका बहुत ही साधुरूप प्रस्तुत किया, तब साहित्य में दो भाषाएँ—एक पद्य और दूसरी गद्य में—बराबर व्यवहृत होने लगीं। दोनों भाषाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी उनकी रूपावली में, जैसा ऊपर दिखलाया गया है, बड़ा अन्तर है। यह अन्तर नीचे के एक पद्य (ब्रजभाषा) और एक गद्य (खड़ीबोली) के उदाहरणों से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

पद्य (ब्रजभाषा)

'कैसें भ्रमर चुंबन करत।
नागकेसरि को सुअकंन रहसि रहसि हि भरत॥
सिरस फूलन कान धरि बनयुवति मनकों हरत।
देत शोभा परम सुन्दर सरस ऋतु लखि परत॥'[1]

('शकुन्तला'—राजा लक्ष्मणसिंह)

१. सरस्वती, जुलाई, १६०० ई० पृ० २१०

गद्य (खड़ीबोली)

'देखो भौंरे कैसे धीरे-धीरे नागकेशर को अङ्कों में भरते और रस लेते हैं। बनवासिनी नवयुवतियाँ सिरस के फूलों को किस प्रकार कानों पर धारण करती और मन को हरण करती हैं! यह ऋतु बड़ी सुन्दर दिखाई पड़ती है।'

ब्रजभाषा का 'नागकेसरि' खड़ीबोली में 'नागकेशर' बन गया है। ब्रजभाषा में 'अंक' और 'फूल' के बहुवचन' 'अंकन' और 'फूलन' ने खड़ीबोली में 'अङ्कों' और 'फूलों' का रूप ले लिया है। खड़ीबोली में 'अङ्कों में' 'सिरस के फूलों को' जैसे कारक-चिन्हयुक्त व्यवहार ही व्याकरण-सम्मत माने जाएँगे, परन्तु ब्रजभाषा में कारणों का लोप क्षम्य है। 'रहसि-रहसि' शब्द का प्रयोग खड़ीबोली में नहीं होता। ब्रजभाषा की क्रियाएँ 'करत' 'भरत' 'धरि' 'हरत' 'परत' खड़ीबोली में क्रमशः 'करते' 'भरते' 'धारण करती' 'हरण करतीं' 'दिखाई पड़ती' हो गई हैं। 'शोभा' और 'ऋतु' जो पद में लिखे गए हैं वे ब्रजभाषा के स्वाभाव के प्रतिकूल हैं। उसमें 'सोभा' और 'रितु' लिखना ही समीचीन समझा जाएगा।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि ब्रजभाषा और खड़ीबोली की रूप-रचना बहुत कुछ अलग-अलग है, जिनका बोध प्राप्त किए बिना, दोनों भाषाओं का समान व्यवहार एक ही साहित्य के भीतर कष्ट साध्य है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली का यह आन्दोलन चला था; किन्तु ब्रजभाषा की काव्यगत विशेषताओं ने ब्रजभाषा के कुछ कवियों को २० वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक इस भाँति वश में किए रखा कि वे बराबर यही विरोध करते रहे कि खड़ीबोली में (१) लम्बे-चौड़े क्रियापद (२) विभक्तियों का अटल साम्राज्य तथा (३) शब्दों का शुद्ध रूप में व्यवहार होने के कारण उसमें सरस कविता लिखना सम्भव नहीं है। बात सत्य थी, पर एक ही साहित्य के भीतर दो भाषाओं से परिचय प्राप्त करने की अस्वाभाविकता तथा कठिनाई भी उससे कम सत्य न थी। यदि ब्रजभाषा का उल्लेखनीय विकास गद्य में नहीं हुआ और न इसकी अब कोई सम्भावना ही थी तो इस गद्य युग में गद्य की भाषा (खड़ीबोली) का साहित्य पर पूर्ण अधिकार कर लेना तथा सर्वमान्य होना निश्चित था।

ब्रजभाषा की भाषा सम्बन्धी काव्योपयुक्त विशेषताएँ

यहाँ ब्रजभाषा की भाषा सम्बन्धी काव्योपयुक्त उन प्रधान विशेषताओं पर भी संक्षेप में विचार करना उचित है जो कवियों के मन को अधिक काल तक अपनी ओर आकर्षित करती रहीं।

१. ब्रजभाषा में एक ही अर्थ को सूचित करने वाले संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय आदि में अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होता है; जैसे संज्ञा में 'कृष्ण' के लिए कान्ह, कान्हा, कन्हैया, कान्हर आदि का; सर्वनाम में 'तू' के लिए तू, तूँ, तैं, तो आदि का; 'देना' क्रिया के सामान्यभूत-काल में दीन्ह्यो, दीन्हों, दयो, दीनौं, दियो आदि का; तथा अव्यय में 'यहाँ' के लिए इहाँ, इत, इतै, ह्याँ आदि का। इससे ब्रजभाषा के कवियों को पद-रचना में यह सुविधा होती है कि छन्द में जब जहाँ जिस लघु, दीर्घ मात्रा वाले शब्द की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ उसी शब्द से काम ले लेते हैं।

२. ब्रजभाषा की क्रियाओं में 'लाघव' है जो काव्य-रचना के लिए बहुत ही उपयुक्त होता है। खड़ीबोली में 'देख करके' इस इतनी विस्तार वाली क्रिया के लिए ब्रजभाषा में 'लखि,' 'निरखि', 'विलोकि' या 'अवलोकि' यथावसर काम दे देते हैं। तात्पर्य यह कि केवल 'इकार' लग जाने से 'करके' का अर्थ निकल आता है। इसी प्रकार 'प्रणाम करता है' के स्थान पर ब्रजभाषा में केवल 'नमत' शब्द से ही काम चल जाएगा। यही कारण है कि ब्रज-भाषा के छोटे-छोटे छन्दों में बड़े-बड़े भावों का समावेश पाया जाता है।

३. ब्रजभाषा का यह सर्वमान्य नियम है कि 'गुरु लघु, लघुगुरु होत हैं निज इच्छा अनुसार', जैसे

क. 'पद्मिनि उरजनि पर लसत मुकुतमाल युत ज्योति'[1]

ख. 'अघ-ओघ-भंगा ये तरंगा देवि गंगा के।'[2]

१. भिखारीदास—काव्यनिर्णय, १६५३ वि०, पृ० ७८
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—पद्माकर पंचामृत, १६६२ वि०, पृ० २५४

यहाँ 'पद्मिनी' शब्द को गुरु से लघु और 'भंग', 'तरंग' शब्दों को लघु से गुरु बना दिया है।

४. ब्रजभाषा में कारक-चिह्नों का लोप क्षम्य है, जैसे—

कर्त्ता—'बिनु फर कौ वर विसिष राम यहि भाँति चलायो'[1]
यहाँ राम के बाद 'ने' कर्त्ता का चिह्न लुप्त है।

कर्म—'सखी री नन्दनन्दन देखु'[2]
कर्मकारक का चिह्न 'को' नन्दनन्दन के बाद लुप्त है।

करण—'व्याकुल किन्हौ दुहुन मोंहि निज बानन मारी'[3]
बानन के बाद करण का चिन्ह 'से' लुप्त है।

सम्प्रदान—'जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनि पावै'[4]
सम्प्रदान का चिह्न 'को' मुनि और दुर्लभ के बीच लुप्त है।

इसी प्रकार अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन के भी उदाहरण पाए जाते हैं।

५. अक्षरमैत्री, कोमलशब्द-विन्यास तथा छन्दों के आग्रह पर शब्दों को विरूप करना ब्रजभाषा में ग्राह्य है, जैसे—

'होत प्रभात भालु कपि जूहा।
लंका ओर चले करि दूहा।'[5]
—हरदयालु

'भूख लगै तब देत है भोजन, प्यास लगै तो पियावन पाने।
त्यों 'पद्माकर' पीर हरै को, सुबीर बड़े बिरदैत बखाने।।'[6]
—पद्माकर

१. हरदयालु—रावण महाकाव्य, १९५२ ई०, पृ० १४४
२. मुंशीराम—सूरशतक, १९४७ ई०, पृ० १५
३. हरदयालु—रावण महाकाव्य, १९५२ ई०, पृ० १४४
४. मुंशीराम—सूरशतक, १९४७ ई०, पृ० ४
५. हरदयालु—रावण महाकाव्य, १९५२ ई०, पृ० १६३
६. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—पद्माकर पंचामित्र, १९९२ वि०, पृ० २४२

यहाँ 'जूहा' (जूह) के आग्रह पर 'दुहाई' को 'दूहा' तथा 'बखाने' के आग्रह पर 'पानी' को 'पाने' बना दिया है।

'पटकत पुच्छ कच्छ-कुच्छ पर सेस जब,
रुच्छ कर मुच्छ पर हाथ लाइयतु है'[1]

कवि ने अक्षरमैत्री लाने के लिए 'पूँछ' को 'पुच्छ', 'कुक्षि' को 'कुच्छ', 'रुष्ट' को 'रुच्छ' तथा 'मूँछ' को 'मुच्छ' कर डाला है।

क. 'नागरिया परमेसुर हूँ की, ब्रज तें बाढ़ी आप।'[2]

—नागरीदास

ख. 'मोतिन को मम तोर्यो हारा'[3]

—मतिराम

ग. 'होतो चित चाव जो न रावरे चितावन कौं'[4]

—रत्नाकर

इन पदों में 'परमेश्वर', 'हार', 'चेतावनी' का विकृत रूप क्रमशः 'परमेसुर', 'हारा', 'चितावन',प्रयुक्त किया गया है।

इन सुविधाओं ने ब्रजभाषा के कवियों को अधिक स्वतन्त्र बना दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा का स्थायित्व गुण जाता रहा और वह शिथिल और विरूप होती गई। कहीं-कहीं तो मनगढ़न्त शब्दों का प्रयोग इस भाँति हुआ है कि उनका अर्थ भी समझना कठिन है। 'पावस' की प्रशंसा में लिखा गया 'पजनेस' कवि का यह पद अवलोकनीय है—

'पजनेस' झंझा झाँझ झोकत झपाक झंपा,
झूरा झूर झरनि झिरेंगे झुरवान में।
कुकुभ करिन्द ह्वै हैं बधिर गराजन तें,
तीछन तरापै कोटि कोटिन कुवानमें।
धावत धधात धिंग धीर धमधुन्धा धुन्ध,

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—पद्माकर पंचामित्र, १९९२ वि०, पृ० २६८
२. वियोगीहरि—ब्रजमाधुरी सार, २००५ वि०, पृ० १९८
३. मिश्रबन्धु—विनोद, १९७० वि०, पृ० ४६४
४. रत्नाकर—उद्धवशतक, १९५१ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ११६

धराधर अधर धराधर धुवान में।
धूर धुन्ध धूंधर धुधात धूम धुंधरित,
धुंधर सुधुंधरित धुनि धुरवान में।'[१]

किन्तु, ब्रजभाषा के प्रेमी इस त्रुटि के समर्थन में जो कुछ कह रहे थे, वह भी देखने योग्य है। पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' लिखते हैं कि 'ऐसा करने में शब्दों का शुद्ध रूप तो कविता में नहीं देख पड़ता, किन्तु कविता की ध्वनि एवं यति ऐसी बन जाती है कि उसमें माधुर्य गद्य से अधिक बढ़ जाता है। जैसे घूँघट के भीतर से केवल एक आँख के द्वारा देखने वाली सुन्दरी, देखे गये में, अपने हृद्गत भावों को सफलतापूर्वक शीघ्र पहुँचा देती है, ठीक उसी प्रकार शुद्ध शब्दों के अपभ्रंश कविता में शोभावृद्धि करते हैं।'[२]

६. ब्रजभाषा में सयन, नयन, बयन, पवन, भवन आदि का प्रयोग तो होता ही है, पर बहुधा शब्द के मध्य का 'यकार' और 'वकार' क्रमशः 'ऐ' और 'औ' भी हो जाया करते हैं; जैसे, सैन, नैन, बैन, पौन, भौन, आदि। कवियों को जब जहाँ जैसे शब्द की आवश्यकता पड़ती है वहाँ उसी का प्रयोग कर लेते हैं। यथा—

(क) 'कमल नयन बलि जाइ जसोदा'[३]

(ख) 'हरि-मुख निरखत नैन भुलाने'[४]

—सूरदास

७. ब्रजभाषा की प्रकृति संयुक्त-वर्ण से बचने की है, किन्तु कवियों ने दोनों प्रकार के प्रयोगों की छूट ली है, जैसे—

'पितु प्रवीन ताको गरब'[५]

—भिखारीदास

१. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—सिंहावलोकन, १९७४ वि०, पृ० २३
२. माधुरी, जून, १९३३, पृ० ५५९
३. मुंशीराम शर्मा—सूरशतक, १९४७ ई०, पृ० २१
४. वही पृ० ३३
५. भिखारीदास—काव्यनिर्णय, १९५३ वि०, पृ० १३०

'तुम परबीन चतुर कहियत हो'[1]

—सूरदास

'तिहि निर्गुन क्यों आवै ?'[2]

—सूरदास

'निरगुन सगुन आत्म रचि ऊपर सुख सानैं'[3]

—नन्ददास

८. ब्रजभाषा के कवि कुछ शब्दों के अन्त में 'आ' 'या' 'रा' 'वा' आदि जोड़कर उसका उच्चारण बड़ा मधुर बना लेते हैं, जैसे—

'सखि ये नैना बहुत बुरे'[4]

—हरिश्चन्द्र

'मेरो नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ौ किन होहि'[5]

—सूरदास

'जियरा विचारो इन सोचनि समाय जाय'[6]

—घनानन्द

'अँसुवा हिय पै घिय-धार परैं'[7]

—घनानन्द

९. ब्रजभाषा में तद्भव और अर्द्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग होना भी उसकी एक बड़ी विशेषता है। इससे भाषा में मिठास तो आता ही है, जैसे—

'मन की कासों पीर सुनाऊँ
बकनो वृथा और पत खोनो, सबै चबाई गाऊँ ॥

१. वियोगी हरि—ब्रजमाधुरी सार, २००५ वि०, पृ० ३४
२. वही पृ० ३४
३. वही पृ० ५७
४. ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु नाटकावली, भाग १, सम्वत् १९९२ वि०, पृ० १९८
५. मुंशीराम शर्मा—सूरशतक, १९४७ ई० पृ० ५
६. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—घनानन्द, २००९ वि०, पृ० ८५
७. वही पृ० ७

कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहैं, धरिहैं उलटो नाऊँ ।
यह तो जो जानै सोइ जानै, क्योंकरि प्रगट जनाऊँ ॥
रोम-रोम प्रति नैन स्रवन मन, केहिं धुनि रूप लखाऊँ ।
बिना सुजान सिरोमनि री, किहिं हियरो काढ़ि दिखाऊँ ॥
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों, कहि निज दसा रोआऊँ ।
'हरीचन्द' पिय मिलैं तो पग परि, गहि पटुका समझाऊँ ॥''

साथ ही, ये शब्द बोलचाल की भाषा के अति निकट होने के कारण साधारण जनता जितने सुखपूर्वक 'पीर' 'बृथा' 'दरद' 'पत' 'प्रगट' 'स्रवन' 'सिरोमनि' 'हियरो' 'पिय' आदि का उच्चारण कर लेती है उतनी सुविधा-पूर्वक 'पीड़ा' 'व्यर्थ' 'दर्द' 'पति' 'प्रकट' 'श्रवण' 'शिरोमणि' 'हृदय' 'प्रिय' आदि का उच्चारण नहीं कर पाती । उसको इस प्रकार के क्लिष्ट तत्सम शब्द 'विस्मरण', 'भिक्षुक', 'रोष', 'सर्वस्व', 'आधिक्य', 'उत्साह', 'उच्छ्वास', 'कर्तव्य' के स्थान पर ब्रजभाषा के तद्भव शब्द 'बिसरना', 'भिखारी,' रिस', 'सरबस', 'अधिकाई', 'उछाह', 'उसास', 'करतब' अधिक सरल प्रतीत होते हैं । इसीसे अनपढ़ भी बड़े प्रेम से ब्रजभाषा के पदों को सुनते, समझते तथा गुनगुनाते हैं । उसकी सर्व-प्रियता का यह भी एक कारण था ।

ऊपर वर्णित इन्हीं सुविधाओं ने उसमें रचना करने की ओर, कवियों का ध्यान बराबर आकर्षित किया है । वे इन सुविधाओं को 'तसर्रुफात शायरी' (Poetical Licence) मानते थे, और कहते थे कि कोमल और सरस पद-रचना के लिए काव्य में इस प्रकार की स्वच्छन्दता का होना अनि-वार्य है ।

खड़ीबोली की भाषा सम्बन्धी काव्योपयुक्त विशेषता

खड़ीबोली को ब्रजभाषा के समान भाषा सम्बन्धी काव्योपयुक्त विशेषताएँ प्राप्त नहीं हैं । उसके शब्दों में ब्रजभाषा के शब्दों की भाँति न तो लचीला-पन है और न बहुरूपता । प्रत्येक शब्द का केवल एक ही रूप मान्य है, जिसका प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में एक-सा होता है । यदि देखा जाए तो शब्दों के शुद्ध, स्पष्ट तथा व्याकरण सम्मत रूप का व्यवहार ही खड़ीबोली की अपनी विशेषता है ।

---

१. वियोगी हरि—ब्रजमाधुरी सार, २००५ वि०, पृ० ३२१

खड़ीबोली के कवि को काव्य में भाषा और भाव दोनों का समान रूप से निर्वाह करना पड़ता है। छन्दोबन्ध, कोमलशब्द-विन्यास तथा भाव के निर्वाह के लिए वह भाषा का सर्वनाश नहीं कर सकता। 'सुने कठोरा ध्वनि अश्व टाप की'[1] (प्रियप्रवास) तथा 'मचल गया यह मनुआ भोला'[2] (कुंकुम' 'नवीन') की तरह के प्रयोग खड़ीबोली में खप नहीं सकते। 'कठोरा' न तो यहाँ कठोर भाव को प्रदर्शित करने में, और न 'मनुआ' पदगत लालित्य लाने में ही समर्थ हुआ है। अपेक्षाकृत इनसे भाषा के प्रवाह में बाधा और पड़ी है। शब्दों का तोड़-मरोड़, कारकों का लोप आदि जितनी आसानी से ब्रज-भाषा में किया जा सकता है, खड़ीबोली में सम्भव नहीं है। ब्रजभाषा के कारकों के लोप के सम्बन्ध में जो उदाहरण पीछे दिए गए हैं, यदि उनको हम पढ़ें, तो भाषा के प्रवाह में तथा उनके भाव को हृदयंगम करने में हमको विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु, इस प्रकार के दोष खड़ीबोली में शीघ्र ही स्पष्ट हो जाते हैं, जैसे—

'उमगती कितनी नंदरानि थी
पुलकता कितना चित नन्द था।'[3]
—हरिऔध

इस पद को पढ़ने में ही भाषा की स्वाभाविक गति उच्छिन्न हो जाती है। 'चित नन्द था' पढ़ते समय 'का' विभक्ति का अभाव भाषा के प्रवाह को तो रुद्ध करता ही है साथ ही भाव को भी थोड़ी देर के लिए अस्पष्ट बना देता है। शब्दों के अशुद्ध प्रयोग भी इसी प्रकार बुरी तरह खटकते हैं, जैसे—

'यह उसे हमी से मिला विभव विस्तारा,
फिर, कैसे उसका करें हमी संहारा!
× × ×
अतएव, छोड़ शिव-अंश अन्य बलवाना
सह सकता उसका नहीं एक भी बाणा।'[4]
—महावीरप्रसाद द्विवेदी

---

१. हरिऔध—प्रियप्रवास, १६२१ ई०, पृ० १७१
२. बृजकिशोर चतुर्वेदी—आधुनिक कविता की भाषा, २००८ वि० पृ० ११८
३. हरिऔध—प्रियप्रवास, १६२१ ई०, पृ० ७७
४. देवीदत्त शुक्ल—द्विवेदी काव्यमाला, १६४० ई०, पृ० ३१८

यहाँ 'विस्तारा', 'संहारा', 'बलवाना', 'बाणा' अशुद्ध शब्द पद में शिथिलता उत्पन्न करते हैं।

खड़ीबोली में भाषा के शुद्ध रूप वाली कविता ही उच्च श्रेणी की कविता कहलाने की सम्भावना तथा विद्वानों में आदर पाने की योग्यता रख सकती है। भाषा का अशुद्ध प्रयोग खड़ीबोली के प्रकृत-गौरव के प्रतिकूल है, चाहे वह गद्य हो या पद्य। जहाँ कवि भाषा के शुद्धाशुद्ध की परवाह न करके उसमें रचना करता है, वहाँ उसकी खुल्लमखुल्ला निन्दा की जाती है। उसको कहीं से भी भाषा की मर्यादित पद्धति के प्रतिकूल व्यवहार करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। खड़ीबोली की कविता वही उत्कृष्ट समझी जाती है जिसमें भाव के निर्वाह के साथ-साथ भाषा भी परिष्कृत और शुद्ध हो। काव्य में कोमलता, स्निग्धता आदि लाने के लिए भाषा का अशुद्ध प्रयोग खड़ीबोली के विद्वानों को पसन्द नहीं है।

ब्रजभाषा के समान खड़ीबोली में काव्य-रचना का सुभीता न होने के कारण ही पहले-पहल ब्रजभाषा के कवियों को इसमें सरस रचना करना कठिन दिखलाई दिया था। वे यह कहने के लिए बाध्य हुए थे कि उसके शब्द तो 'गठियावाई-पीड़ित' मनुष्य की भाँति झुकना ही नहीं जानते और इसकी रचना में वह 'मनोहारित्व' गुण नहीं आ सकता जो ब्रजभाषा में विद्यमान है।

ब्रजभाषा के भाषा सम्बन्धी गुण

ब्रजभाषा के गुणों में उसकी कान्तता तथा माधुरी की चर्चा सबसे पहले की जाती है। ब्रजभाषा में यह माधुरी उसके स्वाभाविक और सहज गुण के रूप में विद्यमान है। न केवल साहित्यिक, अपितु उसका ग्रामीण रूप भी उतना ही मधुर है। पं० श्रीकृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और विहारी' की भूमिका में ब्रजवाणी की ग्राम्य-माधुरी के सम्बन्ध में एक यात्री के कथन को इस प्रकार उद्धृत किया है कि 'विरज की बोली का मैं आपसे क्या हाल बताऊँ ! उसमें तो मुझे एक ऐसा रस मिलता है जैसा और किसी जबान में मिलना मुश्किल है। मथुरा में तो खैर वह बात नहीं है, पर हाँ देहात में नन्दगाँव, बरसाने वगैरह को जब हम लोग परकम्मा (परिक्रमा) में जाते हैं तो वहाँ की लड़कियों की घण्टों गुफ़्तगू ही सुना करते हैं। निहायत ही मीठी ज़बान है।'[1] ऐसे एक नहीं, अनेक यात्रियों ने ब्रजभाषा के स्वाभाविक मिठास की

---

१. कृष्णविहारी मिश्र--देव और विहारी, २००६ वि०, पृ० २३ (भूमिका)

समय-समय पर प्रशंसा की है। आज-दिन भी उसके इस गुण के लोग कायल हैं। उसकी निन्दा करने वालों को भी उसके इस गुण की सत्यता को स्वीकार करना पड़ता है। यदि किसी भाषा में सहज कोमल शब्दों की कमी हो तो, क्या उसमें इस प्रकार की मधुर रचना हो सकती है—

'पायन नूपुर मंजु बजै, कटि-किंकिन मैं धुनि की मधुराई,
साँवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मन्द हँसी, मुखचन्द जुन्हाई,
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री ब्रज-दूलह 'देव' सहाई।'[1]

इस पद को पढ़ने में थोड़ा भी श्रम नहीं करना पड़ता। वाणी अपने-आप फिसलती चलती है। ब्रजभाषा का शब्द-भण्डार इस प्रकार के कोमल शब्दों से भरा हुआ है। श्रुति-मधुर शब्दों की इसी प्रचुरता के कारण उसकी पदावली संगीतमय होकर बरबश हृदय को चुराती रही है।

इसके अतिरिक्त ग्राम्य, देशज और प्रान्तिक शब्दों को आत्मसात् करने की भी उसमें एक अद्भुत शक्ति देखी जाती है। जैसे—

'एक बिटिनियाँ कारैं खाई, ताकौं स्याम तुरतहीं ज्याई।'[2]
'आवत हुते कुमार खरिक तैं, तब अनुमान कियौ सखि मैन।'[3]
'बारहि बार जगावति माता, अंबुज-नैन भयौ भिनुसार।'[4]
'बरै जेवँरी जिहि तुम बाँधे, परै हाथ भहराइ।'[5]

यहाँ 'बिटिनियाँ' ग्राम्य, 'खरिक' देशज, 'भिनुसार' तथा 'जेवँरी' प्रादेशिक शब्द हैं जो पदों में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। खड़ीबोली में इस प्रकार की पाचकता जो शब्दों को सरलता और सरसता के साथ पचा

१. कृष्णविहारी मिश्र--देव और विहारी, २००६ वि०, पृ० २६ (भूमिका)
२. सूरसागर, खण्ड १, २००५ वि०, काशी नागरी प्रचारणी सभा, पृ० ५२१
३. वही पृ० ५१८
४. वही पृ० ३६७
५. वही पृ० ३८६

सके, बहुत कम देखी जाती है। खड़ीबोली में ओजगुण का आधिक्य अवश्य है, किन्तु ब्रजभाषा के समान सहज सुन्दरता जो काव्यभाषा के लिए उत्कृष्ट समझे जाते हैं उसमें स्वाभाविक रूप में कम हैं। इसको सजा-सँवारकर काव्यभाषा के योग्य बनाने का श्रेय तो इसके कवियों को है।

ब्रजभाषा के भाषा सम्बन्धी दोष

ब्रजभाषा को दोषयुक्त बनाने का लांछन अधिकतर रीतिकाल के कवियों पर है। उस काल में ब्रजभाषा जहाँ एक ओर अलंकृत, सरस तथा कोमल बनाई गई, वहाँ दूसरी ओर उस युग के कवियों ने उसको विकृत भी किया। उनका ध्यान विशेषतः काव्य को चमत्कारिक बनाने तथा उसमें ऊँची-ऊँची उड़ान भरने की ओर होता था। यदि उनके भाव के निर्वाह में भाषा ने कहीं रुकावट डाली है तो उसका अंग-भंग कर देने में उन लोगों ने थोड़ा भी संकोच नहीं किया है। जिन राजदरबारों में ये कविताएँ सुनाई जाती थीं, वे भी कवि के चमत्कारिक तथा अलंकृत वर्णन की ही प्रशंसा करते थे। भाषा के विकार की ओर उनका ध्यान न होता था। उस समय के कुछ प्रमुख कवि जैसे, विहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, रसखान, घनआनन्द आदि को छोड़-कर भाषा की सफाई बहुत कम कवियों में दिखलाई देती है। 'पद्द', 'गद्द', 'मद्द', 'हद्द'[1] तथा 'हलाका', 'कलाका', 'चलाका'[2] जैसे मनगढ़न्त शब्दों

१. 'मारा मारा कहे ते मुनीस ब्रह्मलीन भयो,
　　　　राम राम कहे ते न जानौं कौन पद्द है।
जमन हराम कह्यो राम जू को धाम पायो,
　　　　प्रगट प्रभाव सब पोथिन में गद्द है॥
कासिहू मरत उपदेसत महेस जाहि,
　　　　सूझि न परत ताहि माया मोह मद्द है।
ऐसहू समुझि सीताराम नाम जो न भजै,
　　　　जन "रघुनाथ' जानो तासों फेरि हद्द है॥'

'बाबा रघुनाथदास महन्त'

(मिश्रबन्धु विनोद, १९७० वि०, पृ० १०९५)

२. 'सुघरी सुशीली सुयशीली सुरशीली अति,

का प्रयोग हो रहा था। अन्य रसों के अतिरिक्त वीर तथा रौद्र रसों के वर्णन में ऐसे मनगढ़न्त शब्दों का प्रयोग और भी अधिक देखा जाता है। वीर-रस का एक उदाहरण देखिए—

'तहँ ढुक्का-ढुक्की मुक्का-मुक्की
हुक्का-हुक्की होन लगी।
रन इक्का-इक्की झिक्का-झिक्की
फिक्का - फिक्की जोर जगी।'[1]

—पद्माकर

शब्दों के इस प्रकार स्वच्छंद, मनमानी और मनगढ़न्त प्रयोगों से तथा उनकी अनेकरूपता से जिसमें 'अवधी', 'कन्नौजी', 'बुन्देली', 'बैस-वाड़ी' आदि भाषाओं के शब्दों का भी घोलमेल चल रहा था, लोग घबड़ा उठे थे। भाषा विकृत होने के अतिरिक्त दुरूह भी होगई थी। ब्रजभाषा से परि-चय प्राप्त करने का कोई उपयुक्त साधन नहीं था। वह केवल पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं के अध्ययन के आधार पर जिनमें वैकल्पिक रूपों की भी भरमार है, सीखी जा सकती थी। कवि 'भिखारीदास' ने 'काव्य-निर्णय' में जिन पूर्ववर्ती कवियों की सूची ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दी है, वह इस प्रकार है—

लक लचकीली काम-धनुष हलाका-सी।
कहै कवि 'तोष' होती सारी से निनारी जब,
कारी बदरी ते कढ़ै चन्द की कलाका-सी
लोने लोने लोयन पै खंजन चमक वारौं,
दन्तन चमक चारु चंचला चलाका-सी।
साँवरे सुजान कान्ह तुम्ह से छिपाऊँ कहा
सेज पै सोवाऊँ आनि सोने की सलाका-सी।'

'तोष'

(खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त इतिहास, १९३९ ई०,
—रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ३५)

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—पद्माकर पंचामृत, १९९२ वि०,
पृ० ३२

'सूर, केशव, मण्डन, विहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिन्तामणि, मतिराम, भूषन, सुजानिये।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
नीलकण्ठमिश्र, सुखदेव, देव मानिये।।
आलम, रहीम, रसखानि, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भये कहाँ लौं बखानिये।
ब्रजभाषा हेत ब्रजभाषा ही न अनुमानो,
ऐसे-ऐसे कविन की वानिन हूँ सो जानिये।'[1]

ब्रजभाषा सीखने के लिए इन कवियों की वाणी को ही प्रमाण मानकर यदि उसके स्वरूप का निरूपण करें तो पता चलेगा कि इस प्रकार की भाषा में एक-रूपता नहीं आ सकती थी। उनकी रचनाओं में अन्य भाषाओं के साधारण शब्दों के अतिरिक्त क्रियाओं का भी प्रयोग हुआ है। यदि एक व्यापक साहित्यिक भाषा में अन्य भाषा के शब्दों का मेल उचित भी मान लें, तो क्रियाओं का प्रयोग जो उसमें किया गया है वह वांछनीय नहीं है; क्योंकि एक भाषा की क्रिया दूसरी भाषा में अधिक अव्यवस्था फैलाती है, जैसे—

'नैन मूदे पै न फेर फितूर को टंच,
न टोभ कछू छियना है।'[2]

—पद्माकर

'नूतन विधि हेमन्त सबु जगतु जुराफा कीन'[3]

—बिहारी

यहाँ 'छियना' बुन्देली भाषा तथा 'कीन' अवधी भाषा की क्रियाएँ हैं। इस प्रकार उन कवियों की रचनाओं के अध्ययन से सीखी हुई भाषा का कोई परिनिष्ठित रूप नहीं हो सकता था। भाषा पर अनुशासन रखने के लिए न तो कोई व्याकरण था और न कोई अन्य साधन। यदि उसमें गद्य का भी विकास हुआ होता तो भाषा सम्बन्धी इतनी उच्छृङ्खलता तथा गड़बड़ी उसमें न फैलती, क्योंकि गद्य पर भाषा की शुद्धता आदि का सहज नियन्त्रण

१. भिखारीदास—काव्यनिर्णय, सम्वत् १६५३ वि०, पृ० ३
२. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—पद्माकर पंचामृत, १६६२ वि०, पृ. २१७
३. रत्नाकर—विहारी-रत्नाकर, १६५१ ई०, पृ० २०५

होता है और अन्ततोगत्वा इसका प्रभाव काव्य की भाषा पर भी पड़ता है।[1] ब्रजभाषा में जो गद्य का विकास न हुआ वह उसके पतन का हर प्रकार से कारण बना। अतः ब्रजभाषा अपने इन्हीं आन्तरिक दोषों के कारण एक शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गई थी। भारतेन्दु बाबू ने थोड़ा उसका परिष्कार अवश्य किया था, किन्तु वह सम्हल न सकी। इसीसे इतनी सरस और मधुर होने पर भी लोग उसकी ओर से उदासीन होते गए।

खड़ीबोली का भाषादर्श

खड़ीबोली का भाषादर्श कुछ दूसरा ही है। जब वह काव्यभाषा के लिए अपनाई जा रही थी तो उसमें (१) शब्दों को स्थानानुरूप विकृत न करने के चलन (२) तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर विशेष झुकाव, (३) आकारान्त प्रवृत्ति तथा (४) व्याकरण की कठोरता को देखकर ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों ने उसके सफल काव्यभाषा होने में सन्देह प्रकट किया था। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'ब्रजभाषा का व्याकरण' में लिखा कि 'जब पहले-पहल मेरठीबोली में कविता सुनी गई और 'पर्यो' की जगह 'पड़ा' सुनाई पड़ा तो ब्रजभाषा कविता प्रेमियों के सिर पर डंडा-सा पड़ा।'[2] उसकी रचनाओं में इतस्ततः ब्रजभाषा के शब्दों को प्रयुक्त होते देखकर उन लोगों की यह भी धारणा बनी कि खड़ीबोली बिना ब्रजभाषा का सहारा लिए प्रधानतः काव्य में खड़ी नहीं हो सकती। उसमें जो कुछ मधुरता का पुट है वह ब्रजभाषा के ही सहयोग से है। इस प्रकार की बातें खड़ीबोली के समर्थकों को सहन न होती थीं, और कभी-कभी बड़ा मनोरंजक विवाद छिड़ जाता था। इस प्रकार के एक विवाद की यहाँ चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा।

पंचम 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन', लखनऊ के सभापति पं० श्रीधर पाठक निर्वाचित हुए थे। सभापति के निर्वाचन सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन करते हुए पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने पाठक जी की प्रशंसा 'मधुर कवि' कहकर की, और उनकी रचना का यह उदाहरण उनकी पुस्तक 'एकान्तवासी योगी' से उद्धृत करते हुए,

---

१. डा० नगेन्द्र—देव और उनकी कविता, १९४९ ई०, पृ० २०२

२. किशोरीदास वाजपेयी—ब्रजभाषा का व्याकरण, २००० वि०, पृ० ९६

'सुनिये झाड़खंड बनवासी दयाशील हे वैरागी।
करके कृपा बता दो मुझको कहाँ जलै है वह आगी ॥'[1]

अपनी वक्तृता में कहा कि 'जो समझते हैं कि यह विशुद्ध खड़ीबोली की कविता है वह भूलते हैं। 'कहाँ जलै है वह आगी' खड़ीबोली नहीं है। खड़ीबोली है 'कहाँ जलती है वह आग ?' सज्जनो, यह कविता मधुर इसीसे हुई कि इसमें ब्रजभाषा का पुट है। अगर यह पुट न होता तो यह कविता संपुट हो जाती।'[2] इस पर 'पर्य्यायलोचक' (पर्यालोचक) और 'विचारक' के नाम से दैनिक 'भारतमित्र' सन् १९१४-१५ ई० में बहुत दिनों तक बड़ा वाद-विवाद चला। 'पर्य्यायलोचक' (पर्यालोचक) जी कहते थे कि 'जलै है' ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों है, 'विचारक' जी का कहना था कि केवल ब्रजभाषा है।'[3] इस ढङ्ग के वाद-विवाद में सार या तथ्य का अंश चाहे कुछ भी न हो, लेकिन उसने भाषा (खड़ीबोली) को परिष्कृत करने में सहायता की है।

कुछ ऐसे लोग भी थे जो हिन्दी की उन्नति के लिए तथा खड़ीबोली में हिन्दीपन बनाए रखने के लिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली का मिश्रित प्रयोग करते रहना चाहते थे। इन लोगों को भय यह था कि कहीं ऐसा न हो कि ब्रजभाषा का पल्ला छोड़ते ही खड़ीबोली उर्दू के उदर में विलीन हो जाए। इस सम्बन्ध में पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' ने 'माधुरी' जून १९३३ ई० में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया था कि 'तुम दोनों हिलमिलकर रहो जिससे सुख मिले। अन्यथा उर्दू बीबी तुम दोनों को बुरका पहना देगी। स्मरण रहे कि अब का पहना हुआ बुरका उतरेगा नहीं।'[4] किन्तु, खड़ीबोली के समर्थक विद्वानों को न अब उर्दू से भय था, और न माधुर्य गुण लाने के लिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली के मिश्रण से बनी खिचड़ी भाषा उनको पसन्द थी। फिर सन् १९३३ ई० में 'सिरस जी' जिस उर्दू का भय प्रकट कर रहे थे उसकी आवश्यकता भी नहीं थी। दूसरे, खड़ी-बोली में माधुर्य गुण लाने के लिए यह मान लेना कि ब्रजभाषा के मधुर शब्द

---

१. पर्य्यायलोचक और विचारक—ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली, १९७४ वि०, पृ० १
२. वही पृ० २
३. वही पृ० १-५
४. माधुरी, जून १९३३ ई०, पृ० ५६५

खड़ीबोली में भी श्रुतिमधुर लगेंगे, यह भी ठीक नहीं था। नीचे की पंक्तियों में 'इकठौरी' और 'शिलातलौं' शब्द माधुर्य लाने की कौन कहे पद के स्वाभाविक प्रवाह को भी रोके हुए हैं—

'कभी नहीं होती इकठौरी शशि-सरोज सुन्दरताई'[1]

'बैठे शिलातलौं पर नन्दी, भृंगी आदिक प्रमथ विशाल'[2]

कुमारसम्भवसार—'द्विवेदी'

इसीसे बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने उक्त विचार का विरोध करते हुए लिखा था कि 'हम बड़े विनीत भाव से निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि माधुर्य के लिए ब्रजभाषा की शरण लेना आवश्यक नहीं...दोनों की आकृति-प्रकृति में बड़ा भेद है। ब्रजभाषा की सहायता लिए बिना भी खड़ीबोली का काम मजे से चल सकता है। फिर क्या ज़रूरत है कि प्राञ्जलत्व में संकरत्व का प्रतिपादन किया जाय। कविता चाहे ब्रजभाषा में हो, चाहे खड़ीबोली में, वह निजी रूप में रहे यही उचित है।'[3] फिर भी २० वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक खड़ीबोली बहुत कुछ ऊबड़-खाबड़ बनी रही। अनगढ़ शब्दों का प्रयोग होता था। शब्दाभाव के कारण उस पर ब्रजभाषा, संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि सब का प्रभाव पड़ रहा था; जैसे—

'बीती रैन छिपे तारा-गण
प्रातःकाल अब होता है।
सुमिरन कर ईश्वर का उठकर,
क्यों तू गाफिल सोता है॥
ध्यान लगा सब के स्वामी का,
वृथा जन्म क्यों खोता है।
वही जगत को पैदा करता,
वही छिनक में खोता है॥'[4]

('हरिस्मरण'-नानकचन्द)

---

१. देवीदत्त शुक्ल—द्विवेदी काव्यमाला, १९४० ई०, पृ० ३११
२. वही पृ० ३१२
३. एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, सम्वत् १९८३ वि०, पृ० ८२, ८३
४. सरस्वती, १९०४, भाग ५, संख्या ३, पृ० ८०

पर, गद्य में ज्यों-ज्यों उसके शब्द सुसंस्कृत हुए और शब्दावली बढ़ी, त्यों-त्यों पद्य में भी भाषा परिष्कृत और प्रौढ़ होती गई। खड़ीबोली को काव्योचित भाषा बनाने में द्विवेदी जी तथा उस काल के अन्य कविगण प्राणपण से संलग्न देखे जाते हैं। इन कवियों के उद्योग से भाषा में शुद्धता और सजीवता तो आई, पर वह तत्सम रूपों के अधिकाधिक निकट पहुँचती गई। भाषा दुर्बोध तो नहीं हुई, परन्तु सुबोधता का तत्व उपेक्षित ही रहा। भाषा की यह अवस्था छायावादी काल तक बनी रही। इस युग के कुछ कवियों ने तद्भव शब्दों का विरोध किया। पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा कि 'हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है।'[1] खड़ीबोली के कवियों की इस प्रवृत्ति के विरोध में 'हरिऔध जी' ने 'सन्दर्भ-सर्वस्व' में लिखा कि 'शुद्ध शब्दों के प्रयोग के विषय में मुझको इतना ही कहना है कि यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी है। इसने खड़ीबोली के कवियों को च्युत-दोष और शब्दों के तोड़-मरोड़ से बचाया है।......परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है...हिन्दी की प्रशंसा इसलिए है कि वह तद्भव शब्दों द्वारा सुगठित है। जिस दिन उसके आधार तत्सम शब्द हो जावेंगे उसी दिन वह अपना स्वरूप खोकर अन्तर्हित हो जावेगी।'[2] विरोध की यही भावना 'निराला' के 'प्रबन्ध-पद्म' में तथा किशोरीदास वाजपेयी के 'ब्रजभाषा का व्याकरण' की भूमिका में भी देखी जाती है। इतने पर भी खड़ीबोली तत्सम शब्दों की ही ओर अधिकाधिक झुकती गई। यहाँ तक कि संस्कृत की क्लिष्ट शब्दावली का भी प्रयोग होने लगा—

> 'अये, एक रोमञ्च तुम्हारा दिग्भूकम्पन,
> गिर-गिर पड़ते भीत-पक्षिपोतों-से उडुगन,
> आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन
> मुग्ध-भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन!
> दिक्-पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन
> वाताहत हो गगन
> आर्त करता गुरुगर्जन'[3]

१. पन्त—पल्लव, १६४२ ई०, पृ० १ (प्रवेश)
२. हरिऔध—संदर्भ-सर्वस्व, १६४३ ई०, पृ० १२५, १२६
३. पन्त—पल्लव, १६४२ ई०, पृ० ८१, ८२

इसका परिणाम यह हुआ कि कविता में खड़ीबोली परिपक्व और परिपुष्ट तो अवश्य हुई, परन्तु वह बोलचाल की भाषा के निकट नहीं रह गई। जब भाषा की क्लिष्टता का प्रश्न उठाया गया तो वे ही विद्वान जिन्होंने 'पन्त' जी का विरोध भाषा की तत्सम प्रवृत्ति को लेकर किया था, भाषा में संस्कृत शब्दावली का समर्थन करने लगे। 'निराला' अपनी पुस्तक 'प्रबंध-पद्म' में लिखते हैं, 'भाषा-क्लिष्टता से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हिन्दी की तरह अपर भाषाओं में नहीं आते। हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने वाले या बनाने वाले लोग साल में तेरह बार आर्त चीत्कार करते हैं भाषा सरल होनी चाहिए जिससे आबाल-वृद्ध समझ सकें। मैंने आज तक किसी को यह कहते हुए नहीं सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढ़े।'[1] इसी विचार को 'हरिऔध' ने अपनी पुस्तक 'बोलचाल' में तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'ब्रजभाषा व्याकरण' में प्रकट किया है।

तत्सम और तद्भव शब्दों को लेकर विद्वानों में काफी मत भेद चला आ रहा है। अधिकाँश विद्वानों का मत यह है कि जब तक हमारा काम प्रचलित शब्दों से चलता हो तब तक संस्कृत शब्दों से काम नहीं लेना चाहिए, अन्यथा भाषा उनके अस्वाभाविक बोझ से दबी हुई दिखाई देगी और उसका नैसर्गिक-सौंदर्य नष्ट हो जाएगा। खड़ीबोली में ब्रजभाषा के तद्भव शब्दों के प्रयोग से कोई हानि नहीं है, किन्तु उसका अंधाधुन्ध अनुकरण नहीं होना चाहिए। हमें उन्हीं तद्भव शब्दों को काव्यभाषा के लिए ग्रहण करना चाहिए जिनका व्यवहार गद्य में भी सुगमतापूर्वक किया जा सके, नही तो खड़ीबोली में शब्दों की शुद्धता और एक-रूपता को बनाए रखना कठिन हो जाएगा। यदि 'शरण' 'शशि' 'अपूर्व' 'आशा' 'कर्त्तव्य' 'चित्त' 'दृष्टि' 'निर्वाह' आदि के स्थान पर जिन्हें हम गद्य में व्यवहार करते हैं, 'सरन' 'ससि' 'अपूरव' 'आस' 'करतब' 'चित' 'दीठि' 'निबाह' आदि कविता में लिखने लगेंगे तो फिर भाषा व्यवस्थित कहाँ रह सकती है? उसमें वे ही दोष आ जाएँगे जिसके लिए ब्रज-भाषा बदनाम हुई थी। हाँ, हमें 'किसान' 'नींद' 'कैसा', 'नाक', 'कान', 'आँख', 'पाँव' आदि के स्थान पर 'कृषक' 'निद्रा 'कीदृश' 'नासिका' 'कर्ण 'अक्षि' 'पाद' आदि लिखने का भरसक प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि

१. निराला— प्रबंध पद्म, १९९१ वि०, पृ० ६

ऐसे शब्दों का प्रयोग समान रूप से गद्य और पद्य दोनों में किया जा सकता है। दूसरे, सरल तथा सुबोध शब्दों का व्यवहार उसको सजीव और लोकप्रिय बनाने में भी समर्थ होगा। यदि कविगण तत्सम शब्दों के अधिक प्रयोग से एक नई भाषा गढ़ने बैठेंगे, और यह सोचेंगे कि इस प्रकार की बनी हुई भाषा ही अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समीप आ सकती है और देशव्यापी बन सकती है, तो वह खड़ीबोली भी नहीं रह जाएगी। उसमें उसकी प्रकृति एवं जातीयता का अभाव होगा और उसके स्वाभाविक सौंदर्य की रक्षा नहीं हो पावेगी। खड़ीबोली की संजीवनी शक्ति बनाए रखने के लिए तो हमें चलते तद्भव शब्द, सरल तत्सम शब्द तथा अन्य भाषाओं के ऐसे शब्द जो उसके अपने बन गए हों प्रयोग में लाना ही श्रेयस्कर होगा। कविगण निरंकुश अवश्य माने जाते हैं, पर भाषा के क्षेत्र में संयत और व्याकरण-सम्मत प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ शब्दों के अधिक काल तक किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते रहने पर उस शब्द का उस अर्थ से एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। चूँकि काव्य का ध्येय किसी भाव की अनुभूति कराना होता है, इसलिए ऐसे शब्द जो किसी विशेष प्रकार के भाव को बोध कराने में उपयुक्त होते हैं काव्य में बड़े काम के माने जाते हैं। जैसे, ब्रजभाषा में 'पिय' शब्द से जिस रीतिकालीन 'नायक' का बोध होता है उसे खड़ीबोली का 'प्रिय' शब्द, जिसके लिए 'पन्तजी' लिखते हैं कि हिन्दी ने अब 'तुतलाना' छोड़ दिया, नहीं करा सकता। 'भिखारी' में जो दीनता का भाव टपकता है खड़ीबोली का 'भिक्षुक' उससे दूर है। 'मैया' में जो आत्मीयता है वह खड़ीबोली के 'माँ' अथवा 'माता' में नहीं है। यदि इस प्रकार के शब्द काव्य-भाषा में विशेष भाव को बोध कराने लिए ग्रहण किए जाएँ तो, उससे खड़ीबोली की हानि नहीं हो सकती। बल्कि ऐसे शब्द कवि के मन्तव्य को ठीक से ग्रहण कराने में पूर्णतया सफल होंगे। इस सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विद्वान मिस्टर हैरिस (Harris) का विचार भी द्रष्टव्य है। आपने लिखा है कि शब्द का केवल कोश से प्रतिपादित अर्थ ही नहीं होता, अपितु उसका लगाव किसी न किसी विशेष प्रकार के भाव से भी होता है। अंग्रेजी का शब्द 'Steed' (स्टीड) जिस भाव को हृदयङ्गम कराने में समर्थ है उसे 'Horse' (हार्स) शब्द नहीं।[1] इसलिए किसी

1. "Words have not only Meanings. They have

विशेष भाव को जाग्रति करने के लिए यदि किसी विशेष शब्द का प्रयोग काव्य में होता है तो वह अनुचित प्रतीत नहीं होता।

सारांश

ऊपर के विवेचन से यह न समझना चाहिए कि ब्रजभाषा और खड़ीबोली का यह विवाद केवल शब्दावली (Diction) को लेकर हुआ था। विवाद तो बोली (Dialect) को लेकर था। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों की माता और मातामही क्रमशः शौरसेनी और संस्कृत होने से इन भाषाओं के शब्दों का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव दोनों पर पड़ा है, इसलिए इस विवाद में जहाँ और बातें उठाई गई हैं, वहाँ शब्दावली पर भी विचार-विमर्श हुआ है।

ब्रजभाषा में भाषा सम्बन्धी जो दोष दिखलाए गए हैं, वास्तव में वह जिस काल की भाषा है उस काल में वे दोष नहीं माने जाते थे। सरस और अलंकृत रचना के लिए, ब्रजभाषा के कविगण, भाषा में विकार का आ जाना अनिवार्य समझते थे। उन कवियों की ऐसी धारणा थी कि कोई भाषा हो, बिना उसके शब्दों तथा वाक्यों का काट-छाँट किए वह भाव और छन्द के अनुरूप नहीं बनाई जा सकती है। इसीलिए वे उन दोषों को काव्यगत सुविधाएँ माने हुए थे।

खड़ीबोली में ऐसी कोई धारणा नहीं है जिससे भाषा की मर्यादा

also what are called associations...The words 'Horse' and 'Steed' for example, have the same meaning according to the dictionary. But whenever I see or hear the word 'steed' I think of knights of Middle ages, of armour and lances and plumes...of high adventurous quest in strange landes··· These are its associations. But horse has no distinct flavour. It calls up in my mind a sort of composite picture which has traces of thorough breds and hunters in it, but which is mostly made up of the horses I see every day ploughing the fields and pulling the coal wagons and milk-carts."

Nature of English Poetry, 1937, Page 20

का उल्लंघन हो। व्याकरण के अनुरूप शुद्ध भाषा काव्य में प्रयुक्त हो, इसके लिए हम छन्दों के रूप विधान को बदल सकते हैं, भाव को बोध कराने में चमत्कार-प्रदर्शन को छोड़ सकते हैं तथा अलंकार और सरसता की अपनी परिभाषा में परिवर्तन कर सकते हैं, किन्तु भाषा को दोषयुक्त नहीं कर सकते। यही इस भाषा का गुण है।

खड़ीबोली में भी कवि लोग स्वतन्त्रता बरतते हैं और उनकी रचनाओं में (१) छन्द, (२) लिंग, (३) वचन, (४) कारक, (५) क्रिया आदि सम्बन्धी दोष पाए जाते हैं। खड़ीबोली के कवियों पर लिखने वाले प्रत्येक समीक्षक ने इस प्रकार के दोषों को दिखलाया है। अभी हाल ही में श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी ने 'आधुनिक कविता की भाषा' (२००६ वि०) नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित कराई है, जिसमें लेखक ने खड़ी-बोली के बीस कवियों की तीस कृतियों की समीक्षा भाषा की दृष्टि से की है। यहाँ उनका पुनः कथन आवश्यक प्रतीत नहीं होता। उन कतिपय दोषों के होने पर भी द्विवेदी काल के कवियों ने उसको प्राणान्वित किया तथा छायावादी कवियों ने उसको सुगठित, प्राञ्जल और सरस बनाया। आज उसका शब्द भण्डार बृहत् है। वह प्रत्येक प्रकार के भाव प्रदर्शन में पूर्ण समर्थ है। कुछ विद्वानों की जो यह धारणा थी कि—

> 'होति खड़ीबोली खरी, ब्रजभाषा के योग।
> ताकौं निन्दत मन्दमति, जिन स्रौननि कछु रोग॥'[१]

अथवा, उसके लिए जो यह प्रवाद था कि उसकी पदावृत्ति में माधुर्य का संचार नहीं हो सकता, अब उनका कोई महत्व नहीं रह गया है। यदि हम भारतेन्दुकाल की खड़ीबोली की प्रारम्भिक रचनाओं को और छायावादी रचनाओं को एक जगह रखकर देखें तो काव्य-भाषा की इस प्रगति का महान अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। जैसे,

क. भारतेन्दुकाल की एक रचना

> दुर्दशा, तेरि है, जब ध्यान में आती इकबार,
> आँसु आँखों में, उमड़ आता है, बँध जाता है तार।
> सोच यों व्यग्र है करता, कि न रहता है विचार,

१. किशोरीदास बाजपेयी—तरंगिणी, १९९३ वि०, पृ० २

सर्वथा जी से, विसर जाता है जग का व्यवहार।
सोना स्वप्न होता है, अच्छा नहिं अन लगता है,
शोक की आग से, भस्म होने बदन लगता है।

बाबू लक्ष्मीप्रसाद, मौजे मानपुरा, मुजफ्फरपुर

प्रथम बार प्रकाशित—'बिहारबन्धु', ६ दिसम्बर, १८७६ ई०
अयोध्याप्रसाद खत्री (संग्रहकार)—खड़ीबोली का पद्य, भाग १, १८८७ ई०, पृ० ४८

ख. छायावादी काल की एक रचना

कहाँ से आये बादल काले!
कजरारे मतवाले!
शूल भरा जग धूल भरा नभ,
झुलसी देख दिशायें निष्प्रभ,
सागर में क्या सो न सके यह
करुणा के रखवाले!
आँसू का तन विद्युत का मन,
प्राणों में वरदानों का प्रण,
धीर पदों से छोड़ चले घर
दुख-पाथेय सँभाले।

महादेवी वर्मा—'दीपशिखा', १६४६ ई०, पृ० ८

खड़ीबोली आज काव्य की मर्यादित भाषा है। उसमें 'साकेत' और 'कामायनी' जैसे श्रेष्ठ महाकाव्यों तथा 'पल्लव', 'गुंजन', 'अनामिका', 'परिमल', 'यामा', 'दीपशिखा' जैसी उत्तम मुक्तक और गीतकाव्य की रचनाएँ हो चुकी हैं। अभी वह विकासोन्मुख है। पं० श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०) से लेकर 'दीपशिखा' (१६४२ ई०) निकलने तक इन छप्पन-सत्तावन वर्षों में खड़ीबोली की भाषा की दृष्टि से जो उन्नति हुई वह आश्चर्यमयी है। उसको देखते हुए उसका भविष्य और भी उज्ज्वल दिखलाई देता है। इधर प्रगतिवादी रचनाएँ जो निकल रही हैं उनमें बोलचाल की भाषा की छाप अधिक है। कवि भाषा के व्यावहारिक स्वरूप को ही अपनाने की ओर अग्रसर हो रहे हैं, जैसे—

'गरम गरम हवा चली
अशान्त रेत से भरी,
हरेक पाँखुरी जली;
कली न जी सकी—मरी।
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका;
कठोर जिन्दगी चला,
न जल सका—न मर सका॥'[1]

—केदारनाथ अग्रवाल

खड़ीबोली के द्वारा हमारे गद्य और पद्य की भाषा एक है। गद्य के विकास के बाद, यह आवश्यक और अनिवार्य हो गया था कि गद्य और पद्य की भाषा में एक-रूपता हो। ब्रजभाषा और खड़ीबोली की रूप-रचना में, जैसा कि ऊपर देखा गया है, महान अन्तर है। ऐसी दशा में दोनों भाषाओं का साहित्य में इस प्रकार बनी रहना कि एक गद्य और दूसरी पद्य की अधिष्ठात्री हो, जैसा कि कुछ विद्वान चाह भी रहे थे, अव्यावहारिक तथा असम्भव था। इसलिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता पैदा हो गई थी जो समान रूप से गद्य और पद्य दोनों पर अधिकार करती। ब्रजभाषा से यही नहीं हो सकता था। यह उसके सामर्थ्य के बाहर की बात थी। व्याकरण की दृष्टि से उसमें इतनी बहु-रूपता थी कि वह समान रूप से गद्य और पद्य की अधिकारिणी नहीं बन सकती थी। गद्य में उसका विकास न होने का प्रधान कारण भी यही था। भाषा सम्बन्धी सहज सुन्दरता, मिठास एवं माधुरी जिनके लिए ब्रजभाषा गर्व करती है अब उसको साहित्य में बनाए रखने के लिए असमर्थ थे। वह समय दूर चला गया था जब वह इनके बल पर हिन्दी-साहित्य की एकमात्र स्वामिनी थी। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस विवाद में जिस ब्रजमाधुरी की बात बार-बार दुहराई गई है और यह कहा गया है कि जब तक ब्रजभाषा में यह गुण विद्यमान है तब तक अन्य भाषा काव्य में उसका स्थान नहीं ले सकती, सब व्यर्थ था। क्योंकि इसके मूल में यह कारण था ही नहीं। समझने की बात तो यहाँ यह थी कि गद्य

---

१. विजयशङ्कर मल्ल—हिन्दी कविता में प्रगतिवाद, १९४७ ई०, पृ० १२२

को सहज माधुरी की आवश्यकता, जिसके लिए ब्रजभाषा गर्व करती है, अब थी ही नहीं। इस समय साहित्य को तो एक ऐसी विशुद्ध, व्याकरण-सम्मत भाषा की जिसका निर्वाह समान रूप से गद्य और पद्य दोनों में हो सके आवश्यकता थी। खड़ीबोली को इसमें सफलता मिली। इसीसे वह गद्य और पद्य की भाषा बन सकी।

———

सातवाँ अध्याय

ब्रजभाषा में आधुनिक लोक-रचना और उसका इस विवाद पर प्रभाव

प्रवेश

प्रत्येक समृद्ध भाषा के दो रूप होते हैं—(१) लोक-रूप, तथा (२) साहित्यिक रूप। जिस प्रकार साहित्यिक रूप के गद्य और पद्य दो अंग होते हैं, उसी प्रकार उसके लोक-रूप के भी गाथा और गीत के रूप में दो अङ्ग होते हैं। लोक-रूप बहुत कुछ मौखिक होता है। भाषा इसमें अपने स्वाभाविक और अकृत्रिम रूप में पाई जाती है, जब कि उसके साहित्यिक रूप में भाषा, जिसको व्याकरण की नपी तुली नालियों से प्रवाहित होना पड़ता है, अस्वाभाविक और कृत्रिम होती है। भाषा का यही अस्वाभाविक और कृत्रिम रूप साहित्यिक शब्दों में परिष्कृत और परिमार्जित माना जाता है। साहित्यिक इसी रूप को ग्रहण करते हैं और शिष्ट समुदाय की यही मान्य भाषा होती है। उसका लोक-रूप सदैव से विद्वानों द्वारा उपेक्षित रहा है।

बहुत-सी भाषाएँ केवल अपने लोक-रूप में ही देखने को मिलती हैं। उनका साहित्यिक रूप या तो बहुत नगण्य है, या है ही नहीं। जिन भाषाओं में साहित्यिक और लोक-रूप दोनों होते हैं, उनमें यह देखा जाता है कि उनका साहित्यिक रूप अपने लोक-रूप से सदैव अनुप्राणित होता रहता है और चिरजीवन प्राप्त करता है।

यहाँ जिस भाषा (ब्रजभाषा) के सम्बन्ध में विचार करना है उसमें उसके दोनों रूप हैं। ब्रजभाषा आज अपने पूर्व साहित्यिक गौरव से वंचित है, परन्तु वह अपने लोक-रूप में इस समय भी पूर्ण सजीवता के साथ विद्यमान है। लाखों प्राणियों द्वारा अपने क्षेत्र[1] में वह उसी अकृत्रिम ढङ्ग से

---

१. ब्रजभाषा की विलास भूमि मथुरा और उसके आसपास नन्दगाँव और बरसाना होने पर भी वह एक विस्तृत जनपद की बोली है। मोटे रूप में इस जनपद का प्रसार दिल्ली के दक्षिण से लेकर इटावे तक, अलीगढ़ से लेकर धौलपुर और ग्वालियर तक है। इस सम्बन्ध में दो प्राचीन दोहे इस प्रकार प्रसिद्ध हैं—

'पुर दिल्ली औ ग्वालियर, बीच ब्रजादिक देस।
पिंगल उपनामक गिरा, तिनकी मधुर विशेष॥

 ('ब्रजभारती', चैत्र, १९९९ वि०, पृ० २६)

बोली जाती है जिस प्रकार 'सूरादिक' कवियों के समय में बोली जाती थी। यह बात उसके अर्वाचीन लोक-साहित्य पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाएगी।

यहाँ विषय के प्रसंगानुसार हमें उसके लोक-गीतों पर ही विचार करना है।

हिन्दी की सभी जनपदीय बोलियों में अपने-अपने लोक-गीत मौजूद हैं, पर ब्रजभाषा में लोकगीतों की अक्षय निधि है। इसका भी एक विशेष कारण है। जिस प्रकार कृष्णभक्ति ब्रजभाषा को दूर-दूर देशों में ले जाने में समर्थ हुई थी, उसी प्रकार कृष्ण के प्रति अनुराग और प्रेम वहाँ की साधारण जनता के स्वर और जीवन के अनेक क्षेत्रों में शत-शत धाराओं में होकर फूट निकला है। रास, रसिया, भजन, गीत, झूलना, होली, चौबोला आदि में कृष्ण-प्रेम के ही गीत सन्निहित हैं। इसीसे एक विदेशी खोज का विद्यार्थी 'नोरविन हीइन' (एयल विश्वविद्यालय, यू० एस० ए०) लिखता है कि 'ब्रजभूमि (लोकगीतों के) अपार भण्डार से परिपूर्ण है। यह भण्डार··· ग्रामीण जनता, हल चलाने वाले कृषक और ग्रामीण स्त्रियों तक में समान रूप से व्याप्त है। राधाकृष्ण की पावन लीलायें इस भावना की अधिष्ठात्री हैं, जिन्होंने ब्रज ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कला पर अपना अमिट आधिपत्य स्थापित किया है।···विगत शताब्दियों में अन्य प्रदेशों में साहित्य और संगीत की कोमल भावनाओं का ह्रास हुआ है, किन्तु ब्रज में ऐसा नहीं है।'[1] अतः यह लिखना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि ब्रज-जीवन का प्रत्येक क्षण गीतमय है। उसके इन लोकगीतों में मानव-मनोवृत्तियों, धार्मिक

'उत बरहद इत सोंनहद, उत सूरसैन का गाम।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मण्डल धाम॥'
(ब्रजभारती, चैत्र, १९९९ वि०, पृ० २५)

'बरहद' अलीगढ़ जिले का एक कसबा है। 'सोन' गुड़गाँव जिले में है। 'सूरसेन' के गाम से अभिप्राय 'बटेश्वर' से है जो जिला आगरा में है। इन दोहों से लगभग उसी क्षेत्र का बोध होता है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

१. रामनारायण अग्रवाल (सम्पादक)—'कित गयौ मथुरा वासी!' प्रकाशक—लोक-साहित्य सहयोगी प्रकाशन, मथुरा, २००६ वि०, भूमिका से उद्धृत

व सामाजिक अवस्थाओं तथा हमारी सांस्कृतिक-चेतना का अमूल्य भण्डार

साहित्यिक रचना से लोकगीतों की परम्परा भिन्न होने के कारण यहाँ ब्रज-लोक-गीतों का सीधा सम्बन्ध इस ब्रजभाषा और खड़ीबोली सम्बन्धी विवाद से नहीं है, किन्तु खड़ीबोली-पक्ष के समर्थक विद्वानों के यह कहने पर कि ब्रजभाषा एक 'मृत'[1] भाषा है, इसके प्रतिकार में उसकी आधुनिक लोक-रचना की चर्चा भी आवश्यक हो गई है।

ब्रजभाषा एक जनपदीय जीवित भाषा है। उसकी लोक रचनाओं में जैसा कि नीचे दिखलाया गया है अब भी सरस, स्वाभाविक तथा अनुभूति की तीव्रता से युक्त रचनाएँ हो रही हैं। लोक-रचनाओं में ब्रजभाषा की इसी जीवित-शक्ति ने उसके विरोधियों द्वारा उसका कड़ा विरोध होने पर भी, उसको साहित्य-क्षेत्र से शीघ्र हटने न दिया था।

ब्रज के लोकगीत

ब्रज के गीतों की पहुँच समाज के प्रत्येक उत्सव और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। उनकी विशेषताओं को दृष्टिगत रखते हुए, नीचे लिखे वर्गों में उनको बाँटा जा सकता है—

१. संस्कारों के गीत-जन्म, मुण्डन, जनेऊ, विवाह आदि से सम्बन्धित।
२. ऋतुओं के गीत--सावन के मल्हार, झूला, बारहमासी, आदि।
३. पर्वों और त्योहारों के गीत--होली, स्याहू (दिवाली पर), दौज के गीत आदि।
४. भजन तथा देवी देवताओं के गीत—जिकड़ी, साधारण भजन।
५. ऐतिहासिक गीत—ढोलामारू, आल्हा, साके आदि।
६. श्रम विनोद के गीत—चक्की पीसते समय के गीत, खेत में काम करते समय के गीत।
७. मनोरंजन के गीत—रसिया, ख्याल आदि।
८. बालक बालिकाओं के गीत--टेसू, झाँझी, चट्टों के गीत।
९. सामयिक गीत—सामाजिक, राजनीतिक आदि।

[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी—खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त परिचय, १९३९ ई०, पृ० २२

१०. विविध जातियों के गीत—धोबियों के, मल्लाहों के, कुम्हारों के।
११. विविध-परसोकला (नीति-सम्बन्धी), पटका (आलोचना-सम्बन्धी) आदि।

इन गीतों में कुछ तो पुरुषों द्वारा गाए जाते हैं और कुछ केवल स्त्रियों द्वारा। स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले प्रायः वे गीत होते हैं जो (१) संस्कार-सोहर, कर्ण-छेदन, उपनयन, विवाह आदि (२) व्रत-अनुष्ठान—नौ-दुर्गा, रक्षाबंधन, कृष्णजन्माष्टमी, कार्त्तिक-स्नान, गोवर्धन, स्याहू, भैया-दौज आदि तथा (३) श्रम विनोद—जाँत, चक्की आदि के अवसर पर गाए जाते हैं। स्त्रियों के इन गीतों की विशेषता यह है कि ये परम्परा से प्राप्त होते हैं। इनमें भाषा का परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। अर्वाचीन भाषा के उदाहरण स्वरूप ये उपस्थित नहीं किए जा सकते।

पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले गीतों में (१) ऐतिहासिक गीत, जैसे—आल्हा, ढोला-मारू आदि, (२) देवी देवताओं के गीत, जैसे—जिकड़ी, तथा (३) पर्वों के गीत, जैसे—होली, होते है। कुछ गीत जैसे—रसिया, ख्याल, साधारण भजन, बारहमासी, मल्हार आदि स्त्री और पुरुष दोनों गाते हैं। इन गीतों में भाषा का रूप बहुत प्राचीन नहीं होता। पुरुषों के गीत स्त्रियों के गीत के सदृश जैसे के तैसे परम्परा से चले आते हुए बहुत कम होते हैं। इनके अखाड़े जमते हैं, गीत उसी समय बना-बनाकर भी गाए जाते हैं। इसीसे इनके गीतों में भाषा का आधुनिक रूप प्रायः अधिक देखने को मिलता है।

नीचे आधुनिक गीतों के कुछ उदाहरण संग्रहीत किए गए हैं, जिनमें ब्रजभाषा की सजीव मूर्ति हम देख सकते हैं। भाषा के साथ-साथ इन गीतों में जिस अवसर विशेष के लिए वे लिखे गए हैं उस अवसर की व्यापक अनुभूति का सच्चा रूप भी बड़े ज़ोरदार और शक्तिपूर्ण शब्दों में मिलता है। कहीं-कहीं तो उनके वाक्य इतने सरस हैं कि वे साहित्यिक रचनाओं से भी उत्कृष्ट लगते हैं। हृदय के उच्छ्वास के समान ही सहज में व्यक्त भावनाएँ इन गीतों में बड़ी स्वस्थ और सजीव दिखाई देती हैं। ये गीत जीवन के उल्लास और विषाद दोनों से अनुप्राणित हैं। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'इनमें ज़ोरदार अनुभूति का सीधा प्रकाशन'[1] होता है, परन्तु साहित्यिकों

१. डा० भगीरथ मिश्र—साहित्य साधना समाज १९५१ ई०, पृ० ११४

ने गँवारू रचना बताकर सदैव इनकी उपेक्षा की है और इन पर परदा डाला है।

क. रसिया

मनोरंजन के गीतों में 'रसिया' ब्रज के सबसे प्रिय और प्रचलित गीतों में से है। ब्रजभाषा को जो छटा इसमें प्राप्त होती है वह अन्य प्रकार के गीतों में नहीं। ब्रज के प्रायः सभी मेलों, उत्सवों और त्योहारों पर यह सुनने को मिल जाता है। इसमें इतनी गति, लोच तथा ग्रहण शक्ति है कि यह अकेले युगलगान अथवा सहगान में भी भली-भाँति खप जाता है। यह शृंगार रस प्रधान होता है। ब्रजलोक-साहित्य में इसका स्थान 'मुक्तककाव्य' का है। एक रसिया का उदाहरण देखिए—

'पपैया पीया मति बोले मेरे होत जिगर में पीर।
पपइया पिया के बोले बैन, पिया बिन तड़फत दोऊ नैन।
कटै नहीं पपिया बैरिन रैन।
× × ×
याद पिया की आवती रे मेरे बहै नैन से नीर।
शब्द पीया के रह्यौ सुनाय, हमरौ चौं रह्यौ जिया जलाय॥
पिया विन जीया रह्यौ घबड़ाय।
अरे पपइया बावरे, लेत पिया कौ नाम।
तरसावै मोकूँ मती परूँ तेरें मैं पाम॥'

(लेखक—गोपीनाथ रघुनाथ हाथरस निवासी)

विरहिणी की मार्मिक अनुभूति गीत में स्पष्ट है। भाषा की दृष्टि से इन लोक-रचनाओं में भी 'पपैया' 'पपइया' 'पपिया' की अनेक-रूपता अवश्य विचारणीय है। 'चौं' (क्यों) अपने असली ग्रामीण रूप में है जो साहित्यिक रचनाओं में देखने को कम मिलता है।

रसिया में प्रायः राधाकृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन रहता है, परन्तु इनका उपयोग किसी भी विचार को प्रतिपादित करने के लिए किया जा सकता है। भक्ति-रस के वर्णन में 'रसिया' को किस सुन्दरता से यहाँ काम में लाया गया है—

'तेरौ जनम सफल है जाय, लगाइलै रज ब्रजधाम की।
काट दें पाप तेरे ब्रजराज, लगाइलै परिकम्मा गिरिराज॥

बनें सब बिगड़े तेरे काज ।'

(पं० गेंदालाल शर्मा ब्रजवासी, राया निवासी)

इसी युग में कुछ समय पहले घासीराम, सनेहीराम, छीतरमल आदि अनेक ठेठ लोक-कवि हो गए हैं। इनके रसिए बड़े सुन्दर हैं और ब्रजवासियों के ओठों पर चढ़े रहते हैं। 'घासीराम' की एक रसिया की कुछ पंक्तियाँ हैं-

'जबतें जग जूड़ी चढ़ आई,
मैंने ओढ़ी स्याम रजाई।
शील सूत कतवाय बुनाई,
धरम के धोबी पै धुलवाई।
कृष्ण नाम रंग में रँगवाई,
कारीगर करतार आप छीपी बन करी छपाई।'

ख. होली

पर्व और त्योहारों पर गाए जाने वाले गीतों में होली का स्थान प्रमुख है। होली का उत्सव वसन्त ऋतु में पड़ता है। वसन्तोत्सव का उल्लास होली बनकर फूट पड़ता है। इस उत्सव को ब्रज में 'फूलडोल' भी कहते हैं। प्रधान रूप से यह पुरुषों का गीत है। ढोल, ढप, झाँझ, करतारों की ध्वनि के बीच होली की सरस तानें गाँव-गाँव में सुनाई देती हैं। बूढ़े भी यह कह कर थिरक उठते हैं—

'गोरी तेरे नैना बड़े कटीले।
फागुन में ऐसी न चहिए, ये दिन रंग रंगीले।'

ब्रज-होली की एक सरस तान देखिए—

'चलो-चलो सखी! खेलैं हो... री।
गिरि खो...री, बर जो.... री॥
बन ठन सब ब्रज-योषिता, लै गुलाल इहि बेर
दौरि, झपट चहुँ, ओर तैं हो,...लेहु चतुर कों घेर॥
ग्वाल बाल सब देहु रंग बोरी
मुख मल दीजै रो...री॥
ढफ बाजत घन-घोर सम, बरसे नव-रस-रंग,

हँस-हँस खेलत, राधिका हो...मन मोहन के संग
सोभा वरनन कोऊँ मति थोरी,
चिर-जीवों यह जो...री ।।'[1]

बरसाने की होली प्रसिद्ध है। वहाँ अब भी रसिया के तर्ज में होली की ये तानें सुनाई देती हैं--

'बरसाने में सामरे की होगी रे । टेक ।
लाल गुलाल लाल भये बदरा,
मारत भरि भरि झोरी रे ।
× × ×
कौन गाम के कुमर कन्हैया,
कौन गाम की गोरी रे ।
नन्दगाँव को कुमर कन्हैया,
बरसाने की गोरी रे ।
कहा हाथ में कृष्ण कन्हैया,
कहा हाथ में गोरी रे ।
ढाल हाथ में कुमर कन्हैया जू के,
लठा हाथ में गोरी रे ।
कहा कर रहे ग्वाल बाल सब,
कहा करें सब गोरी रे ।
ढाल रोपि रहे ग्वाल बाल सब,
लठा चला रहीं गोरी रे ।'

'बरसाने' की होली का यह एक सजीव चित्र है। बरसाने की स्त्रियाँ नन्दगाँव के पुरुषों पर होली के अवसर पर आज दिन भी लट्ठ चलाती हैं। इस अवसर के गीत ब्रज के ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के हृद-प्रदेशों में उत्साह, आनन्द और स्फूर्ति की तरंगें तरंगित कर देते हैं।

ग. मल्हार

ऋतुओं के गीतों में मल्हार बड़ा ही मनमोहक होता है। यह सावन-

१. जवाहरलाल चतुर्वेदी—होली की एक तान, १६८५ वि० पृ० ३०, ३१

भादों के महीनों में गाया जाता है। ब्रज में ये महीने सामूहिक उल्लास और आनन्द के प्रतीक हैं। यों तो ब्रज में तरह-तरह के गीत हर ऋतु और हर समय पर गाये जाते हैं, पर पावस ऋतु के गीत अत्यन्त हँसीले और मधुर होते हैं। ब्रज, नारियों के गीतों से गूँज उठता है। सुन्दरियाँ जब ताल और लय के साथ उन्हें गाती हैं तब एक अजीब समाँ बँध जाता है। बरसात की फुहारों में कहीं-कहीं रसिक भीजते होते हैं—

'रसिक दोउ भिजत कदम की छहियाँ।
सुही नीर अंग-अंग लपटाने दिये दोउ गरबहियाँ॥'

चारों ओर हरियाली के बीच बागों में झूले पड़े होते हैं, और सखियाँ गाती हैं—

'सखीरी चलो दरशन करि आमें,
झूला डारौ है कदम की डार।
सखीरी एक लंग झूले रानी राधिका,
कोई एक लंग कृष्ण मुरार॥' (सखीरी०)

यह ऋतु वियोगिनियों के लिए बड़ी दुखदाई भी होती है। जब एक ओर पपीहा 'पीया-पीया' की रट लगा रहा हो, मोर शोर मचा रहे हों, नन्हीं-नन्हीं बूंदें पड़ रही हों, रिमझिम मेह बरस रहा हो, स्त्रियाँ तीजें मना रही हों और नर-नारी मिलकर स्थान-स्थान पर झूले झूल रहे हों, ऐसे अवसर पर जिनका प्रियतम घर नहीं होता उनको ये सब कुछ नहीं सुहाते। अतः वियोग के गीत भी इस ऋतु में कम सुनाई नहीं देते—

'अरी बहना हमें न सुहाय,
पिया बिन सूनो लगत है। टेक
तीजें मनामें घर-घर कामिनी,
अरी बहना झूलें बगीचा में जाय।
हंसे मल्हारें गामें रसभरी,
अरे मोकूं पति की रही याद सताय॥'

इसके अतिरिक्त श्रावण में सामाजिक और राष्ट्रीय ढंग के गीत, जैसे, 'बूढ़े की बारहमासी', 'रढुआ की बारहमासी', 'सावन की राष्ट्रीय मल्हार',

'कन्ट्रोल की मल्हार' आदि भी खूब गाए जाते हैं। 'कन्ट्रोल' पर एक सामयिक मल्हार देखिए—

(श्रावण का महीना है 'बूरा' खाने के लिए पुरुष को ससुराल जाना है, किन्तु उसके पास न तो धोती है और न कमीज़ के लिए कपड़ा। कन्ट्रोल की दुकान पर कपड़ा मिल रहा है। अपनी पत्नी के अनुरोध करने पर वह धोती खरीदने कन्ट्रोल की दुकान पर 'राशन कार्ड' लेकर जाता है। सारा दिन व्यतीत हो गया, लौटने पर उसकी पत्नी पूछती है)

'मैं अब घर पै पहुँचि गयो बोली घरवारी है।
लै आये धोवती पिया भई बड़ी अबारी है।।
है कैसी तनक दिखाओ मोइ।
मैं बोल्यौ ना मिली धोवती कहा दिखाऊँ तोइ।।
भूख लग रही दे दे रोटी।
कैसौ हु मिल्यौ सुराज गरीबन की किस्मत खोटी।।
मौज मारे हैं मालामाल।
माल खाइ मोटे है रहे नहिं दया-धरम को ख्याल।।
करें खल पाप कमाई है।
भलो नहिं कन्ट्रोल गरीबन कूं दुखदाई है।।'

ब्रज-ग्राम की ठेठ बोली में 'कन्ट्रोल' की कठिनाइयों का कितना सत्य और कटु अनुभव दिखलाई देता है।

श्रावण में इस प्रकार के मुक्तक गीतों के अतिरिक्त प्रबन्धात्मक गीत भी गाए जाते हैं। जिनमें कुछ लघु-वृत्त की और कुछ दीर्घ-वृत्त की कथाएँ होती हैं। लघु-वृत्त के गीतों में जैसे, 'मल्हार नरसीभात लीला', 'मल्हार रानी तारावती', 'मारू का मल्हार', 'चम्पादे की मल्हार' आदि हैं। दीर्घ-वृत्त के गीतों में जैसे, 'चंदना', 'चन्द्रावती', 'निहालदे' आदि हैं।

इस प्रकार श्रावण-भादों के महीनों में गीतों के फौहारे से ब्रजभूमि रस-सिक्त हो जाती है। इन सामूहिक आनन्दोत्सव के गीतों से ऐसा लगता है जैसे ब्रज की धरती गा उठी हो।

घ. भजन

भजनों में ईश्वर की प्रार्थना व स्तुति तथा महापुरुषों की लीला का वर्णन होता है। भजन भी कुछ मुक्तक ढंग के और कुछ प्रबन्धात्मक ढग के

होते हैं। प्रबन्धात्मक भजन जिकड़ी पर जो सारंगी के समान एक बाजा होता है गाया जाता है। इसीसे इनको जिकड़ी-भजन कहते हैं। रसिया और होली के बाद ब्रज में जिकड़ी के भजन का खूब चलन है। यहाँ इसका अम्बार लगा हुआ है। ब्रज के किसी भी मेले में जाइए, जिकड़ी के भजन अवश्य होते मिलेंगे। जाड़े के दिनों में ब्रज के किसी गाँव में अलाव के पास बैठने पर भी कभी-कभी ढफली पर इन भजनों को सुनने का आनन्द मिल जाता है। आजकल जिकड़ी भजनों के रचयिताओं में ग्राम्य कवि ठा० शिवराम, जावरा निवासी का नाम खूब प्रसिद्ध है। उनके बनाए हुए भजनों में मोरध्वज लीला, हरिश्चन्द्र लीला, गोपीचन्द लीला, द्रौपदी-ब्याह लीला, द्रौपदी चीर-हरण लीला, सुदामालीला, ध्रुवलीला, प्रह्लादलीला, भरथरीलीला, नरसी भातलीला, चक्काबूलीला, जयद्रथवध लीला, आदि ब्रज में खूब गाए जाते हैं। पर इनके भजनों में खड़ीबोली का प्रभाव सर्वत्र पाया जाता है। पं० पातीराम, सरौंधीवासी के विभिन्न प्रकार के भजन तथा पं० बाबूराम शर्मा का 'नरसीलौ' आदि का भी अच्छा प्रचार है। ये सब रचनाएँ अब प्रकाशित हो गई हैं। जिकड़ी-भजन की एक कड़ी देखिए—

(नरसी भगत समध्याने से 'भात' देने का निमंत्रण पाकर खाली हाथ कुछ साधुओं की एक टोली साथ लिए 'सिरसागढ़' पहुँचे हैं। खाली हाथ मुड़ियों के साथ आया सुनकर वहाँ उनका अपमान होता है। 'रामा', नरसी की बेटी को भी खूब व्यंग्य और तानें सुननी पड़ रही हैं। भगवान भक्त की अवज्ञा कब सहने वाले हैं। 'भात' लेकर स्वयं भगवान 'सिरसागढ़' पहुँच जाते हैं। रामा आनन्द से गद्‌गद् हो अश्रुपूर्ण नेत्रों से सामलिया कृष्ण की आरती कर रही है)

'रोरी-दही थार में धर के, रामा दरवाजे पर आय गई।
अब यह हरि को टीको करे, धार जाके दोउ दृगन से बह रही॥
धरके थार बहन रामा, दोउ भुजा पसारि सामलिया ते मिल रही।
राखौ दीन पिता की लाज कै रामा रोय-रोय हरि ते कह रही॥
काका, बाबा कोई सङ्ग न आयौ, टोटे में अवज्ञा रे फर दई।
तैने राखौ हमारो मान, कै हाँसी सिरसागढ़ मेरे है रही॥
× × ×
रोवै मत रामा बहना, लै मान हमारो कहना।
कुछ पास हमारे है ना, मिल जाइगौ तेरो लहना॥'[1]

---

१. ठा० शिवराम, जावरा निवासी, नरसीभात लीला, पृ० ५१

च. सामयिक गीत

सामयिक समस्याओं तथा युग-पुरुषों पर भी ब्रज में नित्यप्रति लोक-रचनाएँ होती रहती हैं। लोक-कवि श्री शर्मनलाल अग्रवाल ने राष्ट्रपिता 'बापू' पर 'गाँधी चालीसा' तथा 'गाँधी अष्टक' अभी हाल ही में लोक-साहित्य-सहयोगी प्रकाशन, मथुरा से प्रकाशित कराया है। इनकी तर्ज बिलकुल 'हनुमान चालीसा' जैसी है। 'गाँधी अष्टक' का एक पद इस प्रकार है—

'भारत देस गुलाम भयौ,
गयौ गौरव गर्व को डूब सितारौ।
वीर अनेक शहीद भये,
जब रोपी है रार लँगोटिया वारौ।
देस स्वतंत्र कराय दियौ
जाकौ सत्य अहिंसा को मंत्र करारौ।
को नहिं जानत है जन में,
श्री गांधी है मोहन नाम तिहारौ ॥'[1]

भारत आज़ाद हुआ, पर यहाँ अभी दुख-दैन्य ही बिखरा हुआ है, इसकी भी झाँकी लोक-रचना में मिलती है—

'आजादी जब से तू भारत में आई।
कंटरौल अरु ब्लैकबती को, क्यों संग अपने लाई ॥
तैंने आमत खेम, देश भारत में हाहाकार मचाई दियौ।
तैंने मुसलमान और हिन्दुन में ऐसो संग्राम कराइ दियौ ॥
मरवाय कें लाशन को जत्था, तैनें जमुना में पहुँचाय दियौ।
था श्वेत वर्ण यमुना का, तैंने लाल-लाल करवाय दियौ ॥
इस अखंड भारत में तैंने, खुद पाकिस्तान बनाय दियौ।
जाने कहाँ ते तू भूखी आई, तैंने ऐसौ मुँह फैलाय दियौ ॥'

आज घूसखोरी बढ़ी हुई है। जनता न्याय के लिए तड़प रही है। यह कैसा स्वराज्य हुआ? इसको गीतकार जाबरा निवासी ठा० खेचरसिंह के शब्दों में देखिए—

1. शर्मनलाल अग्रवाल—गाँधी चालीसा, पृ० (२)

'बलम जी, मेरी समझ में नाय भरी
जे कैसो भयो स्वराज ।
बलम मेरे, चोर पंच तो बन गये ।
घुसियन को बन्यो समाज ॥
बलम जी, घूस लेत चौपार पै
जे कैसो भयो भारत को राज ।
बलम मेरे अत्याचार ज्यादा हो रह्यो
भारत को डूबैगो जहाज ॥'

इन रचनाओं को देखकर हम सहज अनुमान लगा सकते हैं कि लोक-रचनाओं में कितनी स्वाभाविकता होती है, और जनता की भावनाओं का वे कितना सही प्रतिनिधित्व करती हैं। कभी-कभी शिक्षित तथा बौद्धिक वर्ग जहाँ वैधानिक डर से कटु सत्य नहीं कहता अथवा उलट-पुलट कर वह अपनी भावनाओं को कुछ और ही ढंग से व्यक्त करता है, वहाँ जन-कवि निडर होकर अपनी अनुभूति को स्पष्ट रीति से प्रकट कर देता है। प्रसंगवश, सन् १८५७ ई० में हुआ 'स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम' जो राजसत्ता-अधिकारियों द्वारा 'सिपाही विद्रोह' बताया गया, उस पर हिन्दी के प्रतिनिधि कवि पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' लिखते हैं—

'देशी मूढ़ सिपाही कछुक
लै कुटिल प्रजा संग
कियो अमित उत्पात,
रच्यो निज नासनको ढंग ।'

इसके विपरीत, जन-कवि निर्भय उस घटना का वर्णन इस प्रकार करता है—

'खूब लड़ी मरदानी,
अरे झाँसी वाली रानी ।
बुरजन-बुरजन तोपें लगादईं
गोला चलायो आसमानी ।'

वह देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले सिपाहियों को 'मूढ़' नहीं कहता। तात्पर्य यह कि कभी-कभी जैसा सामयिक सत्य का विरोधाभास साहित्यिक रचनाओं में प्रायः देखने को मिलता है, वैसा जन-वाणियों में नहीं।

सारांश

ऊपर की रचनाएँ आधुनिक ब्रज-लोकगीतों के कुछ उदाहरण हैं। ब्रजक्षेत्र के बाहर भी, जहाँ तक संगीत में माधुर्य लाने का प्रश्न है, आज दिन भी उसकी उपेक्षा का साहस कोई नहीं कर सका है। खड़ीबोली के इस युग में, यहाँ तक कि यदि सिनेमा के गानों को हम देखें तो विदित होता है कि ब्रजभाषा के शब्दों का गानों में प्रयुक्त होना तो एक साधारण-सी बात है, कहीं-कहीं तो पूरे पद ब्रजभाषा में लिखे हुए मिलते है। जैसे—

१. 'मोहे भूल गये साँवरिया।
आवन कह गये अजहूँ न आये,
लीन्हीं न मोरी खबरिया॥
\+ \+ \+
नयन कहे रो-रो के सजनी,
देख चुके हम प्यार का सपना।
प्रीति है झूठी प्रीतम झूठा
झूठी है सारी नगरिया॥'
('बैजू बावरा'-चित्र से)

२. 'नैना लगाके सुख ले गयो,
दुख दे गयो परदेशी सैयाँ।
× × ×
कौन बताए मोहि डगरिया,
नाम प्रीतम प्रेम नगरिया।
इतना पता मोहे दे गयो
परदेशी सैयाँ॥'
(परछाई-चित्र से)

अतः ब्रजभाषा न तो 'मृत'[1] भाषाओं में है, न 'क्षय रोग से पीड़ित'[2] है, और न उसके शब्द अभी 'रक्त-माँस-हीन'[3] ही हुए हैं। उसके लोक-

१. पं० रामनरेश त्रिपाठी—खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त परिचय, १९३९ ई०, पृ० २२
२. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—विशाल भारत, अक्टूबर, १९३४ ई०, पृ० ३९३
३. पन्त—पल्लव, १९४२ ई०, पृ० १७ (प्रवेश)

गीतों में जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं जीवन के साथ बहने वाली प्रभावशाली रचनाओं की अब भी सृष्टि हो रही है। ब्रजभाषा की आधुनिक लोक-रचनाओं की यही सजीवता, उसके साहित्यिक स्रोत को भी शीघ्र सूखने नहीं दे रही है। इसीसे कभी-कभी उसमें हम अब भी साहित्यिक रचनाएँ होते देखते हैं। उसकी आधुनिक साहित्यिक रचनाओं को डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भले ही 'साहित्यिक मनोरंजन'[1] कहें, परंतु इस प्रकार की रचनाएँ अभी ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा के भीतर ही मानी जाएँगी, और वे हिंदी साहित्य की पूरक ही समझी जाएँगी। ब्रजभाषा की अवस्था अभी संस्कृत के सदृश नहीं हुई है, जिससे कि मृत भाषाओं में रचना करने के समान उसमें किए हुए रचना के प्रयास को भी कवि का 'मनोविनोद' समझा जाए। वह एक जनपद की जीवित भाषा है और अभी निष्प्राण नहीं हुई है। यदि वह साहित्यिक क्षेत्र से हटी तो उसका प्रधान कारण सामाजिक था जिसका विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। ब्रजभाषा की आधुनिक लोक-रचनाओं तथा उसके जीवत होने के महत्व को खड़ीबोली के कुछ विद्वान समझ भी रहे थे। इसीसे वे उसका विरोध करते हुए इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सके हैं कि 'जो अब भी ब्रजभाषा में रचना करते हैं उन्हें वैसा करने से कोई रोक भी नहीं सकता'[2]—'महावीरप्रसाद द्विवेदी'।

इतना अवश्य है कि यदि विद्वानों का मनोभाव ब्रजभाषा को 'मृत' एवं 'क्षयरोग से पीड़ित' बताने में यह रहा है कि उसकी आधुनिक रचनाओं में वह ताज़गी और नयापन नहीं जो साहित्य के लिए अपेक्षित है तो सर्वांश में उनका वैसा कथन वस्तुस्थिति के प्रतिकूल भी नहीं कहा जा सकता। उसमें हुई आधुनिक रचनाओं जैसे, दिव्यदोहावली, ब्रजरज, ब्रजभारती, वीरसतसई, दुलारे-दोहावली, रसकलस, दैत्यवंश, रावणमहाकाव्य आदि को देखने से यह प्रकट है कि उनमें बहुत-कुछ पिष्टपेषण ही हुआ है। वे नवीन भावों, विशेषकर सामयिकता से अनुप्राणित नहीं हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि यदि ब्रजभाषा की आधुनिक लोक-रचनाओं की सजीवता उसके प्रेमी कवियों को उसमें रचना करने की ओर बराबर आकर्षित न करती रहती तो जिस विपरीत परिस्थिति में वह अपने विरोधियों से इतने समय तक प्रतिद्वन्द्विता करती रही वैसा सम्भव न होता।

---

१. डा० वार्ष्णेय—साहित्य चिन्तन, १६४६ ई०, पृ० १७५

२. सरस्वती, अप्रैल १६१४ ई०, पृ० २६

आठवाँ अध्याय

कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली की सफलताओं का मूल्याङ्कन

प्रवेश

इस विवाद के अन्तर्गत ब्रजभाषा और खड़ीबोली के सम्बन्ध में जो कतिपय दोष दिखाए गए हैं[1] उनको छोड़कर, यदि शेष विवाद को हम देखें तो यह कह सकते हैं कि वह स्वयं ही कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण मूल्यांकन है; क्योंकि इस विवाद में तत्कालीन हिन्दी के प्रायः सभी धुरन्धर विद्वानों ने भाग लिया है, और अपने-अपने मत की पुष्टि में जो प्रमाण और तर्क उन लोगों ने दिए हैं, उसमें हिन्दी काव्य-साहित्य की गहरी छानबीन हो गई है। यह स्वाभाविक है कि विवाद में कभी-कभी ऐसी बातें भी कही जाती हैं जो अनुचित और अमान्य होती हैं, पर सभी अमान्य और अग्राह्य नहीं होतीं। फिर भी विवाद से थोड़ा अलग हटकर, काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली की सफलता पर विचार करना और यह देखना कि कहाँ तक वे काव्य-साहित्य में एक दूसरे की पूरक हैं, आवश्यक है।

---

१. ब्रजभाषा के सम्बन्ध में

(क) 'ब्रजभाषा में आज जो कुछ भी है, उसका अधिकाँश है कविताबद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।'

जगन्नाथप्रसाद मिश्र, सम्पादक, 'विश्वमित्र'

(ख) 'अधिकाँश में वह आदर्श रहित है।......नूपुरों का रव ही उसमें अधिक सुन पड़ता है।'

'मैथिलीशरण गुप्त'

खड़ीबोली के सम्बन्ध में

(क) 'जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आए दिन सृष्टि हो रही है, इससे सुरुचि का संहार हो चुका।......'यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र में बहुत दिनों तक खड़ी न रह सकेगी।'

'वियोगी हरि'

(ख) 'बेतुकी कविता के बिना हिन्दी की क्या हानि है!'

'जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी'

ब्रजभाषा

ब्रजभाषा की सफलता पर विचार करने के पूर्व थोड़ा उसकी असफलता का निर्देश भी आवश्यक है।

ब्रजभाषा की सबसे बड़ी असफलता जो इस विवाद में बताई गई है, वह है उसकी शृंगारी प्रवृत्ति। यहाँ तक कहा गया है कि उसकी इस प्रवृत्ति ने भक्तिकाल तक में ईश्वर की खूब छीछालेदर की। कृष्ण और राधा के नाम पर उसमें केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग का वर्णन हुआ है। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कृष्ण-साहित्य को सामन्ती समाज का शृंगार-साहित्य बताते हुए, 'ब्रजभारती' जेष्ठ, १६६८ वि० में जो ब्रजभाषा साहित्य की एक प्रमुख पत्रिका है, लिखा है कि भक्त कवियों ने कृष्ण के बालक्रीड़ा के मिस शृंगार का ही वर्णन किया है। इसके अपवाद 'सूर' भी नहीं हैं—

> 'नीवी ललित गही हरि राई।
> जबहिं सरोज धरयौ श्रीफल पर तब जसुमति गई आई।
> ततछिन रुदन करत मनमोहन मन में बुधि उपजाई॥
> देखौ ढीठ देत नहिं माता राखी गेंद चुराई।
> काहे कौं झकझोरत नौखे चलउ न देउँ बताई॥
> देखि विनोद बाल-सुत कौ तब महरि चली मुसकाई।
> 'सूरदास' के प्रभु की लीला को जानैं इहि भाई॥'[1]

इसी प्रकार रीतिकालीन ब्रजभाषा की कविता को श्री वेंकटेशनारायण तिवारी ने 'खुली कामुकता का उद्रेक'[2] बताया। बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा कि उसमें 'चपल वार-वनिता का क्रीत विलास और कृत्रिम शृंगार ही अधिक था, अभिजात कुलवधू की प्रकृत अङ्ग-सुषमा और स्वाभाविक हृदय-सौन्दर्य की बहुत कमी थी।'[3] 'पन्तजी' के शब्दों में उस काल में स्त्रियों के 'कोमल अङ्गों में कलम की नोंक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता।'[4]

---

१. 'ब्रजभारती', जेष्ठ, १६६८ वि०, पृ० ७
२. 'सरस्वती', दिसम्बर, १६३३ ई०, पृ० ४८६
३. श्यामसुन्दरदास—हिन्दी साहित्य, २००५ वि०, पृ० २७५
४. सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव, १६४२ ई०, पृ० २१ (प्रवेश)

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने तो अपने विचार को यहाँ तक व्यक्त किया कि 'कोई कन्या युवती हो रही है, उसकी भी चिन्ता कवि को थी।'''ऋतुओं के नुस्खे लिखा करते थे। नुस्खों में प्रत्येक ऋतुमें नवबाला तो रहती ही थी। बिना इसके कोई नुस्खा काम ही का नहीं समझा जाता था।'[1] उनके कहने का तात्पर्य यह था कि उस काल की कविता में मुख्यतः स्त्रियों की ही चर्चा रहती थी। कवियों के काव्य का केन्द्र-विन्दु वे ही थीं। स्वकीया-परकीया के वर्णनों में उन्होंने समाज के स्वाभाविक मर्यादा का सम्पूर्ण बाँध तोड़ डाला था। 'जोग हू ते कठिन संयोग पर नारी को' लिखकर उन कवियों ने अपनी विलास-प्रिय और संकीर्ण प्रवृत्ति का परिचय दिया था। संसार की समस्त स्त्रियाँ उनकी दृष्टि में केवल काम-क्रीड़ा की वस्तु बन गई थीं। उनकी चर्चा में, साहित्य-शास्त्र के विवेचन का बहाना लेकर उन्होंने काम-शास्त्र की सृष्टि की।

ब्रजभाषा की वर्तमान प्रवृत्ति को भी शृंगारी बताया गया, और यह कहा गया कि जब हमारे चतुर्दिक जीवन की प्रत्येक समस्याएँ बदल चुकी हैं, तब भी हिन्दू-संस्कृति की रक्षा के बहाने राधा-कृष्ण नामधारी नायक-नायिका सम्बन्धी रचनाएँ ही उसमें हो रही हैं। लोकगत साधारण चेतना का उसमें आज भी पूर्ण अभाव है। उसका काव्य-साहित्य हिन्दी के भाल पर कलंक का एक टीका है!

क. भक्तिकाल

इस विवाद में, ब्रजभाषा-काव्य पर जब कुछ खड़ीबोली के विद्वानों ने अपना विचार उक्त ढंग से प्रकट किया है, तब उन्होंने केवल उसके एक पार्श्व को ही देखा है। उसका दूसरा पार्श्व भी है। उसने हिन्दी-साहित्य-गगन को 'सूर' (सूरदास) और 'शशि' (तुलसी) का प्रकाश भी दिया है जिसकी ज्योति से वह आज-दिन चमक रहा है। भक्तिकाल की रचना हिन्दू-जाति का सम्बल है और उसने हिन्दू-धर्म और संस्कृति के बुझते हुए दीपक को बचाया है। उस पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। जिस 'सूर' के पदों को कलङ्कित किया जाता है उसी 'सूर' ने वात्सल्य रस द्वारा दुर्लभ आनन्द को सुलभ बनाया है। 'सूर' की सुन्दर और स्वाभाविक वात्सल्य रस की रचनाओं पर हिन्दी साहित्य

---

१. पं० रामनरेश त्रिपाठी—खड़ीबोली की कविता का संक्षिप्त परिचय, १६३६ ई०, पृ० २३

को गर्व है। इस रस का परिपाक आज तक हिन्दी साहित्य के किसी भी अन्य कवि द्वारा उतनी सजीवता के साथ नहीं हो सका है। 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी', 'कत हो आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी', 'मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो', 'मैया मैं नाहीं दधि खायो', 'सोभित कर नवनीत लिए', 'खेलत में को काको गुसैयाँ' आदि बाललीला के बालमनोविज्ञानमय पद किस हृदय को नहीं गुदगुदा देते। इसी प्रकार तुलसी के 'छुँगन-मँगन अँगना खेलत', 'नेक विलोकि धौं रघुवरनि', 'ललित आँगन खेलैं ठुमुकि-ठुमुकि चलैं' आदि पदों में भी बालस्वभाव की सर्वोच्च सरसता विद्यमान है। ब्रजभाषा के ये पद संसार के किसी भी साहित्य की उत्तम रचनाओं की तुलना में रखे जा सकते हैं।

'सूर' और 'तुलसी' के प्रार्थना और विनय सम्बन्धी पदों में भी भक्त-हृदय की जितनी भाव-मार्मिकता तथा दीनता दिखलाई देती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'सूरदास द्वारे ठाढ़ो आँधरो भिखारी', 'अबकी राखि लेहु भगवान', 'अब तो नाच्यो बहुत गोपाल' आदि 'सूर' के पद तथा 'जो हौं भले बुरे तौ तेरे,' 'जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारो', 'हौं अनाथ चरनन लपटानों' आदि तुलसी के पद ब्रजभारती की आदर्शपूर्ण रचनाएँ हैं। भक्त कवियों के इन पदों को देखते हुए क्या यही कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में ईश्वर की छीछालेदर ही हुई है!

भक्तिकाल की दाम्पत्य रति सम्बन्धी कुछ खटकने वाली रचनाएँ अवश्य हैं, किन्तु इस काल के भक्त कवियों द्वारा संयोग-वियोग के जो सहस्रों पद लिखे गए, उनमें अधिकाँश बड़े ही सरस, सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर हैं। 'सूर' का विप्रलम्भ-शृंगार तो हिन्दी साहित्य की एक ही वस्तु है। 'निसिदिन बरसत नैन हमारे', 'बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं', 'अब तो तनहि राखि का कीजै', नैना भये अनाथ हमारे', 'कर-कंकन तें भुज-टॉड़ भई' आदि पदों में 'सूर' ने वियोग की अनेक मानसिक दशाओं का बहुत ही उत्कृष्ट चित्रण किया है। इसके सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंग से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सम्भवतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।'[1] अतः इनकी ये रचनाएँ प्रायः निर्दोष और पवित्र हैं।

इसके अतिरिक्त कबीर, दादू की वचनावली, गिरधरदास की कुण्डलियाँ,

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—भ्रमरगीत सार, २००४ वि०, पृ० २२

तुलसी, रहीम, बृन्द के नीति-परक दोहे, रसखान के 'मानुष हौं तो वही रस-खान बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन,' 'या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं' आदि मधुर सवैये तथा 'सेनापति' के ऋतु वर्णन सम्बन्धी ओजपूर्ण कवित्त 'वृष कौ तरनि, तेज सहसौ करनि तपै', 'सेनापति उनए नए जलद सावन के' आदि ब्रजभाषा की ही शोभा-वृद्धि कर रहे हैं। क्या ब्रजभाषा की इन सब रचनाओं का हिन्दी काव्य-साहित्य में कोई मूल्य ही नहीं हो सकता ? इसलिए ब्रजभाषा के विरोधियों का यह कहना कि ब्रज-भाषा में शृंगारातिरिक्त और कुछ है ही नहीं, उचित नहीं था।

ख. रीतिकाल

ब्रजभाषा सबसे अधिक लाँछित की गई है अपनी रीतिकाल की कविता के लिए। कहा गया है कि उसमें शृंगार का खूब दुरुपयोग हुआ है तथा नारी जाति खूब अपमानित की गई है। भारतवर्ष ने नारी को जो आदर्शपद प्रदान किया है, 'या देवी सर्व भूतेषु मातृरूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः' उस रूप का चित्रण उसमें नहीं है। भारतीय नारी का सतीत्व और आत्म-सम्मान उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति रही है। इसकी रक्षा उसने सदैव अपने प्राण पर खेलकर की है। किन्तु ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों ने इसकी परवाह नहीं की। उन कवियों की दृष्टि में वह केवल कामिनी है जो पुरुषों के भोग की वस्तु है।

निःसन्देह, उस काल के ब्रजभाषा के कवियों ने नारी के मातृरूप और शक्तिरूप की अवहेलना की है। उन कवियों की प्रवृत्ति कुछ इस ढंग की अवश्य दिखलाई देती है जैसे 'वीरमाता' और 'वीर-बालाओं' के चरित्रचित्रण से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। उस काल में सुन्दरियों के अप-हरण तुर्कों द्वारा किए जाते थे। यदि किसी सुन्दरी ने अपने सतीत्व की रक्षा प्राण देकर की है तो उस सती की वीरता के वर्णन में ये कवि सर्वथा उदासीन हैं। इसके विपरीत लोक-रचनाओं में इस प्रकार की घटनाएँ जीवित पाई जाती हैं। एक 'भोजपुरी' ग्राम्यगीत में यह देखने को मिलता है कि एक तुर्क 'कुसुमा' नाम की एक ब्राह्मण की लड़की को अपने साथ विवाह करने के लिए विवश करता है। वह उसके भाई और बाप को बन्दी बना लेता है। सतीत्व-रक्षा का कोई अन्य उपाय न देखकर 'कुसुमा' अपने पिता के

तालाब में डूबकर प्राण दे देती है। गीत का कुछ अंश इस प्रकार है—

'देहु न मैया रे कँगही कटोरिया हो ना।
बाबा के सगरवा मुड़वा मीजब हो ना ॥
अरे सगरवा 'कुसुमा' मुड़वा जो मीजै।
घोड़वा कुदावै 'मिरजा रजवा' हो ना ॥
घोड़वा कुदावत परिगै नजरिया हो ना।
केकरी तिरियवा मुड़वा मीजै हो ना ॥
घोड़वा थमावे 'मिरजा' वो घोड़सरिया।
बाबा को पकरि मँगावै हो ना ॥
अपनी 'कुसुमा' मोहिं बिआहौ हो ना ॥
कैसे मैं बिआहौं अपनी 'कुसुमिया'।
तू तो तुरुक हम बाम्हन हो ना।
एतना वचन सुनि 'मिरजा रजवा' ॥
बाबा के डारे हथकड़िया हो ना।
\+ \+ \+
हँसि-हँसि 'मिरजा' रे डोलिया फनावे।
रोइ-रोइ चढ़ै 'कुसुमा' रनिया हो ना ॥
\+ \+ \+
तनिक डोलिया थमावो 'मिरजवा'।
बाबा के सगरवा मुँहवा धोइत हो ना ॥
\+ \+ \+
एक घूंट पियली दुसर घूंट पियली।
तिसरे में गई है तराई हो ना ॥
\+ \+ \+
सिर पै पगड़िया बाँधि हँसे मैया बाबा।
दूनौ कुल राखेउ बहिनीं 'कुसुमा' हो ना ॥'[1]

इस प्रकार की अनेक घटनाएँ उस काल में हुई होंगी, किन्तु ब्रजभाषा के कवियों ने न तो तुर्कों के उन अत्याचार और स्वेच्छाचारिता की ही कहीं निन्दा की है और न उन सती देवियों की अमर कहानी लिखने का ही कष्ट

---

१. कृष्णदेव उपाध्याय—भोजपुरी ग्रामगीत, २००० वि०, पृ० २५, २६, २७

उठाया है। इसीसे कभी-कभी इन ब्रजभाषा के कवियों से लोगों का मन बिदक जाता है।

ब्रजभाषा का रीतिकाव्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भी है। ये शृंगारी रचनाएँ (१) कला की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं (२) उनमें प्राचीन-परम्परा का पूर्णतया निर्वाह किया गया है (३) कहीं-कहीं प्रेम का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक तथा मार्मिक वर्णन पाया जाता है।

कलापूर्ण कविता के लिए सरस संगीतपूर्ण शब्द-विन्यास, मधुर भावयुक्त कल्पना, रोचक व्यंजना तथा अनूठी युक्ति आदि की आवश्यकता होती है। ये सब बातें ब्रजभाषा की रीतिकालीन कविता में पाई जाती हैं। 'अलंकारों के प्रेत' केशव जिनकी सेवा के लिए बिचारी भाषा भी हाथ जोड़े खड़ी रहती थी, 'गागर में सागर' भरने वाले विहारी, 'पीयूषवर्षी' मतिराम और देव, 'गंगा की कछार में भुजदण्ड ठोंकि' लड़ने वाले पद्माकर आदि कवियों ने अपनी-अपनी कलापूर्ण रचनाओं द्वारा ब्रजभाषा कविता-कामिनी की माँग भरने में रंचमात्र भी कोर-कसर नहीं छोड़ी है। जिस भाव को इन कवियों ने लिया है उसका सांगोपांग वर्णन किया है और दूसरों को उस भाव पर लिखने के लिए बहुत कम छोड़ा है। इसीसे इनकी किसी भी भावमयी कविता को देखने पर उसका उत्तम से उत्तम चित्र उसमें मिलता है। 'देव' ने इस अपने एक ही पद में संयोग-प्रेम की कितनी अवस्थाओं का सर्वोत्तम शब्द-विन्यास के साथ चित्रण किया है—

'रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई-दई;
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, औचक उचकि 'देव',
छकि-छकि, बकि-बकि, परत बई-बई।
दोउन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेह की नई-नई;
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधामन मोहि-मोहि मोहन मई-मई॥'[1]

यही कारण है कि 'हरिऔध' ने ब्रजभाषा के रीतिकालीन कविता के लिए कहा है कि 'मैं जब कला की कसौटी पर ब्रजभाषा की कविता को कसता

१. कृष्णविहारी मिश्र—देव और विहारी, १९८२ वि०, पृ० १६६

हूँ तो उसको बावन तोले पाव रत्ती ठीक पाता हूँ।'[१]

ब्रजभाषा की नायिका-भेद की रचनाएँ कामशास्त्र की वस्तु होने पर भी उनमें हमारी एक प्राचीन परम्परा की रक्षा है। संस्कृत का काव्य-साहित्य नायिकाओं के वर्णन से अलंकृत है। इन ब्रजभाषा के कवियों ने उनको हिन्दी-पाठकों के लिए उपलब्ध कर उपकार ही किया है। दूसरे, उस मुसलमानी राजत्वकाल में जबकि हमारी धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्थाएँ गिरी हुई थीं, हमारे जीवन और साहित्य पर फारसी सभ्यता और दरबारी विलासिता का अनिवार्य प्रभाव पड़ रहा था, तब भी इन कवियों ने अपनी रचनाओं पर उनका प्रभाव बहुत कम पड़ने दिया है। उनके नायिका-वर्णन में कहीं-कहीं अश्लीलता का आधिक्य होते हुए भी उनकी नायिकाएँ मूलरूप में भारतीय बनी रहीं। उनका आदर्श उच्चकोटि का देखने को मिलता है—

'फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी बाल,
भाल दीन्हीं बेंदी मृगमद की असित है;
अंग - अंग भूखन बनाइ ब्रज - भूखन जू,
बीरी निजकर ते खवाई करि हित है।
ह्वै के रसबस जब दीबे को महावर के,
'सेनापति' श्याम गह्यो चरन ललित है;
चूमि हाथ नाह के लगाइ रही आँखिन सों,
कही प्रान प्यारे यह अति अनुचित है॥'[२]

जहाँ यह कहा जाता है कि उन कवियों द्वारा तैयार किए हुए प्रत्येक ऋतु के नुस्खों में नवबाला अवश्य होती थी, वहाँ कहना यह है कि ऐसा उन लोगों ने संस्कृत-साहित्य के अनुकरण पर ही किया है। सुप्रसिद्ध कवि 'बाणभट्ट' लिखित शीतोपचार का यह नुस्खा देखिए—

'द्वारे गृहस्य पिहितं शयनस्य पार्श्वे
वन्हिर्ज्वलत्युपरि तूल पटोगरीयान्।

१. हरिऔध—विभूतिमती ब्रजभाषा, १९९७ वि०, पृ० ७
२. हरिऔध—विभूतिमयी ब्रजभाषा, १९९७ वि०, पृ० २६, २७

अङ्केनुकूलमनुरागवशात्कलत्र
मित्थं करोति किमसौ स्वपतस्तुषारः ।'[1]

फिर इसके लिए बिचारी ब्रजभाषा ही सम्पूर्ण अश्लीलता की जननी क्यों बताई गई है ?

इन नायिकाओं के वर्णन में कहीं-कहीं प्रेम की उदात्त और पवित्र रचनाएँ भी मिलती हैं, जैसे—

१. 'सब जग कान-कान ही दीसै अब मेरी स्याम-रंग-रँगी दीठि ।'[2]

२. 'मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन-मई-मई ।'[3]

३. 'पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु-आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥'[4]

इन पदों में प्रेम का चित्रण कवियों द्वारा बड़ी उच्चभूमि पर किया गया है। जिस प्रकार प्रगाढ़ उपासना के क्षेत्र में उपासक अपने उपास्य से तन्मयता का अनुभव करता है और सर्वत्र उसी का दर्शन पाता है, उसी प्रकार प्रेम की भी यह चरमावस्था है जब कि प्रेमी की दृष्टि में सब जगह प्रिय ही दिखलाई देने लगता है, और वही उनके नेत्रों में और मन में छा जाता है। इस भाँति का प्रेम ऐंद्रियकता से परे अलौकिक होता है। इस प्रकार के उदाहरण इनकी रचनाओं में कम अवश्य हैं, पर खड़ीबोली के कवियों का यह कहना कि रीतिकालीन सम्पूर्ण कविता असंस्कृत तथा अश्लीलता की कोटि में ही रखी जाने योग्य है, अत्युक्तिपूर्ण था।

इसके अतिरिक्त, सन्त और भक्त कवियों की उलट-बासियाँ लिखने की, तथा केशव, भूषण, सेनापति आदि कवियों की पाँडित्य-प्रदर्शन की मनोवृत्ति ने भी ब्रजभाषा को लाँछित कर रखा है। यदि इस प्रकार की रचनाओं में उनके मस्तिष्क का कोरा कार्य-कलाप ही है और हृदय की भावुकता उनको

१. वीणा, जनवरी, १९३४ ई०, पृ० २३७
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—घनआनन्द, २००९ वि०, पृ० ३३५
३. कृष्णविहारी मिश्र—देव और विहारी, १९९२ वि०, पृ० १९९
४. रत्नाकर—विहारी रत्नाकर, २००० वि०, पृ०, २४२

छू तक नहीं सकी है, तब भी इससे भाषा पर उनका अधिकार प्रकट होता है। इस प्रकार की थोड़ी-बहुत रचनाएँ प्रत्येक भाषा में पाई जाती हैं, और वे कला की दृष्टि से उच्चश्रेणी की मानी जाती हैं। इसलिए इनकी गणना ब्रजभाषा की बहुत बड़ी त्रुटियों में नहीं हो सकती।

ग. वर्तमान काल

वर्तमान काल के प्रवेश के साथ जब हमारी समस्याएँ बदलीं, तब ब्रजभाषा में भी परिवर्तन दिखलाई दिया। भारतेंदु, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' आदि कवियों ने तत्कालीन समस्याओं से उत्पन्न अपने क्षोभ को इसी भाषा में इस प्रकार प्रकट किया—

> 'डफ बाज्यो भारत भिखारी को,
> केसर रंग गुलाल भूलि गयो, कोउ पूछत नाहिं पिचकारी को।
> बिन धन-अन्न लोग सब व्याकुल, भई कठिन बिपत नर-नारी को,
> चहुँदिसि काल परयो भारत में, भय उपज्यो महामारी को॥'[1]
>
> —भारतेंदु

> 'तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत,
> तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत।'[2]
>
> —प्रतापनारायण मिश्र

परन्तु कमी यह रही कि उत्तम और प्रभावशाली रचनाएँ उसमें मध्यकालीन भावों को लेकर ही होती रहीं। ब्रजभाषा-काव्य अपने को आधुनिक रूप देने में खड़ीबोली के साथ कंधे में कंधा मिलाकर न चल सका। इसीसे विद्वानों को यह कहना पड़ा कि उसमें तो 'कृष्ण-चरित्र' और 'शृंगार-रस' का चित्र ही भली-भाँति उतर सकता है।

कुछ भी हो, ब्रजभाषा-काव्य हमारे साहित्य की रत्न-राजि है और हमारे काव्य-साहित्य को ब्रजभाषा की सबसे बड़ी देन 'कृष्ण-काव्य' है। विभिन्न रसों का जैसा परिपाक ब्रजभाषा में हुआ है वैसा संस्कृत साहित्य को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। उसमें शृंगार का आधिक्य है इसीलिए वह हेय और उपेक्षणीय नहीं हो सकती। जिस विषय को दृष्टिगत रखकर उन

---

१. डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग, पृ० ४, ५

२. सरस्वती सम्वाद, जनवरी, १९५३ ई०, पृ० २४३

कवियों ने उस शृंगार रस की सृष्टि की है उसको हमें भूलना नहीं चाहिए। भावों की दृष्टि से नहीं तो कम से कम कला की दृष्टि से हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। हाँ, गन्दा साहित्य जो केवल दुर्वासनाओं की वृद्धि के लिए लिखा जाता है, वह चाहे किसी भी भाषा में हो, अनुमोदनीय नहीं हो सकता। ब्रजभाषा से अब भी हमें बहुत कुछ सीखना और लेना है। डा० बड़थ्वाल ने अपने एक लेख में लिखा है कि 'हमारे सांस्कृतिक जीवन में ब्रजभाषा का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है...वह हमारी भक्ति-भावना की विभूति की अनुपम निधि है और साहित्य-सुषमा की अभिनव चित्रशाला है।...... संगीत की जितनी पक्की चीजें होंगी प्रायः सब ब्रजभाषा की मिलेंगी। कला का आदर्श भी बहुत काल तक ब्रजभाषा-काव्य ही के अनुरूप निर्मित होता रहा। जो शृंगार रसान्तर्गत नायिका-भेद की बारीकियों को नहीं जानता वह मध्ययुग की हिन्दू-चित्रकारी को भी नहीं समझ सकता।'[1] अतएव ब्रजभाषा के विरोधियों का यह कहना कि उसका काव्य साहित्य हिन्दी के भाल पर कलंक का एक टीका है, उचित न था। ब्रजभाषा हमारे काव्य-साहित्य के एक बड़े महत्वपूर्ण अंग की पूर्ति करती है। उसके काव्य-साहित्य में हमारे समाज के चार सौ वर्षों का मानसिक इतिहास छिपा हुआ है।

खड़ीबोली

क. भारतेंदु युग

खड़ीबोली को काव्य का माध्यम बनाने का सक्रिय आन्दोलन भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हुआ था और उसकी कुछ प्रयोगात्मक रचनाएँ भी उसकाल में हुई थीं; परन्तु काव्य-क्षेत्र में उसका स्थान नगण्य होने से उस युग में उसका केवल परिचयात्मक वर्णन ही हो सकता है, मूल्यांकन नहीं। उस काल में खड़ीबोली का महत्व केवल इतना है कि वह ब्रजभाषा का कठोर विरोध सहते हुए भी काव्य-भाषा के पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर आगे ही बढ़ती रही।

ख. २० वीं शताब्दी की कविता की पृष्ठभूमि

२० वीं शताब्दी का काव्य-साहित्य प्रधानतः खड़ीबोली के काव्य साहित्य का इतिहास है। जिन नूतन आदर्शों को लेकर हम इस युग में प्रवेश करते हैं तथा जिन नवीन विचारधाराओं से हमारा काव्य-साहित्य प्रभावित

१. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वल—मकरन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ११७

होता है उसकी पृष्टभूमि पर भी थोड़ा विचार कर लेना यहाँ आवश्यक है।

यवन-दासता से निकलकर हमने अंग्रेजों की दासता स्वीकार कर ली थी। यवनों से इनकी रीति-नीति भिन्न प्रकार की थी। यवनों ने तो इस देश को ही अपना देश बनाकर राज्य किया था, और इसी देश में उनके दरबार वैभव के केन्द्र बने थे। देश की आर्थिक दशा गिरी तो अवश्य थी, पर जनता भूखों नहीं मर रही थी। यदि देश के एक कोने को यवनों ने लूटा था तो उस धन को लाकर दूसरे कोने में एकत्र कर दिया था। उनके सुखोपभोग की सामग्री देश के कारीगर ही तैयार करते थे।

हमारा नवीन शासक, शासक होने के साथ-साथ पक्का सौदागर भी था। हमारे लिए सामान अब विलायत में बनने लगा था। देश का धंधा चौपट हो गया था। नित नए-नए टैक्स लगाए जा रहे थे। इस भयंकर शोषण का परिणाम यह हुआ कि हमारा आर्थिक ढाँचा टूट गया था। हमारे पैसे से अब बन रहा था वैभव का केन्द्र विलायत, सात समुद्र पार। इसीसे भारतेन्दु युग के काव्य में जहाँ अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा में यह पंक्ति लिखी गई 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी' वहाँ कवि ने दूसरी पंक्ति में अपने क्षोभ को इस प्रकार प्रकट किया, 'पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।' नीचे के पद में तो वह अंग्रेजों की नीति को और भी स्पष्ट कर देता है—

'भीतर-भीतर सब रस चूसैं,
बाहर से तन मन धन मूसैं।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि साजन ! नहिं अँग्रेज।'[१]
—'भारतेन्दु'

अतः जिस राजनीति को लेकर द्विवेदी युग में राष्ट्रीय आन्दोलन चला और जिन कविताओं को खड़ीबोली में रचकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त 'राष्ट्र-कवि' कहलाए, उन्हीं रचनाओं का जन्म भारतेन्दु युग में इसी पूँजीवादी शोषण के विरोध में हो चुका था।

इस राजनीतिक हलचल के साथ-साथ ब्राह्म-समाज और आर्य-समाज की भी स्थापना १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गई थी। इन सामाजिक

---

१. डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग, पृ० १५

तथा सुधारवादी संस्थाओं ने भारतीय समाज को एक नवीन दृष्टिकोण और नवचेतना दी, जिनके प्रभाव से २० वीं शताब्दी में समाज-सुधार सम्बन्धी रचनाएँ होती रहीं।

अब तक हिन्दी-क्षेत्र में प्रेस की स्थापना हो चुकी थी। इससे साहित्य का प्रकाशन बढ़ रहा था। पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार बढ़ने से हमारे कवि जनता के अधिकाधिक सम्पर्क में आने लग गए थे। उनकी सुख-दुःख की कहानियाँ उनको मालूम होने लगी थीं। अतः कविता अब कला और कल्पना के क्षेत्र से हटकर वास्तविकता और यथार्थता की ओर मुड़ी, और उनकी रचनाओं में साधारण मानव को भी स्थान मिला।

अँग्रेजों के सम्पर्क से उनके प्रौढ़ और समृद्ध साहित्य का भी अनिवार्य प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा। उनके साहित्य के बुद्धिवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने हमारे साहित्य में चली आती हुई बहुत-सी रूढ़ियों और कोरी भावुकता का अन्त करके स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया। छायावादी रचनाएँ बहुत कुछ इसी का परिणाम हैं।

अतः २० वीं शताब्दी का काव्य-साहित्य परिस्थितियों के इन्हीं नवीन विकास की पृष्ठ-भूमि पर खड़ा हुआ है।

ग. द्विवेदीयुग

इस काल की खड़ीबोली की रचनाएँ काव्य-सौष्टव की दृष्टि से बहुत ऊँची नहीं हैं। उनका मूल्य इसलिए है कि वे हमारी सामाजिक प्रगति की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं। हमारा मध्यकालीन ढाँचा जर्जर हो चुका था। छूत-अछूत का भूत लोगों के शिर पर सवार था। बाल-विवाह और अनमेल-विवाह हो रहे थे। दहेज की कुप्रथा प्रचलित थी। किसानों और मजदूरों की दशा मार्मिक और दयनीय थी। बाल-विधवाओं की कहानी बड़ी करुण थी। अब तक प्राचीन कवियों ने इनको अपनी कविता का प्रधान विषय नहीं बनाया था। इस काल के खड़ीबोली के कवियों ने समाज के इन सभी अङ्गों पर बड़ी सहानुभूतिपूर्ण लेखनी चलाई है। डा० केसरी-नारायण शुक्ल ने 'आधुनिक काव्य-धारा' में द्विवेदी-युग की सामाजिक कविता पर विस्तृत विचार किया है। इसमें उन्होंने लिखा है कि इस युग के कवि प्रत्येक प्रकार की सामाजिक बुराइयों को नष्ट कर देश की सामाजिक दशा सुधारने पर कमर कसे दिखलाई देते हैं। पं० नाथूरामशंकर शर्मा

समाज को जाति-पाँति के जाल से छुड़ाकर एकता के सूत्र में बाँधने के लिए दृढ़-सङ्कल्प हैं—

'जाति-पाँति के धर्म-जाल में उलझे बड़े गँवार।
मैं इन सब को सुलझा दूँगा, करके एकाकार ॥'[1]

स्त्रियों की 'अशिक्षा' पर दुःख प्रकट करते हुए ठा० गोपालशरणसिंह लिखते हैं—

'आज अविद्या-मूर्ति सी हैं सब श्रीमतियाँ यहाँ।
दृष्टि अभागी देख ले उनकी दुर्गतियाँ यहाँ ॥'[2]

किन्तु, इस युग का कवि नारी-शक्ति को पहचानता भी है। वह देश और जाति के उद्धार के लिए उस नारी-शक्ति का आवाहन इस प्रकार करता है—

'आर्य-जगत में पुनः जननि,
निज जीवन-ज्योति जगाओ।
आर्य-हृदय में पुनः आर्यता का,
शुचि स्रोत बहाओ ॥'[3]

किसानों की दुर्दशा का वर्णन पं० रामचरित उपाध्याय, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' इस प्रकार करते हैं—

'यदि तुम होते दीन कृषक,
तो आँख तुम्हारी खुल जाती।
जेठ घाम में अस्थि तुम्हारी,
तप्त स्वेद में घुल जाती ॥
दानों बिन भटकते फिरते,
हरदम दुखड़े गाते तुम।

---

१. डा० केशरीनारायण शुक्ल—आधुनिक काव्यधारा, २००७ वि०, पृ० १४५

२. वही पृ० १४७

३. वही पृ० १४४

मुख से बात न आती कैसे,
बढ़कर बात बनाते तुम ।।'[1]

—पं० रामचरित उपाध्याय

'हो न अगर विश्वास आप गाँवों में जाएँ ।
देखें यदि दुर्दशा कलेजा थामे आएँ ।।'[2]

'सनेही'

इस प्रकार की रचनाओं से इस युग की खड़ीबोली की कविता भरी है। पं० श्रीधर पाठक, पं० नाथूरामशंकर शर्मा, डा० गोपालशरणसिंह, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रामचरित उपाध्याय आदि कवियों ने सामाजिक कुरीतियों का बड़ा कड़ा विरोध किया है। द्विवेदी युग के कवियों में सबसे अधिक प्राणवान तथा युग-चेतना के प्रतीक स्वरूप महाकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में तो इसका पूरा-पूरा आभास मिलता है। उनकी 'भारत-भारती' उस समय लोगों की 'गीता' बनी हुई थी। तात्पर्य यह कि इस युग के प्रायः सभी कवियों की खड़ीबोली की रचनाएँ सामाजिक दृष्टि से सुधारवादी हैं।

प्रकृति-वर्णन भी इस युग के खड़ीबोली-काव्य में अपना विशेष महत्व रखता है। इसके पहले प्रकृति का चित्रण अधिकतर उद्दीपन के लिए किया गया है, परन्तु पं० श्रीधर पाठक, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० लोचनप्रसाद पाण्डे, पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि ने प्रकृति के दृश्यों का स्वतन्त्र चित्रण करके प्राचीन रूढ़ि को तोड़ दिया है। इन कवियों के हृदय में जो सच्चा प्रकृति-प्रेम है वह स्वयं हिन्दी-काव्य में एक नवीन चेतना का द्योतक है। सान्ध्य-काल का एक मनमोहक वर्णन इस प्रकार है—

'विजन बन-प्रान्त था, प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।

---

१. डा० केसरीनारायण शुक्ल—आधुनिक काव्यधारा, २००७ वि०, पृ० १६५

२. वही पृ० १६४

प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल-अरविन्द-नभ नील सुवि-
शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा।'[1]
'श्रीधर पाठक'

इस युग की खड़ीबोली की कविता में कवियों की धार्मिक-भावना भी उदार पाई जाती है। यदि मुकुटधर पाँडे को ईश्वर दीन-दुखियों के पास मिला—

'खोज में हुआ वृथा हैरान, यहाँ ही था तू हे भगवनान।
दीन-हीन के अश्रुनीर में, पतितों की परिताप पीर में॥'[2]

तो डा० गोपालशरणसिंह को वह विश्व-प्रेम में दिखलाई दिया 'विश्व-प्रेम बन्धन ही में मुझको मिला मुक्ति का द्वार।'[3] पश्चिम के वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से देवी-देवताओं का अस्वाभाविक वर्णन भी बन्द हो रहा था। राम और कृष्ण को आदर्श मानव का रूप दे दिया गया। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'इन कवियों ने पुराने जीवन-साँचे में नए राम-कृष्ण को नहीं, नए जीवन-साँचे में पुराने राम-कृष्ण को ढालना चाहा और ढाल भी दिया।'[4] 'प्रिय-प्रवास' के राधा-कृष्ण कवि के इसी मानवतावादी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ईश्वर के रूप में नहीं गृहीत हुए। इन आदर्श चरित्रों के निर्माण से कवि का उद्देश्य केवल लोगों की नैतिकता को ऊँचा उठाकर देश का उद्धार करना था।

देशभक्ति की रचनाओं में भी कवि का यही आदर्शवादी दृष्टिकोण पाया जाता है। 'स्वदेश' और 'जन्मभूमि' के नाम पर वह या तो अपने प्राचीन गौरव को स्मरण कराता है—

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, पृ० ७३१
२. डा० केशरीनारायण शुक्ल—आधुनिक काव्यधारा, २००७ वि०, पृ० १५२
३. वही पृ० १५१
४. नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, २००७ वि०, पृ० १२ भूमिका

'जहाँ हुए व्यास मुनि - प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तमान,
जो थी जगत्पूजित धन्यभूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि।'[1]

—महावीर प्रसाद द्विवेदी,

या, ऐतिहासिक तथा पौराणिक महापुरुषों के गौरव-गान द्वारा देश की सुप्त चेतनता को उद्बुद्ध कर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहता है। इस सम्बन्ध में लाला भगवानदीन का 'वीरपंचरत्न' सियारामशरण का 'मौर्य-विजय' गोकुलचन्द शर्मा का 'प्रणवीर प्रताप' आदि रचनाएँ विशेष उल्लेख-नीय हैं।

इस भाँति हम देखते हैं कि इस युग की खड़ीबोली की कविता में सर्वतोमुखी नव-चेतना ने जन्म ले लिया था। समाज के प्रत्येक-क्षेत्र में सुधार सम्बन्धी रचनाएँ होने लग गई थीं। भले ही ब्रजभाषा के कवियों को उनमें काव्य-सौन्दर्य का अभाव खटक रहा था, पर हमारा सामाजिक जीवन और काव्य प्रथम बार खड़ीबोली के माध्यम द्वारा एक हुआ था। इसीसे उसका विरोध होने पर भी, जनरुचि बराबर उसमें बढ़ती गई।

घ. छायावादी युग

इसके बाद हम छायावादी युग में प्रवेश करते हैं। यह युग खड़ीबोली की कविता का 'अलंकृत-काल' है। इस काल में वह इस अपवाद से कि वह कोमल और सूक्ष्म भावों के प्रदर्शन में असमर्थ है, मुक्त हो गई। भाषा के सम्बन्ध में विचार छठें-अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ केवल यह देखना है कि इन छायावादी कवियों ने हिन्दी-कविता के कोष को किन-किन अन्य प्रकार के रत्नों से भरा है; क्योंकि इस विवाद में छायावादी कविता के लिए यह बार-बार कहा गया है कि उसमें कवि कुछ कह रहा है ऐसा तो सुनाई पड़ता है, पर क्या कह रहा है यह समझ में नहीं आता।

हमारे साहित्य पर वाह्य प्रभाव अब स्पष्ट रूप से पड़ने लगा था। अंग्रेजी के रोमान्टिक साहित्य की वैयक्तिक भावना तथा बंगला कवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर की 'गीतांजली' की रहस्यवादी भावना से हमारे कवि काफी

१. सरस्वती, अप्रैल १६०६, पृ० १३४

प्रभावित हो रहे थे। हिन्दी-काव्य पर बंगला के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए पं० सुमित्रानन्दनपंत ने लिखा कि 'कवींद्र रवींद्र भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत बन कर आए। उन्होंने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावों का वैभव, नवीन कल्पना का सौंदर्य, नवीन छन्दों की स्वर झंकृत, प्रदान कर उसे विश्व-प्रेम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया। कवीन्द्र के युग से जो महान प्रेरणा हिन्दी काव्य-साहित्य को मिली वही वास्तव में छायावाद के रूप में विकसित हुई।'[1]

दूसरे, द्विवेदीकाल की राजनीतिक, धार्मिक और सुधारवादी रचनाएँ कवि को स्थूल वस्तु के वर्णन की ओर ले गई थीं। उनमें सूक्ष्म और कोमल भावनाओं के वर्णन का अभाव था। इसीकी प्रतिक्रिया में इस युग का कवि सौंदर्यानुभूति की कोमल प्रवृत्ति को लेकर चला है। इसका केन्द्र बनी प्रकृति, जिसका पर्यवेक्षण इन कवियों ने अनेक दृष्टियों और बड़ी सूक्ष्मता से किया है। मोटे रूप से प्रकृति का [१] सम्वेदनात्मक और [२] रहस्यात्मक चित्रण इस धारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

इन कवियों ने प्रकृति में एक सजीव चेतना का अनुभव किया और उसको अपना जीवन-सहचरी बनाया। वह इनके साथ हँसती, गाती और रोती रही। 'प्रसाद' ने इस नीचे के पद में मानव-भावों का आरोप प्रकृति में बड़ी सुन्दरता के साथ किया है—

'जब कामना सिन्धु तट आई
ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी
तू हँसती क्यों अरी प्रतीप ?
इस अनन्त काले शासन का
वह जब उच्छृङ्खल इतिहास,
'आँसू औ' तम घोल लिख रही
तू सहसा करती मृदुहास।'[2]

इसी प्रकार इन कवियों ने प्रकृति को प्रतीक मानकर रहस्यवादी भावनाओं का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

१. अमृत पत्रिका' (दैनिक), १६ अप्रैल, १९५१, पृ० ४
२. प्रसाद—कामायनी, २००० वि०, पृ० ३७

'यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जाग रही है
उस अतीत के नीरव गान !'[1]

प्रकृति के माध्यम द्वारा लौकिक प्रेम के विरह, मिलन आदि अवस्थाओं का चित्रण भी प्रच्छन्न रूप से इनकी रचनाओं में मिलता है—

'मैं तो लघु बादल हूँ जीवन है क्षण दो चार
प्रेयसी तुम चन्द्र कला-सी आ जाओ मेरे द्वार
उज्ज्वल अधरों से दे दो उज्ज्वल जीवन का सार।'
('रूपराशि'—रामकुमार वर्मा)

जिस समय प्रथम महायुद्ध की विभीषिका की छाया देश पर पड़ रही थी, जलियानवाला बाग का नरमेध हो चुका था, स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चल रहा था, देश के प्रिय नेता जेलों में बन्द कर दिए गए थे, ऐसे समय में छायावादी कवियों की इस प्रकार की रचनाएँ जिनमें सौंदर्यानुभूति की कोमल प्रवृत्तियों तथा अदृश्य सूक्ष्म भावनाओं के दर्शन हों, लोगों को विरोधभास-सी दिखलाई दी थीं। इसीसे कुछ विद्वानों ने उसे स्वप्नवाद, अनन्तवाद, पलायनवाद आदि नामों से अभिहित किया था और उसकी कटु आलोचना की थी। वस्तुतः इनकी रचनाएँ अधिकतर 'आकुल तानों से व्यथित' हैं; किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न सुख-दुख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन की अभिव्यक्ति, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह एवं साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के शोषण से मुक्त होने की भावना भी उनमें हुई है। जिस समय १६२० ई० में सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ा और देश ने भारत माँ के चरणों पर अपनी बलि चढ़ाकर उसको स्वतंत्र करने की प्रतिज्ञा ली, उस समय छायावादी कवि लिखता है—

'नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ
× × ×

1. निराला—अपरा, २००३ वि०, पृ० १०१

मुक्त करूँगा तुझे अटल
तेरे चरणों पर देकर बलि'[१]

वही कवि १९२१ ई० में आर्य-सन्तानों को उनके पूर्व गौरव की स्मृति दिलाकर इस प्रकार जगा रहा है—

'पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर, क्रूर नहीं
कालचक्र में हो दबे,
+ + +
तुम हो महान्
तुम सदा हो महान्
× × ×
पद रज भर भी है नहीं
पूरा यह विश्वभार—
जागो फिर एक बार।'[२]

सुभद्राकुमारी चौहान किस ओजपूर्ण शब्दों में सत्याग्रही वीरों को प्रोत्साहन दे रही हैं—

'असहयोग पर मर मिट जाना
यह जीवन तेरा होगा।
हम होंगे स्वाधीन, विश्व का
वैभव धन तेरा होगा।'[३]

इसके अतिरिक्त सुधारवादी रचनाओं में इन कवियों ने पुरानी रूढ़ि से दबी हुई स्त्रियों को कोरी कामुकता से निकालकर एक दृढ़ और स्वस्थ सामाजिक भूमि पर खड़ा किया है—

'योनि नहीं है रे नारी,
वह भी मानवी प्रतिष्ठित।'[४]

नारियों के प्रति इनकी भावना सदैव उदात्त है—

१. निराला—अपरा, २००३ वि०, पृ० २३
२. निराला—अपरा, २००३ वि०, पृ० ११
३. सुभद्राकुमारी चौहान—मुकुल, १९४४ ई०, पृ० ७९
४. पन्त—ग्राम्या, १९९९ वि०, पृ० ८५

'स्नेहमयी ! सुन्दरतामयि !
+ + +
तुम्हारा मृदु-उर ही सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गागार ।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
+ + +
देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण ।'[1]

इस युग की नारी न तो भक्तिकाल की नारी के समान अवगुणों की खानि है और न रीतिकाल की नायिका के समान केलि-गृह की वस्तु जो नित अभिसार की ही तैयारी करती रहती थी । वह आज हमारे सारे सुख-सौंदर्य का कारण है—

'तुमने इस सूने पतझड़ में
भर दी हरियाली कितनी
मैंने समझा मादकता है
तृप्ति बन गई वह इतनी ।'[2]

जहाँ नारी के 'प्रेयसी' और 'प्रणयिनी' रूप का चित्रण इन कवियों ने किया है वहाँ भी इनकी रचनाएँ अरुचिपूर्ण कम हो पाई हैं । प्रेम की व्यंजना में कतिपय अपवादों को छोड़कर इन लोगों ने औचित्य-अनौचित्य का सदा ध्यान रखा है । इनकी रचनाओं में तत्कालीन अन्य सामाजिक और ऐतिहासिक बातों का भी वर्णन पाया जाता है । निराला की 'विधवा' 'भिक्षुक' 'तोड़ती पत्थर' 'दान' सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' 'जलियाँवाले बाग में वसन्त' 'मेरी टेक' आदि रचनाएँ इसके उदाहरण हैं । उनकी वैयक्तिक अनुभूतिपूर्ण रचनाओं के सामने इस प्रकार समाजहित की भावना से अनुप्राणित रचनाएँ बहुत कम हैं । कहने के लिए तो उन लोगों ने कहा 'वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार' पर वे किसी यथार्थ वस्तु के वर्णन में भी, काव्य में सौंदर्य लाने की दृष्टि से, उसको कल्पना के आवरण में लपेट कर प्रतीकों के सहारे इस भाँति उपस्थित करते रहे कि वह लोगों को धूमिल चित्र ही दे सका है । इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रवेश हुआ ।

१. पन्त—पल्लव, १९४२ ई०, पृ० ५३, ५४
२. प्रसाद—कामायनी, संवत् २००० वि०, पृ० १७०

ङ. प्रगतिवादी युग

इसी बीच में हमारा देश और साहित्य मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों से परिचित हो गया था। उसका प्रभाव काव्य-साहित्य पर भी पड़ा, और १६३७ ई० के उपरान्त कवियों की कल्पना मानसिक भूमि से उतर कर वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर आने लगी। इसने एक नवीन काव्य-चेतना 'प्रगतिवाद' को जन्म दिया। 'इन्द्रधनुष पर शीश धर कर, बादलों की सेज सुख पर' सोने वाला कवि (बच्चन) अब गाता है कि 'मेरा तन भूखा, मेरा सारा जीवन भूखा।'[1] पन्तजी कहते हैं—

'ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन ?
× × ×
ताको भू को, स्वर्गिक भू को, मानव-पुण्य प्रसू को।'

कहने का तात्पर्य यह कि समाज की विषमताओं और जीवन की असंगतियों ने छायावादी कवियों के स्वच्छन्दतावादी उन्मुक्त-उल्लास को कुचल दिया। उनकी रचनाओं में अब असन्तोष और संघर्ष की क्रान्तिकारी भावना प्रधान हो गई—

'गगन पर घिरो मंडलाकार,
अवनि पर गिरो वज्र सम आज।
गरज कर भरो रुद्र हुँकार,
यहाँ पर करो नाश का साज।
नष्टभ्रष्ट प्रासाद पड़े हों, जल प्लावित संसार।
× × ×
बरसो-बरसो और सघन घन महाप्रलय की धार॥'[2]

'भगवतीचरण वर्मा'

पूँजीवाद के शोषण से उत्पन्न हुई विषमता का चित्रण इस प्रकार हुआ है—

'खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है 'कैपिटलिस्ट'[3]

'निराला'

१. पं० शांतिप्रिय द्विवेदी—युग और साहित्य, १६४१ ई०, पृ० ४७, ४८
२. शिवदानसिंह चौहान— प्रगतिवाद, १६४६, पृ० ५३, ५४
३. रामरतन भटनागर—निराला एक अध्ययन, १६४७ ई० पृ० २१०

'श्वानों को मिलता दूध दही, बच्चे भूखे तड़पाते हैं।
माँ की हड्डी से ठिठुर चिपक जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेच कर ब्याज चुकाए जाते हैं।
मिल मालिक तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं ॥'[1]

'दिनकर'

इन विषमताओं तथा दुख-दैन्य को मिटाने के लिए इस काल का कवि एक वर्ग-हीन समाज की कल्पना करने लगा, जहाँ आर्थिक साम्य हो और धार्मिक व साँस्कृतिक समन्वय—

"जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणि शत,
नीति रीति गत है
मानवता में सकल समागत
जन मन परिणत है'[2]

'पन्त'

इस प्रगतिवादी धारा की प्रमुख रचनाएँ है 'युगवाणी' 'ग्राम्या' (पन्त), 'कुकुरमुत्ता' (निराला), जीवन के गान (शिवमंगलसिंह), 'मानव' (श्रीमन्नारायण अग्रवाल), 'प्रभातफेरी' (नरेन्द्र), 'हुँकार', 'विपथगा' (दिनकर), 'बादल' (भगवतीचरण वर्मा), 'कुंकुम' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन) आदि।

च हालावाद, मांसलवाद आदि की रचनाएँ

जिस प्रकार 'मार्क्स' के समाजवादी सिद्धान्त तथा छायावादी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया ने हिन्दी-काव्य साहित्य को 'प्रगतिवादी' चेतना से प्रभावित किया, उसी प्रकार 'फ्रायड' आदि पश्चिमी मनोविश्लेषकों के रागवृत्ति सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण ने भी उसमें महान् क्रान्ति उपस्थित की, जो काव्य-साहित्य में बच्चन के 'हालावाद' तथा 'अंचल' आदि कवियों के 'माँसलवाद' के नाम से कुछ दिनों तक चलता रहा। इसमें कवि ने छाया-वाद की सूक्ष्म आध्यात्मिक एवं नैतिक विश्वासों के प्रति विद्रोह किया। 'बच्चन' ने लिखा—

१. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद, २००६ वि०, पृ० १४२
२. पन्त—ग्राम्या, १९९६ वि०, पृ० ५५

'कह रहा जग वासना मय, हो रहा उद्‌गार मेरा,
मैं छिपाना जानता तो, जग मुझे साधू समझता।
शत्रु मेरा बन गया है, छल रहित व्यवहार मेरा।।'[१]

वह 'छल रहित व्यवहार' इन कवियों का कैसा था? उसे 'मधूलिका' के कवि (अंचल) की इस ऐन्द्रियकता से भरी रचना में देखा जा सकता है—

'फूल उसास प्रदोलित, वक्षस्थल जब उठ उठ जाता।
पावक-सी इस रूप घटा को, कौन विलोक अघाता?
गमक रही मद भरी मंजरी-सी मधुमूर्ति नवेली।
गोरे अँग-अँग में हाला, हालाहल सी अलबेली।।
कहाँ मिलेगा फिर यह बाँका, प्यारा-प्यारा यौवन!'[२]

छ. प्रयोगवादी रचनाएँ

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त, खड़ीबोली काव्य साहित्य ने पुनः एक नया मोड़ लिया और प्रयोगवादी रचनाओं की ओर मुड़ पड़ा है। १५ अगस्त, १९४७ ई० की पावन तिथि को देश की पीठ पर से जब दासता का बोझ हटा, तब उस मुक्ति दिवस पर प्रयोगवादी कवि लिखता है—

'ऊँची हुई मसाल हमारी
आगे कठिन डगर है,
शत्रु हट गया लेकिन उसकी
छायाओं का डर है।
शोषण से मृत है समाज
कमजोर पुराना घर है,
किन्तु आ रही नई जिन्दगी
यह विश्वास अमर है।'[३]
(गिरजाकुमार माथुर)

१. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद, २००९ वि० पृ० १०१

२. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद, सं० २००९ वि०, पृ० ९९

३. अमृत-पत्रिका, २३ अगस्त, १९५३ ई०, पृ० ३ (विशेषाँक)

श्री 'अज्ञेय जी' 'तारसप्तक' की विवृति में लिखते हैं कि ये प्रयोगवादी कवि अभी 'किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं, राहों के अन्वेषी।'[1] इसलिए इन अन्वेषियों की कविता का यथार्थ मूल्यांकन भविष्य ही कर सकेगा, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि इस समय हिन्दी की कविता ह्रासोन्मुख है। भविष्य इसके लिए सुन्दर और आशापूर्ण कल्पना कर सकता है, पर इस समय उसका स्वतन्त्र विकास रुका हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी भाव-भूमि खड़ीबोली की कविता में विस्तृत हो गई है। छोटी-बड़ी प्रत्येक घटना को काव्य में स्थान मिलने लगा, दीनदलित भी काव्य के विषय बनाए गए, स्त्रियों के प्रति सम्मान और उदारभावना का काव्य में प्रवेश हुआ, प्रकृति भी कवियों की पवित्र सहचरी और धात्री बनी। तात्पर्य यह कि खड़ीबोली ने जीवन और प्रकृति को कविता का आधार बनाया। ब्रजभाषा की 'मादकता' और 'विलास-विभ्रम' से उसने बहुत कुछ अपने को बचाए रखा। यहाँ हम यह भी देखते हैं कि खड़ीबोली उत्तरोत्तर काव्योचितगुण से युक्त होती गई है। इस विवाद के प्रारम्भ काल में उसके विरोधियों द्वारा जो यह दावा किया गया था कि 'उसका (ब्रजभाषा) सा अमृतमय चित्तचालाक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी के बाप की मजाल नहीं' उसका अब कोई महत्व नहीं रहा है। आज उसको हम ब्रजभाषा के समान ही सरस और मधुर पाते हैं।

सारांश

ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस मूल्यांकन को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य साहित्य एक दृढ़ सामाजिक आधार पर टिका हुआ है। इसमें कुछ प्रवृत्तियाँ, जैसे (१) दार्शनिकता तथा (२) शृंगार ऐसी हैं जो प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप से प्रत्येक काल की रचनाओं में न्यूनाधिक वर्तमान है। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनका सम्बन्ध किसी विशेष काल के काव्य साहित्य से है, जैसे दार्शनिकता का भक्तिकाल से, रसात्मकता का रीतिकाल से, भावविस्तीर्णता का भारतेंदु काल से, सुधारात्मकता का द्विवेदी काल से, भावव्यंजकता का छायावादी काल से तथा साम्यवादिता का प्रगतिवादी काल से। ये विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियाँ जो विभिन्न कालों में देखी जाती

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, २००७ वि०, पृ० १६

हैं वे एक ही समाज के विभिन्न कालों की राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई होने के कारण उनमें भी आपस में एक गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि वे एक ही समाज के भावों के क्रमबद्ध विकास को उपस्थित करती हैं। उनमें से एक भी प्रवृत्ति को निकाल देने से फिर वह उस समाज के काव्य साहित्य के इतिहास को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकेगी। अतः ब्रजभाषा और खड़ीबोली, विभिन्न प्रवृत्तियों को अपनी-अपनी काव्यधारा में अपनाते हुए भी, दोनों मिलकर ही उस समाज के काव्य साहित्य के इतिहास को पूरा करती हैं।

ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली आई, इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रजभाषा से उसका सम्बन्ध टूट गया। भाषा का परिवर्तन तो हिन्दी साहित्य में कई बार हो चुका है। श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ के शब्दों में 'हिन्दी कविता-कामिनी का जब से भारतीय रंगमंच पर प्रवेश हुआ है विविध पट परिवर्तन हुए हैं। कभी तो इसने प्राकृत मिश्रित भाषा का रूप धारण कर रणचंडी का भेष बनाया, कभी ब्रजभाषा की सुन्दर सारी पहनकर नागर नटवर के संग नृत्य किया और फिर खड़ीबोली रूपी आभूषण से सुसज्जित होकर साहित्य जगत को जगमगा दिया।'[1] लेकिन हमारा काव्य साहित्य एक ही है, जिसमें 'रासो' से लेकर आज तक की रचनाएँ सब सम्मिलित हैं और उनमें हमारी सांस्कृतिक परम्परा की एक ही धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती है। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद (केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री) चाहे, कबीर, तुलसी, मीरा, सूर आदि कवियों को जो हिन्दी-काव्य साहित्य के रत्न समझे जाते हैं, पैदा करने का श्रेय हिन्दी को न दें[2] किन्तु हिन्दी-काव्य जगत ब्रजभाषा और खड़ीबोली के काव्य-साहित्य को अलग-अलग स्थानों पर रखकर पार्थक्य की भावना से विचार नहीं कर सकता। जो बातें ब्रजभाषा में नहीं हैं, जैसे देश-भक्ति, शुद्ध प्रकृति-चित्रण आदि वे खड़ीबोली में हैं और जो बातें खड़ीबोली-

१. कृष्णदेव प्रसाद गौड़—आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति, १९२९ ई०, पृ० ५

२. मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद ने १५ मार्च, १९५१ ई० को 'अखिल भारतीय विद्वत परिषद' (एकेडेमी आव लेटर्स) की पहली बैठक का उद्घाटन करते हुए अपने भाषण में कहा था कि आधुनिक हिन्दी (खड़ीबोली) का प्रादुर्भाव २० वीं शताब्दी में हुआ है। कबीर, तुलसी, मीरा, सूर आदि का सम्बन्ध इससे नहीं है।

काव्य में नहीं हैं, जैसे कृष्णभक्ति, रीति आदि के वर्णन, वे ब्रजभाषा हैं। दोनों मिलकर हिन्दी-काव्य साहित्य की पूरक हैं। अतः ब्रजभाषा और खड़ी-बोली हिन्दी काव्य-साहित्य की दो कड़ियाँ होने पर भी आपस में अच्छी प्रकार जुड़ी हुई हैं, जो पृथक नहीं की जा सकतीं।

ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस मूल्यांकन से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि इस विवाद में जो कहीं-कहीं एक दूसरे की उग्र और कटु आलो-चना की गई है वह उचित नहीं थी। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का अपनी-अपनी जगह विशेष महत्व है। ब्रजभाषा का निष्कासन तथा खड़ी-बोली का प्रवेश सामयिक माँग थी, जिसकी पूर्ति हुई है।

नवाँ अध्याय

उपसंहार—

वर्तमान हिन्दीभाषा तथा साहित्य की उन्नति पर इस विवाद का ऐतिहासिक प्रतिफल

इस द्वन्द्व में खड़ीबोली के विजय के कारण

कविता के माध्यम के लिए भाषा का जो यह परिवर्तन हिन्दी साहित्य में हुआ, अथवा खड़ीबोली ब्रजभाषा को जो अपदस्थ कर सकी, उसमें सामाजिक एवं सामयिक परिस्थितियाँ हीं कारण थीं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस द्वन्द्व में भाग लेने वाले कुछ विद्वानों ने काव्यभाषा के इस परिवर्तन को पूर्णतया भाषातत्वों के अन्तर्गत समझा था। इस विवाद का निर्णय भी उन्होंने दोनों भाषाओं—ब्रजभाषा और खड़ीबोली के भाषागत विशेषताओं के पारस्परिक तुलना के आधार पर करना चाहा था। उनका कहना था कि ब्रजभाषा खड़ीबोली से अधिक मधुर, सरस, सशक्त तथा काव्योचित गुणों से युक्त है, और जब तक उसमें ये विशेषताएँ बनी हुई हैं, तब तक कविता में उसका स्थान कर्णकटु खड़ीबोली नहीं ले सकती। किन्तु, काव्यभाषा की यह समस्या न तो भाषा सम्बन्धी थी और न भाषा सम्बन्धी तत्वों के आधार पर सुलझी। मूलतः यह समस्या सामाजिक थी और उसका हल भी उसीके आधार पर हुआ।

ब्रजभाषा जिस जनपद की भाषा है उसे छोड़कर वह कभी भी देशव्यापी बोलचाल की व्यावहारिक भाषा नहीं हुई। उसकी प्रधानता केवल कविता के क्षेत्र में रही, और उसीमें वह बहुप्रान्तव्यापिनी बनी। इसका विवेचन प्रथम अध्याय में हो चुका है। इसके विपरीत खड़ीबोली बहुत पहले से बोल-चाल की अन्तःप्रान्तीय भाषा बन रही थी। इस सम्बन्ध में डा० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल का लेख 'बोली से साहित्यिक भाषा', पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख '२०० वर्ष पुरानी खड़ीबोली के नमूने' तथा सर देसाई का १७ वीं शताब्दी में 'निकोलस मनुची और शिवाजी के खड़ीबोली में बातचीत का उल्लेख', जिनका निर्देश द्वितीय अध्याय में हो चुका है, प्रबल प्रमाण हैं। उसके देशव्यापी प्रसार के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि मुसलमानी राजत्व काल में व्यापारिक वर्ग से लगी हुई यह भाषा देश के पश्चिम से लेकर पूर्व तक फैली। दक्षिण भारत के मुसलमानी शासकों तथा सूफी सन्तों द्वारा इसका चलन हैदराबाद (दक्षिण) तक हुआ। इस प्रकार खड़ीबोली सम्पूर्ण उत्तर भारत तथा दक्षिण में हैदराबाद तक की बोलचाल

की भाषा बन चुकी थी। फिर भी वह १६ वीं शताब्दी के पूर्व, साहित्य में स्थान न ले सकी। इसका भी कारण था। उस समय (मध्यकाल में) गद्य की विशेष आवश्यकता न थी। राजकीय कार्य फारसी द्वारा सम्पन्न होता था। पद्य की कमी हिन्दी साहित्य में व्रजभाषा द्वारा भली भाँति पूरी हो जाती थी। खड़ीबोली का 'उर्दू रूप' में जो विकास हो रहा था, हिन्दू उस आदर्श को हिन्दी में ग्रहण करने के लिए तैयार न थे। मुसलमानों द्वारा उठाई जाने से उनके लिए वह 'यावनी भाषा' थी।

किन्तु १६ वीं शताब्दी में बदली हुई देश की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति में प्रेस की स्थापना के साथ-साथ जब पत्रकारिता ने जन्म लिया तो हिन्दी-गद्य का विकास खड़ीबोली में पूर्ण बल से होने लगा। जब वह गद्य में इस प्रकार स्थान ले रही थी तो उसके विरोध का साहस किसी ने नहीं किया, क्योंकि वह देश के प्रधान नगरों की बोलचाल की भाषा बन चुकी थी। दूसरे, व्रजभाषा में गद्य के विकास की सम्भावना शेष नहीं रह गई थी। खड़ीबोली में गद्य का विकास उसके लिए जनरुचि पैदा करने में बड़ी सहायक हुई। इससे व्रजभाषा का प्रभाव व्यावहारिक जीवन में घटने लगा और कविता के क्षेत्र में भी उसका अपेक्षित महत्व दिन-दिन कम होता गया। प्रधान कारण खड़ीबोली के विजय का यही था जिससे काव्यभाषा का यह परिवर्तन हुआ। इसके अतिरिक्त खड़ीबोली की सफलता के कुछ अन्य कारण और थे। इनका विस्तृत विवेचन अन्यत्र हो चुका है, पर संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. 'उर्दू रूप' में खड़ीबोली का प्रचार गद्य और पद्य दोनों में हो रहा था और वह दिन-दिन वृद्धिलाभ भी कर रही थी। यह आदर्श हिन्दी के विद्वानों के समक्ष था।

२. लोक-रचनाओं में खड़ीबोली का खूब व्यवहार हो रहा था। इससे उसका प्रवेश साहित्य में भी सरल हो गया था।

३. स्कूलों में शिक्षा का माध्यम खड़ीबोली निर्धारित हो जाने से उसकी सर्वप्रियता बढ़ रही थी।

४. अंग्रेज कर्मचारियों को शासन चलाने के लिए यहाँ की जिस भाषा को सीखना पड़ा वह खड़ीबोली (हिन्दुस्तानी) थी। इससे उसकी उपादेयता बढ़ रही थी।

५. बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना ने कांग्रेस तथा अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं को जिस देशी बोली में कार्रवाई करने का प्रोत्साहन दिया, अथवा आर्य-समाज, ब्राह्मसमाज तथा ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म प्रचार के लिए जिस भाषा को अपनाया, जिससे कि उस भाषा की लोक प्रियता बढ़ी, वह खड़ीबोली ही थी।

६. विदेशी प्रभाव से ज्ञान-विज्ञान की चरचा खड़ीबोली के माध्यम से व्यक्त होने लगी थी। इससे वह चैतन्यगति से सबके हृदय को चुरा-कर चल रही थी।

७. खड़ीबोली उर्दू रूप में, जब अंग्रेजों द्वारा राजनीतिक चातुर्यवश कच-हरियों की भाषा बना दी गई, तब हिन्दी का सर्वस्व नष्ट होता देख हिन्दी के विद्वान खड़ीबोली को साहित्य के सम्पूर्ण अंग (गद्य और पद्य) की भाषा बनाने की ओर अग्रसर हुए।

८. पाठशालाओं में हिन्दू लड़के सुविधा की दृष्टि से दोहरी मेहनत बचाने के लिए उर्दू लेना अधिक पसन्द करते थे, क्योंकि उसके गद्य और पद्य की भाषा एक थी। यह परिस्थिति भी खड़ीबोली को गद्य और पद्य की भाषा बनाने में सहायक हुई।

९. ब्रजभाषा का काल समाप्त हो चुका था। उसका क्षेत्र स्वयं संकुचित होता जा रहा था। उसकी सहायक शक्ति— कृष्णभक्ति, संगीत तथा राजदरबार का ह्रास हो रहा था।

१० ब्रजभाषा के शब्दों में एक-रूपता न होने से भाषा बड़ी अव्यवस्थित हो रही थी। लोग उससे घबड़ा उठे थे।

११. बाह्य प्रभाव से हमारे साहित्य में जिन नवीन प्रगतिशील भावनाओं का प्रवेश हो रहा था ब्रजभाषा सफलतापूर्वक उनके निर्वाह में अस-मर्थ थी। ब्रजभाषा में अब भी कृष्णभक्ति और शृंगाररस का चित्र ही ठीक से उतर रहा था, जिनकी आवश्यकता नहीं थी।

उपर्युक्त सामाजिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ ही खड़ी-बोली को काव्यभाषा बनाने में समर्थ हुईं। यदि ये परिस्थितियाँ कारण न होतीं तो खड़ीबोली, जिसकी आन्तरिक श्रेष्टता तथा भाषा-वैभव उस समय ब्रजभाषा से न्यून था, कभी भी ब्रजभाषा को अपदस्थ न कर सकती। पर,

खड़ीबोली कविता के माध्यम के लिए चाहे कितनी ही अशक्त और कर्णकटु थी, जब उसका प्रवेश गद्य में हो चुका था, लोगों की रुचि उसके अनुकूल थी और देश के नगरों की बहुसंख्यक जनता द्वारा वह बोली जाती थी तो उसकी विजय निश्चित थी। इन्हीं सामाजिक बातों ने इस द्वन्द्व का निर्णय खड़ीबोली के पक्ष में किया।

इस विवाद का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव

प्रधान रूप से इस विवाद का अन्त लगभग छायावादी प्रवृत्तियों के विरोध की समाप्ति के साथ-साथ हुआ। तदनन्तर जो कभी-कभी ब्रजभाषा और खड़ीबोली के गुणावगुण की आलोचना उनके अभिभावकों द्वारा हम पाते हैं, उसका इस विवाद से सीधा सम्बन्ध अब नहीं है। ब्रजभाषा के प्रेमी अब स्वप्न में भी यह आशा नहीं कर सकते कि ब्रजभाषा खड़ीबोली को ढकेल कर उसका स्थान ले सकेगी। खड़ीबोली प्रादेशिक भाषा ही नहीं है, भारत की राष्ट्रभाषा बनने का सौभाग्य भी उसको प्राप्त हो चुका है। दूसरी ओर, जब तक ब्रजभाषा एक जीवित भाषा है तब तक उसको साहित्य से नितान्त पृथक करने का खड़ीबोली के विद्वानों का प्रयास करना भी हानिकर है। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के पृथक्करण की भावना वहीं तक श्रेयस्कर है, जहाँ तक वह हिन्दी के संगठन में बाधक नहीं है। जब हम इस सत्य को स्वीकार कर चुके कि हिन्दी साहित्य की नींव ब्रजभाषा पर है, तब ब्रजभाषा की निन्दा ही किए जाना उचित नहीं है। फिर उसका अतीत हिन्दी साहित्य के लिए अत्यन्त मूल्यवान और गौरवपूर्ण है।

वह परिस्थिति अवश्य नाजुक थी, जब काव्यभाषा के लिए यह विवाद छिड़ा। उस समय खड़ीबोली के प्रेमी विद्वान ब्रजभाषा में काव्य-रचना को पूर्णतया असामयिक बताकर यदि उसका बहिष्कार कर रहे थे तो किसी अंश तक वह क्षम्य था। उस समय दोनों भाषाओं में रचना करने का समान प्रोत्साहन देकर अथवा 'भाव अनोखे चाहिए भाषा कोऊ होय' की छूट देकर, न तो गद्य और पद्य के माध्यम की भाषा को ही एक किया जा सकता था, और न हिन्दी साहित्य के उत्कर्ष में वृद्धि की ही सम्भावना की जा सकती थी। इससे 'दो मुल्लों की मुर्गी हराम' वाली कहावत चरितार्थ होती। कोई उसे खड़ीबोली की ओर घसीटता और कोई ब्रजभाषा की ओर। फल यह होता कि कविता की उन्नति जहाँ की तहाँ ही रुकी रह जाती। किन्तु, अब यह विवाद समाप्त हो चुका है और खड़ीबोली भलीभाँति काव्य में प्रतिष्ठित

हो चुकी है, इसलिए ब्रजभाषा के प्रति संघर्ष-कालीन कठोर दृष्टि को बनाए रखना वांछनीय नहीं है। उसमें अब जो रचनाएँ हो रही हैं उनका इस दृष्टि से विरोध करना कि खड़ीबोली को छोड़ उसमें रचनाएँ क्यों की जाती हैं, संगत नहीं है।

इस विवाद से आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में किसी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ। खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वानों ने सैद्धान्तिक विरोध का जो स्वस्थ तरीका अपनाया उसका प्रतिफल आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों के लिए लाभकर हुआ है। वे कोरे अपने मत के प्रचार में ही नहीं लगे रहे। उन लोगों ने अपने मत की पुष्टि के निमित्त सोत्साह काव्य-भूमि को एक एकसार बनाया और उसमें शक्तिशाली बीज डाला। उनके इस सत्प्रयत्न का फल यह हुआ कि ठोस काव्य निर्माण द्वारा खड़ी-बोली काव्य-साहित्य की उन्नति जो तीस-चालीस वर्षों (१६०१–४० ई०) के अल्पकाल में हुई वह आश्चर्यजनक है। ब्रजभाषा को इस प्रकार की उन्नति शताब्दियों में प्राप्त हो सकी थी। इसके सिवा, इस विवाद ने विद्वानों को अपने विचारों द्वारा हिन्दी काव्य-साहित्य के मन्थन का एक सुअवसर भी प्रदान किया था।

इस विवाद से हिन्दी साहित्य का एक बड़ा हित यह हुआ कि प्रारम्भ में खड़ीबोली (उर्दू शैली में) जो कुछ हिन्दुओं द्वारा मुसलमानी भाषा मान ली गई थी[1], इसलिए कि मुसलमानों ने इसे अपना-सा करके उठाया

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'भारतीय-हिन्दी-परिषद्' में अपने भाषण के द्वितीय भाग में इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> 'शुरू-शुरू में खड़ीबोली मुसलमानों की भाषा मानी जाती थी।··· बाद में जाग्रत् हिन्दू लेखकों ने इसे इस गुण से मुक्त किया।'
>
> 'अमृत-पत्रिका', ११ अप्रैल, १६५३, पृ० ४, स्तम्भ ७

तथा,

पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है कि—

'केवल कुछ ही लोगों ने जिनका सम्पर्क शाही-दरबारों से ही विशेष था, खड़ीबोली का प्रयोग किया है।···खुसरो आदि ने खड़ीबोली का उप-योग काव्य-क्षेत्र में भी प्रारम्भ किया, किन्तु उनका अनुकरण अन्य हिन्दू

था, वह हिन्दी गद्य और पद्य दोनों में अपनाई जाकर तजोदीप्त हो उठी। ब्रजभाषा-पक्ष के कवि हिन्दी तथा हिन्दू-संस्कृति की रक्षा के नाम पर इस 'यावनीभाषा' को अपनाने के लिए बिलकुल तैयार न थे। वे इसीसे काव्य-भाषा के इस परिवर्तन को 'क्रान्तिकारी' मानते तथा परिवर्तन चाहने वाले खड़ीबोली के विद्वानों को 'रेडिकल'[१] कहते थे। पर, इस विवाद का प्रतिफल यह हुआ कि जो खड़ीबोली प्रायः 'इस्लामी' और 'ईरानी संस्कृति' को 'उर्दू शायरी' तथा 'रेखता' के रूप में दीर्घकाल से व्यक्त करती आ रही थी और देश की वास्तविक सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक परम्परा से वंचित हो रही थी, वह पद्य में भी हमारी आशा-आकांक्षाओं को प्रदर्शित करने वाली भाषा बन गई। अब उसका भण्डार शक्तिशाली जातीय साहित्य से भर रहा है।

इसके अतिरिक्त, ब्रजभाषा के काव्यक्षेत्र से हट जाने से रीतिकालीन परम्परा (दरबारी-प्रवृत्ति) से जो नाता टूटा वह हिन्दी साहित्य के लिए एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कदम सिद्ध हुआ। आधुनिक युग की राजनीतिक उथल-पुथल, आर्थिक-विषमता, सामाजिक-सुधार आदि हिन्दी साहित्य में एक नव चेतना को जन्म दे रहे थे। ऐसे समय में नारी-सौन्दर्य के स्थूल और उत्तेजक वर्णन, अन्तःपुर की अनोखी सूझ तथा अतिशयोक्ति की बेजोड़ उक्तियाँ जो सुकवि बनने के लिए बहुत कुछ 'रस्म-अदायगी' के लिए ब्रजभाषा में लिखी जा रही थीं वह एक अनैसर्गिक काव्य-व्यापार-सा प्रतीत हुआ। लोग इस शृंगार-सौन्दर्य से ऊब गए थे।

वर्तमान युग में स्त्रियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। वे अब न वासना-तृप्ति की साधन हैं और न इतनी सुकुमार कि 'गुलाब की पंखुरी से पैर घिसे जाने पर छाले पड़ जाएँ'। अब तो वे शक्ति-रूपा, वीर-प्रसवनी सुगृहणी हैं। वे हमारे उच्च कार्यों में सहयोग देने वाली कर्त्तव्य, करुणा,

लेखकों या कवियों ने नहीं किया।'

'हिन्दी साहित्य का इतिहास', १९३७ ई०,
पृ० ५४१, ५४२

१. श्री कृष्णशंकर शुक्ल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९९३ वि०, पृ० १७१

दया, क्षमा, प्रेम आदि की देवी हमारे आदर और श्रद्धा की पात्र हैं।[1] इन भावनाओं की अभिव्यक्ति 'भारत गीत', 'भारत भारती', 'वीरपञ्चरत्न', 'स्वप्न' 'मिलन', 'कामायनी', 'यशोधरा', 'वैदेही बनवास' आदि खड़ीबोली की रचनाओं में हुई है। ब्रजभाषा को भी आज की ही दृष्टि से नारी को देखना था। परिस्थितियाँ युगों को जन्म देती हैं और युगीन कवियों के कण्ठ में परिस्थितियों के गान मुखरित होते हैं। ब्रजभाषा इस सिद्धान्त से दूर जा पड़ी। लोक-रुचि का प्रतिनिधित्व उसके हाथ से निकल गया। ब्रजभाषा के विरोधी विद्वानों ने इस विवाद में प्रधानतः इसी बात पर जोर दिया और इसी को दिखलाया है। अतः काव्यक्षेत्र से ब्रजभाषा के हट जाने से, खड़ीबोली द्वारा साहित्य में नारी की सामाजिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ, उससे हिन्दी साहित्य में एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति हुई है।

इस विवाद में काव्य की प्राचीन प्रवृत्तियों का विरोध होने से नवीन-विचारधारा को बल मिला। एक ओर सामाजिक तथा राष्ट्रीय कविता का गौरव बढ़ा, और दूसरी ओर छायावादी तथा प्रगतिवादी रचनाओं का स्वागत हुआ। कहने के लिए तो उस समय खड़ीबोली की कविता के लिए यह कहा गया कि 'कविता इधर से उधर लतियाई जारही है—वियोगीहरि,'[2] पर ब्रजभाषा में यह शक्ति नहीं थी कि वह प्रधानतः स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को ठीक से अपने में बाँध सकती। इसीसे जहाँ खड़ीबोली ने इन प्रवृत्तियों को ग्रहण कर हिन्दी-कविता में युगान्तर उपस्थित किया, वहाँ प्रच्छन्न रूप से ये प्रवृत्तियाँ भी उसको काव्यभाषा बनाने में सहायक हुईं।

इसके सिवा, ब्रजभाषा की धार्मिक तथा शृंगार-परक प्रवृत्ति खड़ीबोली की सामयिक भावनाओं के समादर से पूरा-पूरा मेल न खा रही थी। गद्य

---

१. 'अहो पूज्य भारत - महिलागण, अहो आर्यकुल - प्यारी।
अहो आर्य-गृह-लक्ष्मी-सरस्वती, आर्य-लोक उजियारी॥
अहो आर्य मर्याद-स्रोतिनी, आर्य हृदय की स्वामिनि।
आर्य ज्योति, आर्यत्वद्योतिनी, आर्य-वीर्य-घन-दामिनि॥
× × ×
तुम हो शक्ति अजेय विश्व की, आर्य अमोघ बलधारिणी॥'

'श्रीधर पाठक'—भारत गीत : सतीसमाज, पृ० ११३
(शैलकुमारी—आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, पृ० ५१)

२. 'सम्मेलन पत्रिका', १६७८ वि०, पृ० १३८

(खड़ीबोली) में हम जिस ज्ञान-विज्ञान की बातों, समाज की समस्याओं, देश-विदेश की राजनीतिक गुत्थियों, मानव-हृदय की भावनाओं को प्रकट कर रहे थे उनका सामञ्जस्य पद्य में स्थापित न हो रहा था। आवश्यकता यह थी कि हमारी विचारधारा गद्य और पद्य में समान रूप से प्रवाहित हो। यही कार्य इस विवाद द्वारा सम्पन्न हुआ हम पाते हैं। गद्य और पद्य की भाषा एक बन जाने से इन दो-मुखी प्रवृत्तियों का भी अन्त हो गया जिनका किसी भी समुन्नति चाहने वाली भाषा में रहना ठीक नहीं था।

यह न समझना चाहिए कि ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस विवाद ने ब्रजभाषा के प्रति लोगों के हृदय में घृणा का भाव भर दिया था, बल्कि परिणाम यह देखा जाता है कि लोग उसके माधुर्य गुण तथा काव्य-योग्यता के कायल हो गए। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि उसकी साहित्यिक सम्पदा हिन्दी की निधि है, जिसका संरक्षण होना आवश्यक है। संरक्षण इस भाव में कि उसके साहित्य का अध्ययन, प्रकाशन, शोधकार्य आज भी विद्वानों द्वारा अपेक्षित है। इस दिशा में डा० नगेन्द्र द्वारा 'देव की कविता का अध्ययन', डा० भागीरथ मिश्र द्वारा 'हिन्दी काव्य शास्त्र का अध्ययन' आदि सत्प्रयत्न दिखलाई दे रहे हैं।

इस विवाद का प्रभाव भाषा और छन्द पर भी पड़ा है।

इस विवाद ने शुद्ध खड़ीबोली लिखने के लिए कवियों को सचेत और सतर्क कर दिया। भाषा का शुद्ध रूप व्यवहृत होने से कविता सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ दूर हो गई और वह सरल और सुबोध प्रतीत होने लगी। किन्तु भाषा को शुद्ध बनाने की इस धुन ने कवियों को शब्दों के तत्सम रूप के प्रयोग की ओर अधिकाधिक आकर्षित किया। शब्दों के तद्भव रूप को वे ब्रजभाषा की सम्पत्ति मानकर उसीके लिए सुरक्षित मानते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली का विकास ब्रजभाषा के आदर्श पर नहीं हुआ। वह संस्कृताश्रित हो गई। आवश्यकता तो यह थी कि तद्भव शब्द जो हिन्दी की प्राणशक्ति हैं प्रचुरता के साथ समान रूप से गद्य और पद्य में प्रयुक्त होते जिससे उसमें आत्मनिर्भरता आती और वह ब्रजभाषा के सन्निकट भी बनी रहती।

खड़ीबोली के काव्य-क्षेत्र में गृहीत होने से छन्द का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। नवीन छन्दों के प्रवेश से प्रत्येक प्रकार के भाव सरलता से व्यक्त होने लगे जिससे पद्य-भाग समृद्ध हो गया।

इस विवाद का प्रभाव अन्ततोगत्वा गद्य पर भी पड़ा। खड़ीबोली के पद्य की भाषा बन जाने से गद्य में उसका रूप और भी दृढ़ एवं स्थिर हो गया। भाषा सम्बन्धी निरंकुशताओं, अशुद्धियों और व्याकरण के अतिक्रमणों की जो कड़ी आलोचना की गई उससे गद्य का एक परिनिष्ठित रूप बनने लगा।

गद्य और पद्य के माध्यम की भाषा एक हो जाने से उसके पठन पाठन में भी वृद्धि हुई। पाठशालाओं में उर्दू हिन्दू-विद्यार्थियों के लिए आकर्षण का केन्द्र अब न रह गई। एक ही साहित्य के भीतर दो भाषाओं के सीखने का प्रश्न उनके सामने से हट गया। वे अब जिस सरलता से उर्दू सीख सकते थे उतनी ही सरलता से खड़ीबोली भी सीख सकते थे।

कुछ विद्वानों ने इस ऐतिहासिक विवाद को महत्त्वहीन बतलाया है। उनका कहना है कि भाषा कवि के लिए होती है कवि भाषा के लिए नहीं होता। इस विचार की पुष्टि में उन लोगों ने कबीर के इस वचन को उद्धृत किया है—

> 'ज्यों काली - पीली धेनु दुहिया,
> एक ही छीर सों जानी है जी।'[१]

यह कथन चाहे कितना ही तर्क-सम्मत दिखलाई देता हो, पर एक ही साहित्य में दो भाषाओं के व्यवहार का सिद्धान्त गलत था। इससे हिन्दी साहित्य का हित न होकर अहित ही होता, जैसा कि श्री 'की' (keay) महोदय ने सन् १६२० ई० में चिन्ता प्रकट करते हुए लिखा था, 'हिन्दी-साहित्य के लिए दो भाषाओं का प्रयोग सौभाग्य की बात न होती।'[२]

अस्तु, यह विवाद जो गद्य और पद्य के माध्यम की भाषा को एक करने के लिए हुआ, सामयिक तथा महत्त्वपूर्ण था। इसका प्रतिफल हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों के लिए बहुत ही कल्याणप्रद हुआ है।

१. आनन्दकुमार—समाज और साहित्य, भाग १, सन् १६३८ ई०, पृ० ४३

2. 'The existence of widely divergent standard between the language of prose and that of poetry would be unfortunate in many ways and it cannot be said what the ultimate issue of this matter will be.'
'Hindi Literature,' 1920, page 105

परिशिष्ट 'अ'

होली में खड़ीबोली[1]

[नित्यानन्द]

नमो नमस्ते, सम्पादक जी ! ध्यान इधर भी है कि नहीं,
पलटी प्रकृति, हवा भी बदली, नये रँग हैं सभी कहीं।
भूल जाइये आप भले ही, पर हम भूलेंगे कैसे,
राम राम करके यह अवसर पाया है जैसे तैसे ॥ १

होली का उत्सव उमंग से मना रहे हैं सब स्वच्छन्द,
ऐसे समय मौन फिर कैसे रह सकते हैं 'नित्यानन्द'।
बजे विपंची सरस्वती की, होगी आज नई होली,
कभी किसी ने सुनी न होगी ऐसी मधुर खड़ीबोली ॥ २

पर सम्पादक जी ! यह बोली इसी बार हम बोलेंगे,
आगे से फिर उसी पुरानी भाषा में रस घोलेंगे।
आप चौंकिये नहीं, देखिए, सुनिए, इसका कारण है,
मनोविकारों के प्रवाह का वेग हुआ कब वारण है ? ३

इसका तो कहना ही क्या है, हम भाषा के भर्ता हैं,
कर्ता, धर्ता भाग्य विधाता और स्वयं ही हर्ता हैं।
उस पर अपना स्वत्व कौन-सा हमने बाकी छोड़ा है,
जो कुछ भी न करें हिन्दी के महापुरुष सो थोड़ा है ॥ ४

है हमको अधिकार कि जब जो जी में आवे करें वही,
है, बस, आज खड़ीबोली के बहिष्कार का हेतु यही।
किन्तु युक्तियाँ भी रखते हैं ठहरे जो हम भट्टाचार्य,
वयोवृद्धि के साथ हमारी बुद्धि-वृद्धि भी है अनिवार्य ॥ ५

---

१. सरस्वती, भाग १४, संख्या ३, पृ० १८१, १८२

बोलचाल की भाषा में है कविता करना खेल नहीं,
अविकृत शब्दों का छन्दों से मिलता सहसा मेल नहीं।
भारतेंदु जी तक ने इसको इसीलिए था छोड़ दिया,
हार मानकर अब हमने भी है इससे मुँह मोड़ लिया॥ ६

किन्तु कठिनता से भय करना विद्वानों को योग्य नहीं,
सत्ता और महत्ता की है कीर्ति हमारी सभी कहीं।
इसीलिए सोची है हमने युक्ति दूसरी ही इसमें,
वही कुशलता है कि काम के साथ नाम भी हो जिसमें॥ ७

अच्छा, तो अब करते हैं हम व्यक्त युक्तियों का समुदाय,
न हो खड़ीबोली में कविता, है बस यही हमारी राय।
रहते बड़े क्रियापद इसमें और छन्द छोटे होते,
तथा शब्द भी वृत्त-योग से श्रुति-कर्कश खोटे होते॥ ८

स्वयं 'ग्रियर्सन' साहब की भी है ऐसी ही राय यहाँ,
अंग्रेजों की सम्मतियों में हो सकती है भूल कहाँ!
हम ठहरे काले इस कारण हो सकते हैं सहसा भ्रान्त,
पर गोरा चमड़ा होने से ध्रुव हैं उनके सब सिद्धान्त॥ ९

अंग्रेजी सी गिटपिट बोली, है जिसका जठरत्व प्रसिद्ध,
कविता की भाषा हो सकती और हुई भी है वह सिद्ध।
किन्तु कदापि नहीं हो सकती कविता योग्य खड़ीबोली,
लगती है वह, पद्य रूप में, रसिकों को जैसे गोली! १०

हाय! कहाँ से व्रजभाषा के सिर पर आई है यह सौत,
भगिनी नहीं, सौत ही है यह और—और है उसकी मौत!
भला कहाँ तो वह रस लहरी और कहाँ यह गरलोद्गार!!
व्रजभाषे! क्या यही अन्त में होना था तुझ पर अविचार!!!११

व्रजभाषा या इसी नाम से प्रचलित भाषा में हो काव्य,
होगा वह अन्यथा सर्वथा श्रुति - कर्कश किंवा अश्राव्य।
मरी खड़ीबोली—उसमें है वह अपूर्व आह्लाद कहाँ!
तुलसी, सूर, विहारी का सा है उसमें कल नाद कहाँ॥१२

सम्पादक जी ! आप कहेंगे—"तुमने गहरी छानी है,
अथवा सठियाते जाते हो अक्ल हुई दीवानी है।
बोलचाल की भाषा में हैं कवि ही वैसे कहाँ भला—
तुलसी, सूर, विहारी का सा रखते हो जो मधुर गला ॥१३

बोलचाल की भाषा में जो है वैसा मधु-कोष नहीं,
तो यह दोष समय का ही है उसका कुछ भी दोष नहीं"।
कहें कदाचित आप और भी, रहें न इतने से ही मौन—
"हैं कविता के लिए भाव ही मुख्य और भाषाएँ गौण" ॥१४

किन्तु भूल है, क्षमा कीजिए, बड़ी भूल है यह कहना,
भाषा बिना कभी सम्भव है भावों का जीवित रहना ?
तुलसी, सूर, विहारी का तो है लेने भर को ही नाम,
किन्तु वस्तुतः वह रस वर्षण है ब्रजभाषा का ही काम ॥१५

ढीठ खड़ीबोली के तुकिये शायद यह कह उठें यहाँ—
कि—"तो भला अब ब्रजभाषा की वह रस-वर्षा गई कहाँ ?
अच्छा, ब्रजभाषा की कविता आप स्वयं ही लिख लावें,
और खड़ीबोली से उसको सरस सिद्ध कर दिखलावें" ॥१६

करें कदाचित सम्पादकजी ! स्वयं आप भी यही विवेक,
ठहरे क्योंकि खड़ीबोली के आप स्वयं भी पोषक एक।
अच्छा, इसका उत्तर सुनिए, अब ब्रजभाषा रूठ रही,
किससे भला अवज्ञा अपनी जा सकती है अधिक सही ॥१७

बस ब्रजभाषा ही भारत की है अनादि भाषा भोली,
संस्कृत भी थी पहले, पर वह थी कृषिकारों की बोली।
जब असभ्य प्राचीन आर्यगण गाते बन में श्रुति-गीत,
तब भी वहाँ इसी भाषा का होता था व्यवहार पुनीत !१८

वृन्दावन में यमुनातट पर हरि मुरली का सुर साधे—
ब्रजभाषा में ही पुकार कर कहते थे राधे - राधे।
भाषा-परिवर्तन-विषयक मत रह जाता है यहाँ विमूढ़,
इसका कारण, किन्तु नहीं, वह भक्ति-रहस्य गूढ़ है गूढ़ ॥१९

तो भी, ऐसा होने पर भी, इतना कहना सम्भव है
श्री ब्रजरानी के समान ही ब्रजवानी का गौरव है।
हाय ! उसी की यहाँ उपेक्षा इस प्रकार अब होती है,
एक ओर बैठी - बैठी वह महा मानिनी रोती है ॥२०

स्वयं खड़ीबोली की कविता सिद्ध हो चुकी है रद्दी,
काशी की श्रीमती सभा भी उसे कह चुकी है भद्दी।
अब हम अधिक कहें क्या, उसकी चर्चा में भी पातक है,
और खड़ीबोली के तुकिये सभी देश के घातक हैं ॥२१

हो भी कहीं खड़ीबोली की कविता में कुछ रस का लेश,
तो इसका कारण भी है बस प्रान्तिक शब्दों का आवेश।
इनके बदले जो संस्कृत के शब्द ठूँसते हैं इसमें,
डाटेंगे गुरुवत् हम उनको भाषा विकृत न हो जिसमें ॥२२

प्रेमयुक्त, पर घन - गर्जन से कहते हैं हम पुनः यही
ब्रजभाषा में ही कविता हो और विषय ऋतु आदि वही !
तथा छन्द भी वही पुराने, हुआ बहुत जिनका व्यवहार,
वृत्तों की भिक्षा को क्यों हम जावेंगे संस्कृत के द्वार !२३

सम्पादक जी ! ब्रजभाषा में लिखा गद्य भी जाय कहीं,
ऐसा हो तो क्या कहना, फिर यह सुनना पड़े नहीं—
हिन्दी से, उस हिन्दी से, जो बनने चली राष्ट्र-भाषा,
नहीं कदापि पूर्ण हो सकती कविता विषयक अभिलाषा ॥२४

कभी दूर होगा क्या अपनी भाषा का यह दोष विभाग ?
देखें, वह दिन कब आता है, सम्प्रति आई है फाग !
कागज़ पत्र समेट लीजिए फेकी जाती रोली है,
क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, सम्पादक जी ! होली है ॥२५

परिशिष्ट 'ब'

दिमाग़ी ऐयाशी

नोट—पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'दिमाग़ी ऐयाशी' शीर्षक से एक प्रहसन 'विशाल भारत' अक्टूबर, १६२६ ई० में व्रजभाषा के विरोध में प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने व्रजभाषा पर अश्लीलता, अतिशयोक्ति, चोरी आदि का दोष लगाते हुए उसको नवयुवकों के नैतिक-पतन तथा उनमें व्यभिचार फैलाने का कारण बताया था। निम्नअंश उसी प्रहसन का सारांश है जो पुस्तक में यथास्थान न आने से यहाँ दिया जा रहा है।

अरुण नाम के एक महात्मा और मकरन्द नाम का एक नवयुवक दोनों मित्र हैं। मकरन्द बहुधा महात्मा अरुण के पास आता जाता रहता है। इधर कुछ दिनों से वह अरुण के पास नहीं आया है। अरुण को पता चलता है कि मकरन्द आजकल बीमार है। जब महात्मा अरुण मकरन्द को देखने के लिए गाँव में जाते हैं तो वहाँ उसकी स्त्री द्वारा पता चलता है कि वह कवि हो गया है, और एक विचित्र बोली में कुछ कहता-कहाता और हँसता-हँसाता रहता है। अरुण को मकरन्द की लड़की द्वारा ज्ञात होता है कि वह व्रजभाषा में कविता करता है। इस पर अरुण सहसा बोल उठते हैं, 'अच्छा रहते हैं यहाँ और बोलते हैं दो सौ कोस दूर की बोली!'

पास के एक गाँव के ज़मीदार मधुकरसिंह की बैठक में नवयुवकों की एक छोटी सी भीड़ लगी है। मकरन्द कविता सुना रहा है। सब रस में मस्त हैं। अरुण भी मकरन्द से मिलने के लिए वहीं पहुँच जाते हैं और उसकी कविता सुनते हैं। मकरन्द सुना रहा है—

'अलि हौं तो गई जमुना जल को,
    सु कहा कहौं बीर विपत्ति परी।
घहराय के कारी घटा उनई,
    इतने ही में गागरि सीस धरी॥

रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो,
'मकरन्द जू' ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहिं नन्द को बारो अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी ॥'

मकरन्द के मुँह से सवैया सुनकर अरुण को छोड़कर सब वाह-वा, वाह-वा कह उठते हैं। किन्तु अरुण चुप हैं। वह जानते हैं कि यह 'मंडन' कवि का सवैया है। 'कवि मंडन' के स्थान पर 'मकरन्द जू' जड़कर इसे अपना कर लिया है। ब्रजभाषा में इस तरह की चोरी बहुत चलती है।

लोगों के कहने पर मकरन्द फिर एक कविता सुनाता है—

'कंचन के गातन सलोनी रंग रावटी में,
हिलमिल प्रेमरस बातनि पगति है।
बचन विचित्र अति केलि के प्रसंगन के,
कानन सुनत सब जामिनि जगति है ॥
कहै 'मकरन्द' उर अधिक उमंगन सों,
मदन तरंग अङ्ग-अङ्ग उमगति है।
ह्वै करि निसंक क्यों मयंकमुखी बाल,
परजंक परि जाति पिय-अङ्क न भरति है ॥'

कुछ लोग फिर वाह-वा कह उठते हैं। अरुण कहते हैं, 'पराई स्त्रियों की कल्पित चर्चा करने में तुमको या तुम्हारे सुनने वालों को क्या लाभ पहुँच रहा है? इस काम का परिणाम क्या होगा? नौजवानों की दिमाग़ी-ऐयाशी बढ़ेगी। सब लोग अपने घर के जरूरी काम काज छोड़कर मानसिक व्यभिचार में प्रवृत्त होंगे। विषयी बनेंगे। निर्बल होंगे। स्त्रियों को कुलटा बनाएँगे।' अरुण की इस कटु आलोचना पर लोग तिलमिला उठते हैं। मकरन्द कहता है 'भाषा के बड़े-बड़े आचार्यों ने इसी प्रकार की कविता की है। क्या वे लोग मूर्ख थे'। यह सुनकर अरुण कहते हैं, 'मूर्ख तो नहीं थे। मूर्ख होते तो ऐसी कल्पना नहीं कर सकते थे। हाँ, पेट के गुलाम थे। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की कामुकता की वृद्धि की है, और उन्हें प्रसन्न करके जीविका प्राप्त की है।'

इसके बाद ब्रजभाषा के कतिपय कवियों की अतिशयोक्ति पूर्ण तथा

अश्लीलता से भरी चुन चुनकर कविताएँ उस मंडली में सुनाई जाती हैं। जैसे,

१. 'बालम विदेस ऐसी बैस में न लागी आगि,
बरि-बरि हियो उठै विरहै बयारि लै ॥
+ + +
साँझ भये भौन सँझवाती क्यों न देत आली,
छाती तें छुवाय दिया-बाती क्यों न वारि लैं ॥'

२. 'किंकिनी छोरि छिपाई कहूँ,
कहुँ बाजनी पायल पाँय ते नाई।
त्यों 'पदमाकर' पातहु के
खरके कहुँ काँपि उठै छवि छाई ॥
लाजहि ते गड़ि जात कहूँ,
अड़िजात कहूँ गज की गति भाई।
बैस की थोरी किसोरी हरे-हरे
या विधि नन्दकिसोर पै आई ॥'

इस प्रकार की और भी कविताएँ वहाँ पढ़ी जाती हैं। कविताओं को सुनकर अरुण कहने लगते हैं, 'कवि लोग....झूठ बोल रहे हैं, झूठ बोलना सिखा रहे हैं, व्यभिचार बढ़ा रहे हैं। आलस्य, उन्माद, विषय-वासना, पर-स्त्री गमन की रुचि और अविवाहिता कन्याओं के साथ दुराचार की प्रवृत्ति बढ़ा रहे हैं।....कविता द्वारा ऐसी बातों का प्रचार करो, जिससे सुनने वालों में सदाचार, सात्विक-प्रेम, विवेक, पवित्र-विनोद और आनन्द जाग्रत हो।' मकरन्द अरुण की बात सुनकर बोल उठता है, 'ब्रजभाषा में तो यही सब है'। उस मण्डली में एक उर्दू के शायर महोदय भी हैं। उनसे जब न रहा जाता है तो कहने लगते हैं, 'हिन्दी की शायरी, खासकर ब्रजभाषा की शायरी ऐसे ख्यालात से पुर है, जिनसे तहज़ीब का गला दबता है और अवाम में ऐयाशी का मर्ज़ बढ़ता है।'

मकरन्द को अपनी भूल ज्ञात होती है। वह इस रोग से छुटकारा चाहता है। उसको चिन्तित देखकर अरुण कहते हैं, 'तुम्हें क्या पड़ी है कि तुम ब्रजभाषा में ही कविता रचो। अपनी देशी बोलचाल में क्यों नहीं कुछ लिखते।'

इसके पश्चात् अरुण और मकरंद दोनों मकरंद के कविता गुरु 'बसंत' के

पास पहुँचते हैं। अरुण के पूछने पर कि उसने मकरन्द को क्यों ब्रजभाषा का कवि बनाया है? वसन्त उत्तर देते हैं, 'इनके नाश के लिए मैंने इन्हें कविता में फँसाया '......मैंने इन्हें ब्रजभाषा की कविता का मीठा विष दिया। मैंने इसके लिए रुद्रपुर के ठाकुर से इक्यावन बीघे जमीन पट्टा में पाई है। यह (मकरन्द) एक सुधारवादी विवेकशील व्यक्ति थे। इनसे ठाकुर साहब डरते थे और इनकी वजह से अपनी प्रजा पर अत्याचार न कर सकते थे। इसलिए उन्होंने मुझसे कुछ उपाय करने के लिए कहा जिससे मकरन्द बरबाद हो जाए। मेरी दवा लग गई, किन्तु मकरन्द का नैतिक-पतन पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था कि आप मिल गए नहीं तो थोड़े ही दिनों में ब्रजभाषा की कविता का दीमक इन्हें चाट जाता।

इसमें सन्देह नहीं कि 'त्रिपाठी' जी द्वारा ब्रजभाषा पर लगाए गए ये गुरु अभियोग हैं।

परिशिष्ट 'स'

दिमाग़ी दिवाला

नोट—पं० रामनरेश त्रिपाठी के उस प्रहसन के जिसका उल्लेख परिशिष्ट 'ब' में किया गया है, उत्तर में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'दिमाग़ी दिवाला' शीर्षक से एक दूसरा प्रहसन 'विशाल भारत' फरवरी, १९३० ई० में प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने ब्रजभाषा पर त्रिपाठी जी द्वारा लगाए गए दोषों का निराकरण किया है। निम्न अंश उसी प्रहसन का सारांश है।

नवयुवक मण्डली में मकरन्द ब्रजभाषा की कविता सुना रहा है। वहाँ मूसलानन्द नाम के एक स्वामी भी उपस्थित हैं। अरुण के मुख से यह सुनकर कि 'अच्छा रहते हैं यहाँ, बोलते हैं दो सौ कोस दूर की बोली।' स्वामी मूसलानन्दजी कहते हैं, 'हिन्दुस्तान में रहकर सात समुद्र पार की अँग्रेजी बोले और उसमें कविता करे, तो कोई दोष नहीं, पर संयुक्त-प्रांत (उत्तरप्रांत) में रहकर ब्रजभाषा में कविता करना महापाप और अनर्थ है!...अच्छा एक बात और बताइए अगर जौनपुर (त्रिपाठीजी का निवास स्थान) में रहकर ब्रजभाषा में बोलना गुनाह है, तो प्रयाग में बैठकर हिंदी वालों के लिए मराठी, पंजाबी, मारवाड़ी, मलयाली, तामिल, तेलगू आदि ग्राम-गीतों का संग्रह करना क्या गुनाह नहीं है?' अरुण से कोई उत्तर नहीं बन पड़ता है।

अरुण के मुख से यह सुनकर कि ब्रजभाषा में चोरी बहुत चलती है स्वामी मूसलानन्द से नहीं रहा जाता। वह कह उठते हैं, 'जनाब यह तो खड़ीबोली में भी बहुत होता है। सुनिए—

'कहते सुए पद्म से सुन्दर
ललना के हैं दृग मुख कर पद',

'स्वप्न'—पं० रामनरेश त्रिपाठी

मिलाइए तुलसीदास की रचना से—

'नव कंज लोचन कंज मुख
कर कंज पद कंजारुणम,'

और देखिए—

'रज होइ जायँ पखान पवारे,'
—'रामचरितमानस'

देखिए, त्रिपाठीजी इसे कैसे उड़ाते हैं—

'पर्वत को भी खंड-खंड कर,
रजकण कर देने को चंचल।'
—'स्वप्न'

अब कहिए यह चोरी है या सीनाजोरी!' अरुण इसको भाव की टक्कर मानते हैं, चोरी नहीं। इस पर मूसलानन्दजी कहते हैं, 'अगर त्रिपाठीजी तुलसीदास के समसामयिक होते तो यह बात हो सकती थी, पर दुर्भाग्यवश त्रिपाठीजी तीन सौ वर्ष बाद पैदा हुए, इसलिए टक्कर कहना मक्कारपन है। मैं यह नहीं कहता कि ब्रजभाषा में चोरी नहीं होती है। जैसे खड़ीबोली में होती है वैसे ही उसमें भी हो जाती है। चोरी करने से कवि बदनाम होता है, भाषा नहीं। त्रिपाठीजी के घर में चोरी हो जाए और चोर पकड़ लिया जाय, तो चोर को सजा होगी या त्रिपाठीजी के घर की?'

अरुण से जब इसका भी जवाब न बन पड़ा तो दूसरी ही बात कहने लगते हैं, 'स्त्री-पुरुष के केवल काम-सम्बन्धी अश्लील चर्चा से तुम्हें क्या लाभ?' इस पर मूसलानन्द जी कहते हैं, 'यह तो त्रिपाठी जी से पूछिए। लाभ तो उन्हें ही 'स्वप्न' लिखकर हुआ है। यदि लाभ न होता, तो वह 'स्वप्न' में क्यों लिखते—

१. 'प्रियम्बदा की पृथुल जाँघ पर'

२. 'मैं तत्काल भुजाओं में भर
बार-बार चुम्बन करता हूँ,

३. 'नित मुकुलित यौवन का चिन्तन'

४. 'अपने अधर रख दिए मैंने
उसके तरुण वर्ण अधरों पर'

यह काम सम्बन्धी अश्लील चर्चा है या योग की पवित्र क्रियाओं का वर्णन। ……यह त्रिपाठी जी की रचना है और खास खड़ीबोली में है, इसीसे शिष्टाचार का बाल बाँका न हुआ। अगर यही बातें ब्रजभाषा में होतीं तो

शिष्टाचार विना मारे मर जाता। क्यों यही बात है न ?'

अरुण बात बदलते हैं और कहते हैं कि अतिशयोक्तियों से तो ब्रजभाषा-कविता भरी हुई है। इस पर मूसलानन्द जी कहते हैं, 'पर खड़ीबोली भी तो इनसे पाक-साफ नहीं, विश्वास न हो तो आदर्श कवि त्रिपाठी जी की आदर्श पुस्तिका 'स्वप्न' का अवलोकन कीजिए। उसमें इसकी भरमार है। सुनिए—

'बार-बार चुम्बन करता हूँ
उससे जो लालिमा उमड़कर
निकल कपोलों पर आती है
क्या है वैसी उषा मनोहर।'

चुम्बन की लालिमा की भोर की लाली से बढ़कर कहना क्या अतिशयोक्ति नहीं है ?'

अरुण लज्जित हो जाते हैं। स्वामी मूसलानन्द जी उनको चुप देखकर बोल उठते हैं, 'आपकी बातों से दिमागी दिवाला हो सकता है। आपकी मनगढ़न्त बातें सुन भोले-भाले नवयुवक ब्रजभाषा से घृणा करने लगेंगे। नतीजा यह होगा कि गम्भीर साहित्य लोप होगा और टुच्चू-साहित्य बढ़ेगा, और यही आपका उद्देश्य भी मालूम होता है। आप देशी बोली में कविता करने की सलाह देते हैं, तो क्या ब्रजभाषा देशी नहीं विलायती भाषा है।'

सब लोग ब्रजभाषा का जयघोष करते घर जाते हैं।

———

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) हिन्दी-पुस्तक

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, २००७ वि०, लखनऊ विश्वविद्यालय

२. अपरा : निराला, २००३ वि०, साहित्यकार-संसद की ओर से, प्रयाग महिला-विद्यापीठ

३. आधुनिक कवियों की काव्य-साधना : राजेन्द्रसिंह गौड़, १९४८ ई०, श्रीराम मेहरा एन्ड को०, आगरा

४. आधुनिक काव्यधारा : डा० केसरीनारायण शुक्ल, २००७ वि०, सरस्वती मन्दिर काशी

५. आधुनिक कविता की भाषा : बृजकिशोर चतुर्वेदी, २००८ वि०, गया-प्रसाद एन्ड सन्स, आगरा

६. आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति : कृष्णदेवप्रसाद गौड़, १९२६ ई०, ज्ञानमण्डल, काशी

७. आधुनिक ब्रजभाषा काव्य : प० शुकदेवविहारी मिश्र, १९९६ वि०, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग

८. आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी, २००७ वि०, भारती-भण्डार इलहाबाद

९. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना :डा० शैलकुमारी, १९५१ ई० हिन्दुस्तान ऐकेडमी, इलाहाबाद

१०. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा० श्रीकृष्णलाल, हिन्दी-परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय

११. आधुनिक हिन्दी साहित्य : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९४१ ई०, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद, यूनीवर्सिटी

१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५२ ई०, हिन्दी-परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय

१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : प० श्रीकृष्णशंकर शुक्ल, १९९३ वि०, हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी

१४. उद्धवशतक : 'रत्नाकर', १९५१ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
१५. उर्दू साहित्य का इतिहास : ब्रजरत्नदास, १९९१ वि०, कमलमणि ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी
१६. उर्दू साहित्य परिचय : पं० हरिशंकर शर्मा, २००३ वि०, गयाप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा
१७. एकान्तवासी योगी : पं० श्रीधर पाठक, नवम संस्करण, १९३२ ई०
१८. कचहरी की भाषा और लिपि : चन्द्रबली पाण्डे, १९९६ वि० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
१९. कवि और काव्य : शान्तिप्रिय द्विवेदी, १९३६ ई०, इण्डियन प्रेस, लि०, प्रयाग
२०. कवितावली : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, १९८८ वि०, साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस
२१. कबीर ग्रन्थावली : बाबू श्यामसुन्दरदास, १९२८ ई०, इण्डियन प्रेस, लि०, प्रयाग
२२. कामायनी : 'प्रसाद', २००० वि०, लीडर प्रेस, प्रयाग
२३. काव्यनिर्णय : भिखारीदास, १९५३ वि०, वेंकटेश प्रेस, बम्बई
२४. कित गयौ मथुरावासी : रामनारायण अग्रवाल, २००६ वि०, लोक-साहित्य सहयोगी प्रकाशन, मथुरा
२५. खड़ीबोली आन्दोलन : संकलित बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा, सम्पादित पं० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, द्वारा
२६. खड़ीबोली का पद्य भाग १ : संग्रहकर्ता बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री, १८८७ ई०, नारायन प्रेस, मुजफ्फरपुर, बिहार
२७. खड़ीबोली का पद्य भाग २ : संग्रहकर्ता बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री, १८८९ ई० नारायन प्रेस, मुजफ्फरपुर, बिहार
२८. खड़ीबोली पद्यादर्श : श्यामजी शर्मा, १९०५ ई०, क्राउन प्रेस, मोतिहारी
२९. खड़ीबोली की कविता का संक्षिप्त परिचय : पं० रामनरेश त्रिपाठी, १९३९ ई०, हिन्दी मन्दिर प्रेस, प्रयाग
३०. ग्राम्या : 'पन्त', १९९९ वि०, भारती भण्डार, प्रयाग
३१. गुप्त निबन्धावली भाग १ : बालमुकुन्द गुप्त, २००७ वि०, हरिसन रोड, कलकत्ता

३२. घनआनन्द : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, २००६ वि०, प्रसाद परिषद्, बनारस

३३. चन्द्रकलाभानुकुमार नाटक : रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', १६०४ ई०, रसिक समाज, कानपुर

३४. चाबुक : निराला, कला मन्दिर, दारागंज, प्रयाग

३५. चिन्तामणि भाग २ : पं० रामचन्द्र शुक्ल, २००२ वि०, सरस्वती मन्दिर, काशी

३६. छायावाद : डा० रामरतन भटनागर, १६४७ ई०, किताब महल, इलाहाबाद

३७. छायावाद का पतन : डा० देवराज, १६४७ ई०, वाणी मन्दिर प्रेस, छपरा

३८. छायावाद की रूपरेखा : बिसाहूलाल सर्राफ, १६४२ ई०, एजुकेशनल बुक डिपो, जबलपुर

३६. जादूगरनी : हरिकृष्ण प्रेमी, १६३२ ई०, सस्ता-साहित्य मण्डल, अजमेर

४०. टहर तो नानी : पं० जगन्नारायणदेव शर्मा 'कवि पुष्कर', १६६३ वि०, गुप्त ब्रादर्स बनारस

४१. तरंगिणी : पं० किशोरीदास वाजपेयी, १६६३ वि०, सुन्दर साहित्य, सदन, हरिद्वार

४२ दक्खिनी हिन्दी : डा० बाबूराम सक्सेना, १६५२ ई०, हिन्दुस्तान ऐकेडेमी, प्रयाग

४३. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १६६० वि०

४४. द्विवेदी काव्यमाला : संग्रहकार देवीदत्त शुक्ल, १६४० ई०, इण्डियन प्रेस, लि०, प्रयाग

४५. द्विवेदी मीमांसा : प्रेमनारायन टण्डन, १६३६ ई०, इण्डियन प्रेस, लि० प्रयाग

४६. दिव्य दोहवली : अम्बिकाप्रसाद वर्मा, 'दिव्य', १६६३ वि०, गयाप्रसाद वर्मा, टीकमगढ़

४७. दुलारे दोहावली : दुलारेलाल भार्गव, १६६२ वि०, गंगा पुस्तक माला लखनऊ

४८. देव और बिहारी : कृष्णविहारी मिश्र, १६८२ वि०, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ

४९. दीपशिखा : महादेवी वर्मा, १९४६ ई०, किताबिस्तान, इलाहाबाद
५०. नज़ीर (महाकवि) : रघुराजकिशोर, १९२२ ई०, हरिदास एन्ड को०
५१. पं० नथाराम : श्रवण चरित, स्वामी प्रेस, मथुरा
५२. नवयुग काव्य : ज्योतिप्रसाद मिश्र, १९९५ वि०, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
५३. नागरी अभिशाप : चन्द्रबली पाण्डे, २००२ वि०, विद्यामन्दिर प्रकाशन ग्वालियर
५४. निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट : गोपाल पुरोहित, २००६ वि०, हिन्दी साहित्य समाज, लखनऊ विश्वविद्यालय
५५. निबन्ध नवनीत भाग १ : प्रतापनारायण मिश्र, १९१९ ई०, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग
५६. पथिक : पं० रामनरेश त्रिपाठी, १९४३ ई०, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग
५७. पद्माकर पंचामृत : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, १९९२ वि०, रामरत्न पुस्तक भवन, काशी
५८. पद्मप्रसून : हरिऔध, १९८२ वि०, हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहरिया सराँय
५९. पद्मपराग भाग १ : पद्मसिंह शर्मा, १९८६ वि०, भारती पब्लिशर, मुरारपुर
६०. परिमल : 'निराला', २००७ वि०, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ
६१. पल्लव : 'पन्त', १९४२ ई०, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग
६२. प्रगतिवाद : शिवदानसिंह चौहान, १९४६ ई०, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद
६३. प्रताप समीक्षा : प्रेमनारायण टण्डन, १९३९ ई०, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
६४. प्रताप पीयूष : रमाकान्त त्रिपाठी, १९३३ ई०, सिटी बुक हाउस, कानपुर
६५. प्रबन्ध पद्म : 'निराला', १९९१ वि०, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
६६. प्रबन्ध प्रभाकर : बाबू गुलाबराव, १९३४ ई०, हिन्दी भवन, अनारकली लाहौर
६७. प्रियप्रवास : हरिऔध, १९२१ ई०, खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर
६८. पुष्पाँजलि भाग १; श्यामबिहारी मिश्र, १९१५ ई०, इंडियन प्रेस, प्रयाग

६९. पूर्ण संग्रह : रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', १९८२ वि०, संग्रहकर्त्ता लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, गंगापुस्तकमाला, कार्यालय, लखनऊ
७०. फोर्ट विलियम कालेज : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, २००४ वि०, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी
७१. बिहारी सतसई : पद्मसिंह शर्मा, १९९१ वि०, काव्य कुटीर, बिजनौर
७२. बुद्धचरित : पं० रामचन्द्र शुक्ल, १९७६ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
७३. बोलचाल : हरिऔध, १९२८ ई० खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर
७४. भ्रमरगीत सार : प० रामचन्द्र शुक्ल, २००४ वि०, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
७५. भारत की भाषा : स्वामीनाथ शर्मा, १९४७ ई०, नालन्द प्रकाशन, बम्बई
७६. भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ : सुनीतिकुमार महोपाध्याय, १९५१ ई०, हिन्दी भवन, इलाहाबाद
७७. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९५४ ई०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७८. भारत विनय : पं० श्यामविहारी मिश्र, १९१६ ई०, मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति
७९. भारतेन्दु युग : डा० रामविलास शर्मा, युगमन्दिर, उन्नाव
८०. भारतेन्दु नाटकावली भाग १, : ब्रजरत्नदास, १९९२ वि०, रामनारायनलाल, इलाहाबाद
८१. भारतेन्दु ग्रंथावली : ब्रजरत्नदास, १९९१ वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
८२. भोजपुरी ग्रामगीत : कृष्णदेव उपाध्याय, २००० वि०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
८३. मकरन्द : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रथम संस्करण, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
८४. मतिराम ग्रंथावली : कृष्णविहारी मिश्र, १९८३ वि०, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
८५. मन की लहर : प्रतापनारायण मिश्र, १९१४ ई० खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर

८६. माधवी : डा० गोपालशरण सिंह, १६३८ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
८७. मिट्टी की ओर : रामधारी सिंह 'दिनकर', १६४६ ई०, उदयाचल, पटना
८८. मिश्रबंधु विनोद : मिश्रबंधु, १६७० वि०, हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मंडली, खँडवा
८६. मुकुल : सुभद्राकुमारी चौहान, १६४४ ई०, सुषमा साहित्य मंडल, जबलपुर
६०. मुगल बादशाहों की हिन्दी : चन्द्रबली पांडे, १६६७ वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
६१. मेघनाथवध (अनु०) : मैथिलीशरण गुप्त, १६२७ ई०, साहित्य प्रेस, चिरगाँव
६२. यामा : महादेवी वर्मा, १६४७ ई०, किताबिस्तान, इलाहाबाद
६३. युग और साहित्य : शांतिप्रिय द्विवेदी, १६४१ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
६४. रसकलस : हरिऔध, २००८ वि०, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
६५. रसज्ञ रंजन : महावीरप्रसाद द्विवेदी, २००६ वि०, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
६६. राजस्थान का पिंगल साहित्य : पं० मोतीलाल मेनारिया, १६५२ ई०, हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर
६७. रानी केतकी की कहानी : इंशाअल्लाह खाँ, २००२ वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
६८. रावण महाकाव्य : हरदयालु सिंह, १६५२ ई०, आत्माराम एण्ड संस, देहली
६६. रोमान्टिक साहित्यशास्त्र : देवराज उपाध्याय, १६५१ ई०, आत्माराम एन्ड संस, देहली
१००. लावनी ब्रह्मज्ञान : काशीगिरि 'बनारसी' १६५० ई०
१०१. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली : पर्य्यायलोचक और विचारक, १६७४ वि०, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, हरिसन रोड, कलकत्ता
१०२. ब्रजभाषा की आशा : रामनारायण चतुर्वेदी, १६३५ ई०, नारायण निकुंज, प्रयाग
१०३. ब्रजभाषा व्याकरण : पं० किशोरीदास वाजपेयी, २००० वि०, हिमालय एजेंसी, हरिद्वार

१०४. ब्रजभाषा व्याकरण : डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९३७ ई० रामनारायण लाल, इलाहाबाद
१०५. ब्रजभारती, : उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश,' १९९३ वि०, गंगा पुस्तक माला, कार्यालय, लखनऊ
१०६. ब्रजलोक संस्कृति : डा० सत्येन्द्र, २००५ वि०, ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा
१०७. ब्रजलोक साहित्य : डा० सत्येन्द्र, १९४९ ई०, साहित्य रत्न भंडार, आगरा
१०८. ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौंदर्य : प्रभुदयाल मीतल, २००७ वि०, अग्रवाल प्रेस, मथुरा
१०९. बृहद् लावनी ब्रह्मज्ञान : काशीगिरि 'बनारसी,' १९५० ई०
११०. विचारधारा : डा० अमरनाथ झा, १९४८ ई०, किताब महल, इलाहाबाद
१११. विचारधारा : डा० धीरेन्द्र वर्मा, २००१ वि०, साहित्य भवन, इलाहाबाद
११२. विचारविमर्श : महावीरप्रसाद द्विवेदी, १९९८ वि०, भारती भंडार, काशी
११३. विभूतिमती ब्रजभाषा : हरिऔध, १९९७ वि०, ब्रजसाहित्य ग्रंथमाला, वृन्दावन
११४. वीर सतसई : वियोगी हरि, १९८९ वि०, साहित्य भवन, प्रयाग
११५. शङ्कर सर्वस्व : सम्पादक हरिशंकर शर्मा, २००८ वि०, गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
११६. शेर-ओ-शायरी : अयोध्याप्रसाद गोयलीय, १९५० ई०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
११७. शेर-ओ-सुखन भाग १, : अयोध्याप्रसाद गोयलीय, १९५१ ई०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
११८. श्री ब्रजभाषा : सत्यनाराण 'कविरत्न', कारनेस प्रेस, आगरा
११९. संदर्भ-सर्वस्व : हरिऔध, १९४३ ई० ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर पटना
१२०. सम्भाषण : दुलारेलाल भार्गव, १९८५ वि०, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ

१२१. समाज और साहित्य : आनन्दकुमार, १९३८ ई०, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

१२२. समालोचनादर्श : 'रत्नाकर', १८९६ ई०

१२३. सप्तांकी प्रार्थना : लाला देवराज, १९०५ ई०, नेशनल प्रेस, अमृतसर

१२४. स्फुट कविता : बालमुकुन्द गुप्त, १९०५ ई०, भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता

१२५. स्वदेशी कुन्डल : रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण'

१२६. साहित्य सुषमा : नन्ददुलारे वाजपेयी, १९९२ वि०, तरुण ग्रंथावली, प्रयाग

१२७. साहित्यालाप : महावीरप्रसाद द्विवेदी, १९२९ ई० खंगविलासप्रेस

१२८. साहित्य की उपक्रमणिका : पं० किशोरीदास वाजपेयी, १९३२ ई०, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

१२९. साहित्य शिक्षा : पदुमलाल बख्शी, १९३७ ई०, हिन्दी ग्रन्थकार, बम्बई

१३० साहित्य, शिक्षा और संस्कृति : बाबू राजेन्द्रप्रसाद, १९५२ ई०, आत्माराम एन्ड संस, देहली

१३१. साहित्य चिन्तन : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९४९ ई०, राजस्थान प्रेस, बम्बई

१३२. साहित्य निर्माण : पं० किशोरीदास वाजपेयी, २००७ वि०, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता

१३३. साहित्य साधना और समाज : डा० भगीरथ मिश्र, १९५१ ई०, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ

१३४. सिंहावलोकन : जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, १९७४ वि०

१३५. सूरशतक : मुंशीराम शर्मा, १९४७ ई०, किशोर पब्लिकेशन हाउस, कानपुर

१३६. हमारी साहित्यिक परम्परा : पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वितीय संस्करण, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना

१३७. हृदय तरंग : बनारसीदास चतुर्वेदी १९७६ वि०

१३८. हिन्दी कविता का विकास भाग १, : आनन्दकुमार, १९४० ई०, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

१३९. हिन्दी कविता में प्रगतिवाद, : विजयशंकर मल्ल, १९४७ ई०, सरस्वती मन्दिर, प्रयाग

१४०. हिन्दी कविता में युगान्तर : सुधीन्द्र १९५० ई०, आत्माराम एन्ड संस, देहली

१४१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास: डा० भगीरथ मिश्र, २००५ वि०, लखनऊ विश्वविद्यालय

१४२. हिन्दीकाव्य में प्रकृति चित्रण : डा० किरणकुमारी गुप्ता, २००६ वि०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१४३. हिन्दी ग्रन्थमाला (मासिक पुस्तक) : नागपुर हिन्दी ग्रन्थ प्रकाशन, मार्च-अप्रैल, १९०७ ई०

१४४. हिन्दी पद्यरचना : पं० रामनरेश त्रिपाठी, १९८३ वि०, हिन्दी मन्दिर प्रयाग

१४५. हिन्दी पुस्तक साहित्य (१८६७-१९४२ ई०) : डा० माताप्रसाद गुप्त हिन्दुस्तान एकेडेमी, प्रयाग

१४६. हिन्दी बनाम उर्दू : वेंकटेश्वरनारायण तिवारी, १९३९ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१४७. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास : हरिऔध, १९९७ वि०, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय

१४८. हिन्दी भाषा : बाबू श्यामसुन्दरदास, १९४६ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१४९. हिन्दी भाषा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, १८९० ई०- खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर

१५०. हिन्दी भाषा : बाबू बालमुकुन्द गुप्त, १९६४ वि०, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता

१५१. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति : महावीरप्रसाद द्विवेदी, १९०७ ई०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१५२. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास : चतुरसेन शास्त्री, १९४९ ई०, गौतम बुक डिपो, दिल्ली

१५३. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास : बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री आदि, १८९४ ई०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

१५४. हिन्दी व्याकरण : कामताप्रसाद गुरु, १९८४ वि०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१५५. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास : बाबू गुलाबराय, २००० वि०, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा

१५६. हिन्दी साहित्य २० वीं शताब्दी, : नन्ददुलारे वाजपेयी, १६६६ वि०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१५७. हिन्दी साहित्य : पं० अवध उपाध्याय, १६३० ई०, रामनारायनलाल इलाहाबाद

१५८. हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १६५२ ई०, अत्तरचन्द कपूर, देहली

१५९. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : पं० रामनरेश त्रिपाठी, १६८० वि०, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

१६०. हिन्दी साहित्य एक अध्ययन : डा० रामरतन भटनागर, १६४८ ई०, किताब महल, इलाहाबाद

१६१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, १६६७ वि०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१६२. हिन्दी साहित्य : बाबू श्यामसुन्दर दास, २००३ वि०, इंडियन प्रेस, प्रयाग

१६३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल', १६३१ ई०, रायसाहब रामदयाल अग्रवाल, इलाहाबाद

१६४. हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, २००६ वि०, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

१६५. हिन्दुस्तानी का उद्गम : पं० रामचन्द्र शुक्ल, १६६६ वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

(ख) अंग्रेजी-पुस्तक

1. Ayeen Akbery : Translated by Gladwin, F. Swan & co., London.
2. Commercial policy of Moguls : Dr. Pant, 1930, D. B. Tarapurvala & sons, Bombay
3. Convention & Revalt in poetry : Lowes, J. L., 1930, constable & co. Ltd.
4. English critical essays 19th century, : Jones, 1950, oxford University press
5. Grammar of the Hindustani Language : Forbes, D. 1855, marston & co., London
6. Grammar of the Hindustani Language : Shakespear, J. 1826, Cox and Baylis, London
7. Hindi Literature : Keay, F. E., 1920, Heritage of India Series
8. History of Brajbuli Literature : Sukumar Sen, 1935, Calcutta University
9. History of India Vol. IV: Elliot and Dowson 1872, Trubner and co., London
10. History of Education British period: Syed Nurrullah and Naik, 1943, Macmillen & co., Calcutta
11. Indo-Aryans : Rajendra lal Mitra, 1881, Newman & co., Calcutta
12. Linguistic survey of India, Vol I, part I : Grierson, G. A., 1927
13. Nature of English poetry : Harris, L. S., 1937, Dent & co., London
14. New History of Marathas : Sardesai, G. S. 1916, Phonex Publication, Bombay
15. A Source Book of Indian Education : Paranjpe, M. R., 1938, Macmillan, Calcutta

---

(ग) रिपोर्ट

१. हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट : हिन्दुस्तान एकेडेमी, प्रयाग, १९३० ई०

२. प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी, कार्यविवरण दूसरा भाग, १९१०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

३. द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन : कार्य विवरण दूसरा भाग, १९६८ वि० सम्मेलन के स्वागत कारिणी समिति द्वारा प्रकाशित

४. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन : कलकत्ता, कार्य विवरण पहला भाग, सम्वत् १९७० वि०

५. चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन : भागलपुर, कार्यविवरण दूसरा भाग

६. पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन : लखनऊ, कार्य विवरण दूसरा भाग, १९७१ वि०

७. षष्ठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, कार्य विवरण दूसरा भाग, १९७२ वि०

८. नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बम्बई, कार्य विवरण दूसरा भाग, १९७६ वि०

९. दशम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटना, कार्य विवरण, द्वितीय भाग, स्वागतकारिणी समिति द्वारा प्रकाशित

१०. एकादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता, कार्य विवरण दूसरा भाग

११. द्वादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लाहौर, सम्वत् १९७९ वि०

१२. तेरहवाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कानपुर, १९८० वि०, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१३. अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीसवें कलकत्ताधिवेशन का कार्यविवरण, १९३१ ई०

१४. अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की २२ वीं बैठक, ग्वालियर, सम्वत् १९८९ वि०

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

पत्र-पत्रिका	विवरण
१. अमृत-पत्रिका (इलाहाबाद)	१६ अप्रैल, १९५१ ई० २३ अगस्त, १९५३ ई०
२. आलोचना (दिल्ली)	जनवरी, १९५३ ई०
३. इन्दु (काशी)	कला ४, खण्ड २, किरण २ कला ६, खण्ड १, किरण १, जनवरी, १९१५ ई० कला ६, खण्ड २, किरण २, अगस्त, १९१५ ई०
४. इण्डियन लिटरेचर (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई)	नवम्बर १, सन् १९५३ ई०
५. कवि व चित्रकार (जगतप्रकाश प्रेस, फतहगढ़)	भाग ३, अङ्क ३, सन् १८९१ ई०
६. कल्पना (हैदराबाद, द०)	फ़रवरी, १९५० ई०
७. गंगा (सुल्तानगंज, बिहार)	चैत्र, १९९२ वि० ज्येष्ठ, १९९२ वि०
८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी)	भाग ६, सन् १९०२ ई०
९. मर्यादा (अभ्युदय प्रेस, प्रयाग)	भाग १, संख्या १, नवम्बर, १९१० ई० भाग ६, संख्या १, २, ३, मई, जून, जौलाई, १९१३ ई० भाग ११, संख्या ३, सन् १९१६ ई०
१०. माधुरी (लखनऊ)	वर्ष १, खण्ड १, संख्या २, सन् १९२२ ई०

	वर्ष १, खण्ड २, संख्या ३ व ४
	वर्ष ४, खण्ड १, संख्या ५
	वर्ष ७, खण्ड १, संख्या १ व २
	वर्ष ८, खण्ड १, संख्या १ व ६
	वर्ष ८, खण्ड २, संख्या ६
	वर्ष ११, खण्ड २, संख्या ५
	वर्ष १४, खण्ड २, अङ्क २
	अप्रैल, १९४० ई०
११. मार्डन रिव्यू (कलकत्ता)	भाग ६, अङ्क ९, मार्च १९०९ ई०
१२. लक्ष्मी (गया)	मार्च, १९५३ ई०
१३. लेख संग्रह (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई)	
१४. ब्रजभारती (मथुरा)	जेष्ठ, १९९८ वि०
१५. विश्वमित्र (कलकत्ता)	वर्ष ५, खण्ड ९, अङ्क १, सन् १९३६
	वर्ष ५, खण्ड ९, अङ्क ५, सन् १९३७
	वर्ष ६, खण्ड ११, अङ्क २, नवम्बर, १९३७ ई०
१६. विशाल भारत (कलकत्ता)	भाग ८, अङ्क २, अगस्त, १९३१ ई०
	अक्टूबर, १९३४ ई०
	अप्रैल, १९४० ई०
	जून, १९४४ ई०
	फरवरी, १९४८ ई०
१७. वीणा (इन्दोर)	नवम्बर, १९३० ई०
	जनवरी, १९३४ ई०
	अप्रैल, १९३४ ई०
	सितम्बर, १९३५ ई०
	अप्रैल, १९३६ ई०
	जुलाई, १९४० ई०
	नवम्बर, १९५१ ई०

१८. समालोचक (जयपुर)	भाग १, अङ्क १, २, सन् १६०२ ई०
१६. सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग)	भाग ६, अङ्क ७, सम्वत् १६७५ वि०
	भाग ६, अङ्क ६, सम्वत् १६७८ वि०
	भाग ६, अंक ११, १२, सम्वत् १६७६ वि०
	भाग १०, अंक १, सम्वत् १६७६ वि०
	भाग १३, अङ्क ४, ५, सम्वत् १६८२ वि०
	भाग २, अङ्क २, सम्वत् १६८७ वि०— (नवीन संस्करण)
२०. सरस्वती (प्रयाग)	भाग १, संख्या ११, सन् १६०० ई०
	भाग २, संख्या १, सन् १६०१ ई०
	भाग २, संख्या २, जून १६०१ ई०
	भाग ५, संख्या २, ३, १०, सन् १६०४ ई०
	अप्रैल, १६०६ ई०
	भाग १४, खंड १, संख्या २, ३, सन् १६१३ ई०
	भाग १५, खंड १, संख्या ४, ५, सन् १६१४ ई०
	भाग २७, खंड २, संख्या १, जुलाई, १६२६ ई०
	दिसम्बर, १६३३ ई०
२१. सरस्वती सम्वाद (आगरा)	जनवरी, १६५३ ई०
२२. साहित्य पत्रिका	खंड ८, संख्या १०, जनवरी, १६१४ ई०
२३. सुधा (लखनऊ)	मार्च, १६२८ ई०
	अप्रैल, मई, १६२६ ई०
	जुलाई, १६३४ ई०
	फरवरी, १६३५ ई०, मई १६३५
	जनवरी, १६३७ ई०

२४. हिन्दी प्रदीप (प्रयाग)	नवम्बर, दिसम्बर, १९०० ई०
२५. हिन्दी सिद्धान्त प्रकाश (नागरी प्रचारिणी सभा, आरा)	अङ्क २, १९०६ ई०